प्रकाशक—
सरस्वती पुस्तक सदन,
मोती कटरा, आगरा।

प्रथम संस्करण	मूल्य ३।)	संवत् २०११

मुद्रक—
आगरा अख़बार प्रेस
आगरा।

विषय-सूची

भूमिका

खड़ी बोली के इतिहास में कविसम्राट् पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का एक महत्वपूर्ण स्थान है। जब खड़ी बोली का महाकाव्य उपस्थित करने की क्षमता में लोग संदेह कर रहे थे और उसकी खिल्ली सी उड़ाते थे तब हरिऔध जी ने प्रियप्रवास जैसा महत्वपूर्ण ग्रंथ देकर उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाया। उनकी प्रतिभा खड़ी बोली के संस्कृत गर्भित रूप को सुसज्जित और सम्पन्न बनाने में ही सीमित नहीं रही वरन् उन्होंने ब्रजभाषा को तथा खड़ी बोली के बोलचाल के रूपों को भी अपनाया। इसके अतिरिक्त हिन्दी भाषा और साहित्य नाम का ग्रंथ तथा अपने रस कलश, प्रिय-प्रवास आदि ग्रंथों की भूमिकायें लिखकर उपाध्यायजी ने अपने भाषा सम्बन्धी ज्ञान और आलोचना-शक्ति की धाक जमाई। उन्होंने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' जमाने के लिये उपन्यास के क्षेत्र को भी अलंकृत किया।

ऐसी बहुमुखी प्रतिभा सपन्न कवि के कवित्व और उनकी कवित्व-शक्ति और भाषा-ज्ञान का संक्षेप में उद्घाटन का कार्य श्री द्वारिकाप्रसाद जी ने अपनी 'कविसम्राट् हरिऔध और उनकी कला कृतियाँ" शीर्षक पुस्तक में बड़े कौशल के साथ सम्पन्न किया है। इसमें कवि के आविर्भाव काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों का बड़ा विशद और आलोकपूर्ण वर्णन किया है, जिससे कवि की कृतियों के समझने में बड़ी सहायता मिलेगी।

लेखक की आलोचना का अध्ययन अधिकतर भारतीय है। यद्यपि महाकाव्यत्व के मापदण्ड में पाश्चात्य मानों को भी स्थान दिया है। लेखक ने वैदेही बनवास की अपेक्षा प्रिय-प्रिवास में महाकाव्यत्व के गुण अधिक मात्रा में माने हैं। यह ठीक भी है। वैदेही बनवास के सम्बन्ध में लेखक ने उसके एकार्थ-काव्य होने की समस्या पर भी विचार किया है। किन्तु प्रिय-प्रवास के सम्बन्ध में इस सम्भावना पर विचार नहीं किया है। प्रिय-प्रवास के प्रकृति चित्रण के विभिन्न रूपों और अलङ्कार-योजना और शब्द-शक्तियों तथा भाषा, सौष्ठव पर अधिक मार्मिक ढंग से विचार किया है। प्रिय-प्रवास में मङ्गलाचरण के प्रभाव को लेखक ने स्वयं तो एक आधुनिकता

के रूप में स्वीकार कर लिया है। उसके आगे हरिऔध अभिनन्दन ग्रं
का एक उदाहरण दिया गया है। जिसमें बतलाया गया है कि दिवस क
अर्थ प्रकाशवाला होने के कारण यह शब्द स्वयं मंगलकारी है औ
मङ्गलाचरण का स्थान ले लेता है। यह ठीक है किन्तु दिवस का अवसान
अवसान शब्द उतना ही अमङ्गलकारी है। इसका यही परिणाम हो सकत
है कि सन्ध्या के प्राकृतिक चित्रण में प्रिय-प्रवास की बढ़ती हुई करुणा क
निर्देश है। दिवस, का अवशान वस्तु निर्देश के रूप में ही लिया ज
सकता है।

पुस्तक में हरिऔध की रीति-साहित्य की देन पर अच्छा विवेचन है। यद्यपि उन्होंने साहित्य शास्त्र को कोई बड़ी देन नहीं दी, तथापि उनकी भूमिका में रस का विवेचन बड़ा पांडित्य पूर्ण है। और उन्होंने समयानुकूल नायिका-भेद में कुछ नई उद्भावनायें की हैं। उन्होंने परम्परागत शृङ्गार वर्णन में थोड़ी नैतिकता की पूत भावना लाने का प्रयत्न किया है। श्री द्वारिका-प्रसाद जी ने ईमानदारी से यह स्वीकार किया है कि रस कलस का मूल भाग इस दावे को पूर्णतया चरितार्थ नहीं करता। फिर भी उन्होंने उदाहरणों के काव्य-सौष्ठव और उनकी अलङ्कार-योजना की व्याख्या कर रस कलश को उचित महत्व प्रदान किया है। उपाध्याय जी ने भाषा-विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान और उनकी आलोचनाओं की मार्मिकता पर भी प्रकाश डाला गया है। आलोचक महोदय ने प्रशंसनीय संतुलन से काम लिया है। यद्यपि उन्होंने उपाध्याय जी को वर्तमान हिन्दी काव्य के उन्नायकों में प्रमुख स्थान दिया है। तथापि उनकी प्रशंसा मर्यादा से बाहर नहीं हुई है। लेखक की भाषा सरल और सुलझी हुई है। उन्होंने विद्यार्थियों को उलझन में डालने का प्रयत्न नहीं किया है। विषय-प्रतिपादन शैली में स्वाभाविक क्रम और तारतम्य है जिसका पाठक के मन पर एक सुखद प्रभाव पड़ता है। आशा है इस पुस्तक का विद्यार्थी समाज में उचित मान होगा।

गोमती निवास,
आगरा।
१२-८-५४

गुलाबराय

दो शब्द

हिन्दी साहित्य की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए अहर्निशि परिश्रम करके जिन महारथियों ने हिन्दी-भारती के भंडार को समृद्ध किया है उनमें से पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" भी एक हैं। आपकी ख्याति का श्रेय 'प्रियप्रवास' तथा 'वैदेही वनवास' महाकाव्यों को दिया जाता है। इनमें से 'प्रियप्रवास' निस्संदेह आपकी ख्याति का मूलाधार है और उसकी आलोचना-प्रत्यालोचना में कितने ही विद्वान् लेखकों ने अपनी लेखनी उठाई है। परन्तु एकमात्र 'प्रियप्रवास' ही हरिऔधजी ने नहीं लिखा। उनके अन्य ग्रंथ भी उसी सफल लेखनी से अवतीर्ण हुए हैं, जिससे प्रियप्रवास की सृष्टि हुई है। फिर भी समालोचकों की दृष्टि उन ग्रंथों की ओर नहीं गई। इसी कारण आधुनिक पाठक भी हरिऔध जी के अन्य ग्रंथों की विशेषताओं से परिचित नहीं दिखाई देता। हाँ, पं० गिरिजादत्त शुक्ल "गिरीश" ने अवश्य इस ओर सराहनीय कार्य किया है और उन्होंने हरिऔधजी के उस समय तक प्राप्त सभी ग्रंथों की थोड़ी बहुत आलोचना की है। परन्तु उनका भी ध्यान विशेष-रूप से 'प्रियप्रवास' की ओर ही रहा है और अन्य ग्रंथों को केवल 'प्रियप्रवास' की पृष्ठभूमि के रूप में प्रदर्शित करते हुए उनका परिचयात्मक विवेचन ही दिया है। वे अपने इस सराहनीय कार्य के लिए अवश्य धन्यवाद के पात्र हैं।

मुझे यह आलोचना-ग्रंथ लिखने के लिए इसीलिए बाध्य होना पड़ा कि आज युग-प्रवर्तक कवियों की समग्र रचनाओं की समालोचना करके उनके मूल्यांकन द्वारा पाठकों को सचेत करने की अधिक आवश्यकता है। आज का पाठक अधिक अध्ययनशील नहीं दिखाई देता। उसे किसी लेखक की रचना पढ़ने के लिए उसी क्षण उत्सुकता होती है, जब वह समालोचकों द्वारा उस रचना के गुण-दोष जान लेता है। दूसरे किसी कवि के किसी भी काव्य का अध्ययन करने के लिए उसकी समग्र रचनायें जानना भी अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि उन्हें जाने बिना कवि का सच्चा स्वरूप समझना सर्वथा असम्भव है। एक काव्य के आधार पर किसी कवि को जानना वैसा ही है जैसे एक

पैर देखकर हाथी को स्तम्भसा-बतलाना। अतः किसी भी दिवंगत कवि का सच्चा चित्र प्रस्तुत करने के लिए आज उसकी समग्र रचनाओं की समालोचना होना अत्यंत आवश्यक है। यही सोचकर मैंने हरिऔधजी की समस्त कृतियों पर दृष्टिपात करते हुए यह अध्ययन प्रस्तुत किया है और जहाँ तक संभव हो सका है सभी उत्कृष्ट रचनायें मेरे इस अध्ययन के अंतर्गत आगई हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि उनकी फुटकल रचनाओं का विस्तृत विवेचन केवल पुस्तक के विस्तार-भय के कारण नहीं दिया जा सका है।

मेरे परमस्नेही डा० रांगेय राघव की प्रेरणा का यह फल है, जो पुस्तकाकार रूप में आज पाठकों के सम्मुख उपस्थित है। मैं इसके लिए डाक्टर साहब को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। साथ ही वयोवृद्ध एवं विद्यावृद्ध पूज्य गुलाबराय जी का भी मैं हृदय से अत्यंत आभारी हूँ, क्योंकि आपने अस्वस्थ होते हुए भी भूमिका लिखने का कष्ट उठाया है और समय-समय पर अपने सत्परामर्शों द्वारा मार्ग-दर्शन भी किया है।

एक समालोचक के कर्त्तव्य का निर्वाह कहाँ तक हो सका है, इसका विचार तो पाठक ही करेंगे। परन्तु हिन्दी की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों की कठिनाइयों का ध्यान रखकर अवश्य मैंने उन्हें सुगम बनाने का प्रयत्न किया है और हरिऔधजी की कृतियों का समूचा अध्ययन प्रस्तुत करके उनके स्वरूप को समझाने की चेष्टा की है। हो सकता है कि मेरा दृष्टिकोण दूसरों से भिन्न हो और प्रतिपादन करने में कहीं कमी भी रह गई हो। परंतु मैं सभी हिंदी-प्रेमियों से नम्र निवेदन करता हूँ कि जो कमियाँ रह गई हों, उन्हें वे मुझे बतलाने की कृपा करें, जिससे आगामी संस्करण में मैं उन्हें दूर कर सकूँ। इतना अवश्य है कि जल्दी के कारण प्रेस की असावधानी से कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं। आशा है, पाठक उनका संशोधन करके पढ़ने की कृपा करेंगे।

रक्षा बन्धन,
सं० २०११ वि०

विनीत—
द्वारिकाप्रसाद

कवि-सम्राट
"हरिऔध" तथा उनकी कला कृतियाँ

—:❀:—

१—जीवन-परिचय

रत्नगर्भा भारत भूमि में अनेक ऐसे रत्न भरे पड़े हैं, जो यद-कदा प्रस्फुटित होकर अपनी ज्योतिर्मयी आभा से संसार को चकित बना देते हैं। इन देदीप्यमान रत्नों को न किसी भव्य-भवन की आकांक्षा होती है और न किसी राजमुकुट की। ये तो 'धूल की ढेरी में अनजान' पड़े हुए ही अपने तीव्र आलोक से भूले भटकों का मार्ग-दर्शन कराते हुये अपने जीवन को सफल समझा करते हैं। बहुमूल्य होते हुये भी इन्हें अपने मूल्य का चिन्ता नहीं होती, पारदर्शी होते हुए भी इनके आलोक का पता अनायास ही नहीं लगता और सर्व-जन सुलभ होते हुये भी इनका प्राप्त करना सर्वथा कठिन होता है। लोक सेवा और लोकानुरंजन ही इनके जीवन का उद्देश्य होता है अपने तीव्रतम आलोक से अज्ञानांधकार का विनाश करना ही इनका एक मात्र कर्तव्य होता है। और त्याग तथा तपस्या की अमिट परम्परा स्थगित करना ही इनका अदर्श होता है। ये जीवन की विषम परिस्थितियों में भी निरन्तर आगे बढ़ते रहते हैं और हंसते हंसते अपने ध्येय के प्रति बलिदान हो जाने में ही गौरव समझा करते हैं। इनके आलोक की प्रत्येक किरण में देश सेवा की भावना भरी रहती है, ये सदैव समाज और जाति के लिये ही तड़पते रहते हैं तथा अपने विचारों से पतित समाज के उत्थान का मार्ग प्रशस्त करते हुए उसकी रग-रग में उज्वल-भविष्य का दृढ़ विश्वास स्थापित कर जाते हैं।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय भी देश के ऐसे ही अमर रत्न थे। आपका जन्म वैसाख कृष्ण ३ सं० १६२२ वि० में निज़ामाबाद जिला आजमगढ़ के

अन्दर हुआ था। यह निज़ामावाद, आजमगढ़ से दक्षिण पश्चिम की ओर ८ मील की दूरी पर स्थित है। उपाध्याय जी अगस्त गोत्र शुल्क यजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मण थे। आपका परिवार परोपकार तथा समाज-सेवा के लिये भारत में प्रसिद्ध है। आपके पूर्व पुरुष पं० काशीनाथ उपाध्याय मुग़ल सम्राट जहाँगीर के समय में दिल्ली के अन्दर ही रहते थे। कहा जाता है कि कुछ जातीय झगड़ों के कारण मुग़ल सम्राट दिल्ली निवासी गौड़ कायस्थों से रुष्ट हो गये और उनके समस्त परिवार को तलवार के घाट उतार दिया। सौभाग्य से इन गौड़ कायस्थों के परिवार की दो स्त्रियाँ तथा उनके बच्चे इन क्रूर मुग़लों के चंगुल से बच गये। पं० काशीराम उपाध्याय ने साहस करके इन अवशिष्ट व्यक्तियों को अपने घर में शरण दी। मुग़लों के राज्य कर्मचारियों को जब यह पता चला कि पं० काशीनाथ के यहाँ गौड़ कायस्थों के परिवार की स्त्रियाँ तथा उनके बच्चे हैं तो वे तुरन्त पंडित जी के घर पर आ धमके। साथ ही उन्हें देने के लिये आग्रह किया। परन्तु पंडित जी ने उन्हें अपने परिवार के ही व्यक्ति बतलाकर टालना चाहा। इस पर मुग़ल सम्राट ने आदेश भेजा कि यदि पंडित जी उक्त दोनों स्त्रियों के हाथ का बनाया हुआ भोजन उनके बालकों के साथ ही करें तो हम विश्वास कर सकते हैं। कि आपके यहाँ कोई भी गौड़ कायस्थों का वंशज नहीं हैं। परोपकार प्रेमी पं० काशीनाथ उपाध्याय ने ऐसा ही किया। और मुग़लों का संदेह दूर कर दिया। परन्तु जल में रहकर मगर से वैर रखना उचित न जानकर पंडित जी ने दिल्ली को छोड़कर कहीं चले जाना उचित समझा। इसी कारण सर्व प्रथम आप उत्तर प्रदेश के बदाँयू जिले में आकर रहने लगे। तत्पश्चात् जिला आजमगढ़ के अन्दर निजामाबाद में आकर बस गये अपने साथ ही उस गौड़ कायस्थ परिवार को भी निजामाबाद में ही बसा दिया। यह उपाध्याय परिवार इस कायस्थ परिवार का पुरहित था। परस्पर इतनी अधिक घनिष्टता थी कि कुछ वर्षों के बाद दोनों ही परिवार नानक-पंथी हो गये और सिक्ख धर्म स्वीकार कर लिया।[१]

(१) हरिऔध और उनका प्रिय-प्रवास—ले० कृष्णकुमार सिन्हा पृ० २

उक्त पं० काशीनाथ उपाध्याय की पाँचवीं पीढ़ी में पं० रामचरन उपाध्याय हुए, जिनमें तीन पुत्र थे—ब्रह्मासिंह भोलासिंह और बनारसीसिंह संभवतः इसी पीढ़ी में आकर यह परिवार सिक्ख-धर्मानुयायी बन गया था। पं० ब्रह्मासिंह निस्संतान थे तथा भोलासिंह जी के दो पुत्र हुए—अयोध्यासिंह तथा गुरुसेवक सिंह। अयोध्या सिंह ही बड़े थे तथा अपने लघुभ्राता गुरु-सेवक सिंह पर अत्यन्त स्नेह रखते थे। इनकी माता का नाम रुक्मिणी देवी था। ये पढ़ी लिखी थीं और इनका प्रिय ग्रंथ "सुख-सागर" था[२] पं० अयोध्यासिंह जी के पिता कुछ पढ़े लिखे न थे, किन्तु ब्रह्मासिंह जी अच्छे विद्वान और ज्योतिषी थे। अयोध्यासिंह जी पर इनका अधिक प्यार एवम् दुलार रहता था, इनकी देख रेख में ही बालक अयोध्यासिंह की शिक्षा-दीक्षा भी हुई। दो वर्ष तक तो ये घर पर ही पढ़ते रहे, तत्पश्चात् सात वर्ष की अवस्था में निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल में इन्हें भेज दिया गया। स्कूल में पढ़ते रहने पर भी पं० ब्रह्मासिंह इन्हें घर पर संस्कृत पढ़ाया करते थे। स्कूल में विशेष रूप से फारसी की शिक्षा दी जाती थी। अन्त सं० १६३६ वि० में अयोध्या सिंह जी ने मिडिल की परीक्षा बड़े सम्मान के साथ उत्तीर्ण की जिससे इन्हें छात्रवृति भी मिलने लगी। अब इन्हें क्वीन्स कॉलेज बनारस में अङ्गरेजी की शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा गया। परन्तु काशी में आकर अयोध्यासिंह जी का स्वास्थ्य प्रायः खराब रहने लगा। अंत में इन्हें घर पर ही लौट आना पड़ा और अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। इस अंग्रेजी शिक्षा के अभाव की पूर्ति आपने फारसी संस्कृति तथा बँगला के विस्तृत अध्ययन से की। आपने घर पर ही पं० ब्रह्मासिंह जी से संस्कृति के उच्चकोटि के ग्रंथों का अध्ययन किया, स्व० मुन्शीराम जी से फारसी के सिकन्दर नामा वहारदानिश' दीवान गनी, और दीवान हाफिज़ आदि ग्रंथों का अध्ययन किया और श्री तारिणीचरण मित्र से बँगला का समुचित ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार घर पर रहकर ही आपने संस्कृत, फारसी तथा बँगला जैसी समुन्नत भाषाओं का विस्तृत अध्ययन करके उच्च-कोटि की योग्यता प्राप्त की।

(२) महाकवि हरिऔध पृ० ५२

जिस समय आप बनारस से लौटकर घर पर ही अध्ययन कर रहे थे, उसी समय निजामाबाद के एक प्रतिष्ठित नानकपंथी साधु बाबा सुमेर-सिंह जी से भी आपका संबंध होगया। बाबा सुमेर सिंह जी के यहाँ नित्य संध्या के समय कवि-गोष्ठी तथा भजन-कीर्तन आदि हुआ करते थे। अयोध्यासिंह जी भी उनके यहाँ जाने लगे और वहाँ पर होने वाली समस्या पूर्तियों में भी धीरे-धीरे भाग लेने लगे।[1] सच पूँछा जाय तो बाबा सुमेर सिंह ही आपके कविता गुरु थे। बाबा सुमेर सिंह ने कविता के अंतर्गत अपना उपनाम 'हरि सुमेर' रखा था, उन्हीं के अनुकरण पर अयोध्यासिंह जी ने भी अपना उपनाम "हरिऔध" चुना। इतना ही नहीं इनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर बाबा सुमेर सिंह जी ने अपने पुस्तकालय के ग्रंथों को अध्ययन करने की इन्हें आज्ञा दे दी। यहीं पर हरिऔधजी ने बा० हरिश्चन्द्र के साप्ताहिक पत्र 'कवि-वचन-सुधा', उनकी "हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' तथा अन्य मनोहर ग्रंथों का अध्ययन किया और इन्हीं के प्रभाव से सबसे पहले हरिऔध जी की रुचि हिन्दी-साहित्य के भंडार को अपनी रचनाओं से भरने के लिए हुई।[2]

सं० १९३९ वि० में हरिऔध जी का विवाह बलिया जिले के अन्दर सिकन्दरपुर ग्राम के निवासी पं० विष्णुदत्त मिश्र की सौभाग्यवती कन्या अनन्तकुमारी के साथ हुआ। आपका पारिवारिक जीवन आर्थिक दृष्टि से बड़ा ही संकटमय था। इसी संकटमय विषम स्थिति ने आप को नौकरी करने के लिए बाध्य किया। सर्वप्रथम आपने सं० १९४१ वि० में स्थानीय तहसीली स्कूल में अध्यापक का कार्य करना प्रारम्भ किया। अध्यापन करते हुए ही सं १९४४ में आप नार्मल स्कूल की परीक्षा में प्रथम श्रेणी के अन्दर उत्तीर्ण हुए। इतना ही नहीं कुछ ही दिनों में आपने कानूनगो की परीक्षा भी पास की और सं० १९४६ में गिरदावर कानूनगो के स्थान पर कार्य करने लगे। अपनी सचाई और ईमानदारी के कारण अंत में आप

(१) हिन्दी साहित्य का इतिहास—ले० पं. शुक्ल पृ. ५८३।
(२) महाकवि हरिऔध—पृ० ७२

सदर कानूनगो भी होगये। इस तरह लगातार बीस वर्ष तक सरकारी नौकरी करते समय अपनी कार्य-कुशलता तथा कर्त्तव्यपरायणता से सभी आफीसरों को विमुग्ध करके सं० १९८० में अपने सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण किया। उसी समय भाग्यवश आपके लिए एक उचित अवसर आ उपस्थित हुआ। काशी विश्व-विद्यालय में हिन्दी की उच्च शिक्षा के लिए एक सुयोग्य अध्यापक की आवश्यकता थी। विश्व-विद्यालय ने इस कार्य के लिए आपसे अनुरोध किया। आपने अपनी स्वीकृत देते हुए सहर्ष अवैतनिक सेवायें प्रस्तुत करने का निश्चय किया और लगभग २० वर्ष तक अपनी योग्यता और विद्वत्ता का परिचय देते हुए विश्व-विद्यालय में अध्यापन का कार्य किया। इस समय आपका यश सारे भारत में व्याप्त हो चुका था। आपकी रचनाओं से विमुग्ध होकर हिन्दी जगत ने आपको "कवि सम्राट" की उपाधि से विभूषित किया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग ने आपको सभापति बनाया तथा "विद्यावाचस्पति" की उपाधि भी प्रदान की। इतना ही नहीं सम्मेलन ने आपके "प्रियप्रवास" महाकाव्य पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्रदान किया। काशी-विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करके आप आजमगढ़ में ही आकर रहने लगे। यही स्थान आपको रहने के लिए अधिक रुचिकर था। यहीं पर ६ मार्च सन् १९४७ ई० को इस देदीप्यमान रत्न का प्रकाश अनायास ही ऐसा लुप्त हो गया कि उसकी पूर्ति निकट भविष्य मे नहीं हो सकी।

हरिऔध जी के पूर्वज सिक्ख धर्म में दीक्षित हो चुके थे। इसी कारण आपके नाम में भी 'सिंह' का योग मिलता है। आपके भाई पं० गुरुसेवक सिंह उपाध्याय ने तो अपनी वंश-परम्परा का परित्याग करके सिक्खों का बाना छोड़ दिया और पूरी तौर से पाश्चात्य सभ्यता स्वीकार करली है, परन्तु हरिऔधजी अन्त तक अपनी परम्परा का पालन करते रहे। आप लम्बे केश तथा दाढ़ी रखते थे। हरिऔध जी का रंग गेहुँआ, तथा शरीर दुबला-पतला था। कुछ दिनों तक अर्श रोग से पीड़ित रहने के कारण अन्तिम दिनों मे आपके चेहरे पर चिन्ता की भावना विद्यमान रहती थी। आप बहुधा घर पर कमीज और वास्कट पहनते थे, परन्तु

विश्व-विद्यालय या अन्य सार्वजनिक स्थानों पर जाते समय साफ़ पगड़ी, शेरवानी, पाजामा, अंग्रेजी जूते तथा मौजे पहना करते थे।[१] गले में आप दुपट्टा भी डालते थे। आपको खद्दर पहनने का शौक न था, परन्तु अपने देश के बने हुए अच्छे से अच्छे कपड़े को पहना आप पसंद करते थे।

अपका स्वभाव अत्यन्त कोमल, सरस और उदार था। साथ ही आप बड़े ही मिलनसार थे। आपके घर कैसा भी व्यक्ति पहुँच जाय, आप सभी का समान भाव से आदर-सत्कार करते थे। किसी हिन्दी-हितैषी से मिलकर तो आपको अत्यधिक आनंद होता था। प्रायः आप युवकों को हिन्दी की सेवा के लिए सदैव प्रोत्साहन दिया करते थे। कितने ही युवक आपके पास अपनी तुकबंदियाँ लेकर आते और उचित परामर्श प्राप्त करके लौट थे। आपके स्वभाव में आदर्शवादिता तो कूट-कूट कर भरी हुई थी। यद्यपि आप अहिंसा में विश्वास नहीं रखते थे, परन्तु आर्य-संस्कृति के आप बड़े ही समर्थक थे। बौद्धधर्म की अनेक बातों से आपका मतभेद था। स्वभावतः आप जितने उदार थे उतने ही रसिक एवं सौंदर्य प्रेमी भी थे। अपनी जीवनी में आपने स्वयं लिखा है :—

घन पटल का वर्ण—वैचित्र्य, शस्य-श्यामला धरित्री, पावस को प्रमोदमयी सुषमा, विविध विटपावली, कोकिला का कलरव, पक्षिकुल का कल निनाद, शरदृतु की शोभा, दिशाओं की समुज्वलता, ऋतु-परिवर्त्तन जनित प्रवाह, अनन्त प्राकृतिक सौंदर्य नाना प्रकार के चित्र, विविध वाद्य, मधुर गान, ज्योत्स्ना रंजित यामिनी, तारक मंडित नील-नभो मंडल, सुवि-चित्र विहंगावली, पूर्णिमा का अखिल कलापूर्ण कलाधर, मनोमुग्ध करा दृश्यावली, सुसज्जित रम्य उद्यान, ललित लतिका, मनोरम पुष्प-चय मेरे आनंद की प्रिय सामग्री हैं। किन्तु पावस की सरस छवि, वसंत की विचित्र शोभा, कोकिल का कुहू रव और किसी कल-कंठ का मधुर गान, वह भी भावमयी कवितावलित, मुझको उन्मत्त प्रायः कर देते हैं।"[२]

(१) हरिऔध अभिनंदन ग्रंथ पृ० ४४३

(२) महाकवि हरिऔध पृ० २१।

इस तरह आपके हृदय में प्राकृतिक सौंदर्य के लिए एक विशिष्ट स्थान था, परन्तु मानवीय सौंदर्य के भी आप रुचिपूर्ण द्रष्टा थे। आपकी स्वभाव-गत सबसे बड़ी विशेषता ही यह थी कि आप सौंदर्य के पुजारी थे। वह सौंदर्य किसी भी प्रकार का क्यों न हो, हरिऔध जी को आकर्षित किए विना नहीं रहता था। तथा कला गत सौंदर्य तो आपको विमुग्ध कर देते थे। पं० गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने लिखा है—"माधुर्य्य कहीं भी हो हरिऔध जी को वह बहुत प्रिय है। शरीर का माधुर्य्य, विचित्र मानसिक परिस्थितियों का माधुर्य्य, काव्य का माधुर्य्य उनके हृदय को विमुग्ध और सरस कर देते हैं × × × × उनके अनुराग-रंजित हृदय का स्मरण करके मैं उन्हें न जाने कितने समय से उमर खैयाम ही का आधुनिक हिंदी अवतार मानता आ रहा हूं।"[1]

आपके हृदय में कविता के साथ-साथ संगीत के लिए भी अत्यधिक अनुराग था। अपने हृदय की इस संगीत जनित पिपासा की शान्ति के लिए वे किसी भी स्थान पर निस्संकोच जाने के लिए तैयार रहते थे। आपकी संगीत मर्मज्ञता का आभास आपकी फुटकर रचनाओं में मिलता है। समाचार पत्रों के पढ़ने का भी आपको व्यसन सा था। अपने समाज तथा जाति की सभी छोटी-बड़ी बुराइयों को जानना तथा उनके निराकरण के लिए मार्ग खोज निकालना ही आपको रुचिकर था। आप ऊँच-नीच की भावना को हिन्दू जाति के लिए अत्यन्त अहितकर मानते थे। आपके विचार से कोई भी धर्म बुरा न था। सभी धर्मों से सारपूर्ण बातें ग्रहण करना ही आपको प्रिय था। आप भजन पूजा में अपना समय व्यर्थ व्यय नहीं करते थे, परन्तु सनातन धर्म एवं उनके धर्म-ग्रन्थों में आपकी अनन्य आस्था थी। वेदों कि आप ज्ञान का भंडार मानते थे और उसके ज्ञान का प्रसार होना ही भारत के लिए श्रेयस्कर समझते थे। आप अंध परम्परा में विश्वास नहीं रखते थे। साथ ही आपकी प्रवृत्ति एकेश्वर वाद की ओर ही थी। देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए आप उन्हें असाधारण मानव

(१) वही पृ० २६

ही मानते थे। ईश्वर-कल्पना में भावुकता की अपेक्षा आपका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही था। समाज सेवा और लोक संग्रह की उत्कट भावना से आप ओतप्रोत थे। इन्हीं भावनाओं का विकसित रूप आपकी श्रेष्ठ रचनाओं—'प्रियप्रवास' तथा 'वैदेही वनवास' में मिलता है। वैसे हिन्दू-समाज में नव चेतना उत्पन्न करने के लिए आप कटु-व्यंग्यों का प्रहार भी किया करते थे—

"पोर-पोर में है भरी मोर तोर की ही बान,
मुँह चोर बने आन बान छोड़ बैठी है।
कैसे भला बार-बार मुँह की न खाते रहें,
सारी मरदानगी ही मुँह मोड़ बैठी है।"

उनके हृदय में समाजोत्थान की एक छटपटाहट थी, जो कविता की अनेक धाराओं में अभिव्यक्त हुई है वे अपनी समस्त रचनाओं द्वारा समाज से अंतर्गत नैतिकता का एक समुज्वल वातावरण निर्माण कर देना चाहते थे। यही कारण है कि उनकी रचनाओं को एक भाई अपनी बहिन के सामने और माँ अपने लड़के के सामने निस्संकोच भाव से पढ़ सकती हैं। बालकों के लिए तो आपने अनेक रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। सच पूँछा जाय तो बाल-साहित्य के निर्माण का श्रीगणेश तो आपने ही किया था। आपने प्राचीन और नवीन सभी शैलियों को अपनाते हुए हिन्दी साहित्य की समृद्धि की और अपने अध्ययनशील, गंभीर्य पूर्ण तथा उन्नत व्यक्तित्व से हिन्दी जगत में एक विशिष्ट स्थान बना लिया। आपके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि प्रतिकूल वातावरण में रहते हुए भी आप माँ भारतीय के मन्दिर में अनेक सरस पुष्प चढ़ाते रहे। घोर असाहित्यिक वातावरण भी आपकी साहित्यिकता में किंचित परिवर्तन न ला सका और आप नौकरी करते हुए भी एक प्रतिभाशाली कवि बने रहे। इस प्रकार अपने प्रगाढ़ पांडित्य, तीक्ष्ण बुद्धि, उत्तम विचार अप्रतिहत प्रतिभा एवं असीम कवित्व शक्ति के द्वारा हरिऔध जी ने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।

———

२—आधुनिक युग की काव्य-प्रेरक प्रवृत्तियाँ

(क) **राजनीतिक स्थिति**—भारतवर्ष में सन् १८५७ के उपरान्त कितनी ही क्रान्तियाँ हुई हैं। ये क्रान्तियाँ प्रत्येक क्षेत्र में युगान्तर उपस्थिति करने के लिए उत्पन्न हुईं और उनके द्वारा भारतीय जीवन में एक नवीन जाग्रति का संचार हुआ। राजनीतिक क्षेत्र में सन् १८५७ की क्रान्ति अत्यधिक महत्व रखती है। इसे कुछ इतिहासज्ञों ने अनुचित एवं देश विरोधी बतलाया है, परन्तु पंजाब केशरी ला० लाजपतराय जैसे देश भक्तों ने इसे राष्ट्रीय एवं राजनीतिक माना है। कुछ भी हो भारतवर्ष का अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए यही वह प्रथम प्रयत्न था जसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्मिलित रूप से अंग्रेज़ों के विरुद्ध खड़े हुए थे। इसके उपरान्त अंग्रेजों ने अपने कठोर नियंत्रण द्वारा भारत को पूर्णतया अपने आधीन रखने का प्रयत्न किया। इसके लिए कितने ही ऐक्ट पास किये गये। सर्वप्रथम सन् १८५७ ई० में ही लार्ड कैनिङ्ग ने प्रेस ऐक्ट पास किया, जिसकी अवधि एक वर्ष थी और जिसके द्वारा सरकार किसी भी प्रेस को बन्द कर सकती थी और किसी की पत्र अथवा पुस्तक का वितरण रोक सकती थी। सन् १८६७ ई० में 'प्रेस एण्ड रजिस्ट्रेशन ऑफ बुक ऐक्ट' पास हुआ तथा सन् १८७८ ई० में लार्डलिटन ने 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' पास किया, जो अन्य ऐक्टों की अपेक्षा अधिक कठोर था और जिसके पास करने का एक मात्र उद्देश्य प्रेस द्वारा होने वाले समस्त राष्ट्रीय विचारों के प्रचार को रोकना था। इन सभी नियंत्रणों से जनता अधिक शुद्ध रहने लगी। इसी बीच सन् १८७७ ई० में भारत के अंदर एक बड़ा भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। जब जनता दुर्भिक्ष के मारे भाई-भाई कर रही थी, उसी समय लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक विराट दरबार किया जिसमें खूब खुशियाँ मनाई गईं और रानी विक्टोरिया को भारत की महारानी घोषित किया गया। लार्डलिटन की इस सहानुभूति-विरोधी नीति ने सभी भारतियों के हृदय में क्षोभ पैदा

कर दिया। इसके उपरान्त लार्डरिपन भारत में आये। उन्होंने सर्वप्रथम 'वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट' को तोड़ दिया, जिसके कारण ये जनता के बड़े लोक प्रिय बन गए और भारतीय प्रेस ने भी पर्याप्त प्रगति करना आरम्भ कर दिया उस समय समस्त भारत में कितने ही पत्र निकलने लगे, जिनमें से बंगाल के हिन्दू प्रेट्रियट' 'इण्डीयन मिरा,' 'अमृत बाजार पत्रिका', 'बंगाली' और रैयत, बम्बई के 'वाइस आफ इण्डिया', 'नेटिव ओपिनियन' 'इन्दु प्रकाश', 'केशरी' और 'मराठा'; मद्रास के 'हिन्दू', उत्तरप्रदेश के इण्डियन, हैराल्ड' और पंजाब के 'ट्रिब्यून' का नाम उल्लेखनीय है।

इसी समय भारत में अंग्रेजी राज्य से क्षुब्ध होकर कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं का निर्माण हुआ। ये संस्थायें अंग्रेजों तक जनता की पुकार पहुँचाती थी और उसकी दयनीय अवस्था को प्रगट करती थीं। इन समस्त संस्थाओं में से १७८५ ई० में मि० ह्यूम द्वारा स्थापित राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) भी थी अन्य सभी संस्थायें प्रान्तीय एवं स्थानीय थीं। उनमें से कोई भी संस्था ऐसी न थी जो सामूहिक रूप ने समस्त भारत का प्रतिनिधित्व कर सके। इसी अभाव की पूर्ति करने के लिए तथा अंग्रेजों एवं भारतियों के बीच कटु संबंध को मृदु एवं मधुर बनाने के उद्देश्य से पहले राष्ट्रीय महासभा का जन्म हुआ। धीरे धीरे इसमें क्षोभ की भावना आती गई। पहले अंग्रेज लोगों के संरक्षण में ही इसकी कार्यवाही चलती थी, परन्तु सन् १९०५ ई० से यह महासभा अंग्रेजों की कटु आलोचना करने लगी और फिर इसका उद्देश्य भारत को स्वतंत्रता प्राप्त कराना हो गया। राजनैतिक आन्दोलनों में दादाभाई नौरोजी सरफिरोजशाह मेहत्ता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महादेव गोविन्द रानडे, बाल गंगाधर तिलक, लाजपतराय, विपिन चन्द्रपाल, अरविन्द घोष, सुभाषचन्द्र बोस, गोपालकृष्ण गोखले, ऐनी बेसेंट, महात्मा, गांधी आदि महापुरुषों का सर्वाधिक हाथ रहा। इन महापुरुषों के व्यक्तित्व ने ही भारत की राजनीति में कितनी ही बार उथल-पुथल उत्पन्न की और भारत में नव, जागरण के बीज बोये। उक्त नेताओं में दो प्रकार की विचार धारा रखने वाले मिलते हैं। इनमें से कुछ तो शान्तिवादी नीति को अपनाकर चलने

वाले थे और कुछ उग्रवादी थे। भारतीय राष्ट्रीय महासभा का निर्माण करने वालों में तत्कालीन शिक्षित वर्ग का ही हाथ था। ये सभी लोग अपनी युक्तियों को तर्कों द्वारा अंग्रेज सरकार को किसी कार्य के लिए बाध्य करते थे। इन सभी नेताओं में कुछ समानतायें भी थीं—प्रथम तो ये सभी समाज के उच्च मध्यम-वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे, दूसरे पश्चिमी शिक्षा और वातावरण में उत्पन्न होने के कारण पश्चिम की ओर ही आकृष्ट रहते थे। इन नेताओं में से जो शान्तिवादी नीति अपनाकर चल रहे थे उन्हें उदार वादी भी कहा जाता है। इन उदार नेताओं का अंग्रेजी लोकतंत्र में अटूट विश्वास था। ये नेता लोग भारत में अंग्रेजी शासन को भारत की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए विधाता की एक देन मानते थे। इन नेताओं में से रानडे, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, दादाभाई नौरोजी आदि प्रसिद्ध हैं। परन्तु उग्रवादी दल के नेताओं को अंग्रेजों की रीतिनीति फूटी आँखों भी नहीं सुहाती थी। अग्रवादी दल के नेता लोकमान्य तिलक और ला० लाजपत राय थे। ये लोग विदेशी बातों का बहिष्कार करते हुए भारत के प्राचीन देश भक्तों के आदर्श पर राष्ट्रीयता का मंत्र फूँकते थे। इनके आदर्श महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि थे। इन लोगों ने राष्ट्रीय जागृति के लिए बहिष्कार आन्दोलन का श्रीगणेश किया। इस बहिष्कार के लिये योजनायें बनाईं गईं। इस बहिष्कार की योजना में केवल विदेशी वस्तुयें ही नहीं थीं, सरकारी, कॉलेज और धारा-सभाओं का बहिष्कार भी सम्मिलित था। जनता ने और विशेषतः विद्यार्थियों ने दूकानों पर धरना दिया, उन्हें दंड मिला। वंदेमातरम् के गान पर सरकार ने प्रतिबंध लगाया। इन समस्त कार्यों से जनता के हृदय में क्रान्ति की लहर उग्र-रूप में उठने लगी।

सन् १९१४ से गाँधी ने भारत की राजनीति में भाग लिया और उसी समय से इनका प्रभाव कुछ बीच के वर्षों को छोड़कर बराबर बढ़ता गया। इन्होंने सर्वप्रथम रौलट ऐक्ट के विरोध में सन् १९१९ में सत्याग्रह करने की धमकी दी। उनका यह सत्याग्रह अहिंसात्मक एवं रक्षात्मक था। भारतीय जनता की सुरक्षा एवं उसे स्वतंत्रता प्राप्त कराने के विचार से ही गांधीजी

ने सत्य और अहिंसा को अपनाया। धीरे-धीरे उन्होंने असहयोग आन्दोलन को जन्म दिया। इस असहयोग—आन्दोलन के तीन कारण थे—(१) खिलाफत, (२) पंजाब के अत्याचार और (३) अपर्याप्त सुधार। फिर तो यह असहयोग बढ़ता ही गया। बीच में सन् १९३५ में कांग्रेस ने विधान-परिषद में होने वाले निर्वाचन के लिए स्वयं भाग लेने का निश्चय किया। कांग्रेस की असामान्य विजय रही और छः प्रान्तों में उसका मंत्रिमँडल भी बन गया। परन्तु सन् १९३९ के द्वितीय युद्ध के अवसर पर भारत के बिना पूछे उसे युद्ध में सम्मिलित कर लिया गया। इतना ही नहीं अंग्रेज सरकार ने यह आश्वासन दिया था कि वह धारा-सभा की बिना आज्ञा के भारतीय सेना को समुद्र पार नहीं भेजेगी परन्तु उसके इस वचन का भी उल्लंघन किया, इसके विरोध में कांग्रेस ने अपना मंत्रिमंडल केन्द्रीय धार साभा ने वापिस बुला लिया और अंग्रेजी सरकार से अपनी माँगों की पूर्ति न होते देख कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने भी अपने अपने प्रान्तों में त्याग पत्र दे दिये। युद्ध के अंत में चारों ओर से दबाव पड़ने के कारण अंग्रेजों ने भारत को पुनः स्वतंत्रता प्रदान की। इस प्रकार हम देखते हैं कि हरिऔध जी के समय में राजनीतिक क्षेत्र में अत्यन्त विषमता थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यद्यपि अंग्रेजों के गुणगान गाये थे, परन्तु उनके हृदय में भी सरकार के प्रति क्षोभ था उनके बाद के कवियों में तो सर्वत्र अंग्रेजों की नीति से विक्षुब्ध जनता के उद्गार ही मिलते हैं।

(ख) धार्मिक स्थिति :—अंग्रेजों ने भारत पर अधिकार करने के उपतरान्त अपने धर्म-प्रचार के लिए भी पर्याप्त प्रयत्न किया। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत को केवल मुसलमानों से ही भय रहता था क्योंकि ये लोग नीच वर्गों को अपने धर्म में परिवर्तित करते थे, परन्तु अब मुस्लिम धर्म के अतिरिक्त ईसाई-धर्म से भी भय खड़ा हो गया था। ईसाई-धर्म का प्रचार खुले आम होता था। अंग्रेजों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए पर्याप्त धन-राशि व्यय करना आरम्भ कर दिया। अपनी धार्मिक पुस्तक बाईबिल का वेलजली के समय में सात देशी भाषाओं में अनुवाद

कराकर सारे भारत में बँटवाया गया। कई छापे खाने खोले गये। सबसे बड़ा छापाखाना सिरामपुर में था। जहाँ से न केवल पुस्तकें छपकर ही वितरित होतीं थीं, अपितु ईसाई धर्मप्रचारक भी अधिक से अधिक मात्रा में प्रचार करने के लिए वहीं से भेजे जाते थे। धर्म-परिवर्तन का यह भयंकर झंझावत कितनी धार्मिक संस्थाओं के उत्पन्न करने में सहायक हुआ। हमारे यहाँ धर्म को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। यहाँ की समस्त विचार धाराओं का प्राण ही धर्म रहा है। यहाँ भारतीय एकता स्थापित करने के लिए तथा विदेशी धर्मों से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए एक ऐसे धर्म की आवश्यकता प्रतीत होरही थी, जिसमें हिन्दू, मुस्लिम तथा ईसाई समान रूप से भाग ले सकें और पुनः भारतीय ही बने रहें। नहीं तो मुसलमान होते ही फारस तथा अरब को अपना घर समझने की प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती थी और ईसाई होते ही भारतवासी को अपना जन्मस्थान इंगलैंड प्रतीत होने लगता था। ऐसे विचारों से एक ओर राष्ट्रीयता को धक्का पहुँचता था, तो दूसरी ओर पारस्परिक सौहार्द्र एवं सद्भावना का ह्रास होना प्रारम्भ हो जाता था ऐसी परिस्थिति का अध्ययन करके राजाराम मोहन राय (सन् १७७४—१८३३) ने उस समय 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की, जिसमें हिन्दू, मुस्लिम, और ईसाई तीनों धर्मों की श्रेष्ठ बातों को सम्मिलित किया गया और जिसके द्वारा ईसाई तथा मुसलमानों के प्रति उत्पन्न होने वाली कटुता तथा विषमता का परिहार किया गया। राजराम मोहनराय बड़े विद्वान एवं अध्ययनशील व्यक्ति थे। वे संस्कृत, अरबी, फारसी, उर्दू, बंगला, मराठी, हिन्दी अंग्रेजी, ग्रीक, लैटिन, फ्रेंच और हिब्रू बारह भाषाओं के मर्मज्ञ थे। धार्मिक क्षेत्र में वे एकेश्वर वाद में विश्वास रखते थे और मूर्ति पूजा आदि प्राचीन साधना-पद्धतियों के विरुद्ध थे। सत्य के प्रचार एवं हिन्दुओं में फैली हुई धार्मिक कुरीतिओं को दूर करने के लिए उन्होंने 'वेदान्तसूत्र' और 'वेदान्तसार' आदि पुस्तकों के साथ पाँच उपनिषदों के बँगला अनुवाद भी प्रकाशित कराये थे। उनकी अन्य पुस्तकों में से 'ब्रह्मनिष्ठ ग्रहस्थी लक्षण', 'गायत्र्या परमोपासना

विधानम्', 'गायत्रीअर्थ', 'अनुष्ठान', 'ब्रह्मोपासना' और 'प्रार्थनापत्र' उल्लेखनीय हैं। उनको ईसाइयों से धार्मिक मामलों पर कितनी बार वाद-विवाद करना पड़ा था। ईसाई धर्म पर भी उन्होंने 'Precepts of Jesus', 'Guide to Piece and Happiness', तथा 'पादरी और शिष्य संवाद' तीन पुस्तकें लिखीं। उन्होंने तत्कालीन धार्मिक असहिष्णुता को मिटाने का सर्वाधिक प्रयत्न किया और धार्मिक आधार पर ही राजनीतिक विचारों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। राजाराम मोहनराय द्वारा स्थापित 'ब्रह्मसमाज' सम्यक् विकास का श्रेय केशवचन्द्र सेन (सन् १८३४–८४ ई०) को है, जिन्होंने मद्रास में 'वेद समाज' तथा बम्बई में 'प्रार्थना समाज' स्थापित करके ब्रह्मसमाजी विचारधारा को पल्लवित किया था। ब्रह्मसमाज द्वारा रूढ़िवाद का विरोध हुआ और कहीं-कहीं इस विरोध की उग्रता के परिणाम स्वरूप नास्तिकता का जन्म हुआ। इसका फल यह हुआ कि ब्रह्मसमाज से सहानुभूति रखने वाले बहुत से समझदार व्यक्ति भी अब इससे दूर हटने लगे, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति नास्तिक बनने की अपेक्षा रूढ़िवादी रहना अच्छा समझता था। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए रामकृष्णपरमहंस तथा दयानंद सरस्वती ने धार्मिक क्षेत्र में पदार्पण किया। दयानंद सरस्वती ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिए 'आर्य समाज' की स्थापना की, जिसका उद्देश्य वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करके लोगों में एकता, सहानुभूति, संगठन आदि की भावना जाग्रत करना था। दयानंद सरस्वती का कथन था कि हिन्दू धर्म वेदों से प्रेरणा लेने के कारण विश्व-व्यापी है और वेद ही संसार के ज्ञान का भंडार हैं। उन्होंने अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ करके लोगों को तत्कालीन धार्मिक साधना के दोषों को बतलाया, मंदिरों एवं मठों में होने वाले पापाचरणों तथा पाखंडों से अवगत कराया और दूसरे धर्मों में परिवर्तित होने वाले भारतवासियों के हृदय में भ्रातृत्व भाव भरकर छूआछूत एवं ऊँच-नीच की भावना से उठाकर हिन्दू धर्म पर गर्व करने की भावना का संचार किया। उनका लिखा हुआ 'सत्यार्थ प्रकाश' ग्रंथ आज तक आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है।

जिसमें वैदिक ग्रंथों से युक्तियाँ देकर तत्कालीन साधना पद्धति एवं धार्मिक अनुष्ठानों के दोषों को बतलाया गया है और धर्म की वास्तविकता एवं उसकी आन्तरिक श्रेष्ठता का उद्‌घाटन किया गया है। दयानंद सरस्वती के विचारों का प्रभाव जनता पर अत्यधिक पड़ा। इसके परिणामस्वरूप कितने ही विधर्मी भारतवासी पुनः हिन्दू-धर्म को सहर्ष स्वीकार करने के लिए तैयार हो गये और कितनी ही नीच जातियाँ विधर्मी होने से बच गईं। सबसे बड़ी बात यह हुई कि इनके विचारों से प्रभावित होकर भारतवासी अपने देश और उसके अतीत पर अभिमान करने लगे और उनके हृदय से दासत्व के भाव तिरोहित होगये। उधर रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानंद ने भी धार्मिक क्षेत्र में अपनी साधना द्वारा अच्छा स्थान बना लिया। इन दोनों की विचार धारा ने भारतवासियों के हृदय में यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न कर दिया था कि हिन्दू धर्म ही संसार में सर्वश्रेष्ठ है और समस्त संसार पर यदि विजय प्राप्त करना चाहते हो तो आध्यात्मिक शक्ति द्वारा यह कार्य सर्वथा संभव है। विवेकानंद ने न केवल भारत में ही अपने धर्म की श्रेष्ठता का विचार उत्पन्न किया, अपितु अमेरिका आदि विदेशों में जाकर भी अपने धर्म की श्रेष्ठता का डंका बजाया और विदेशियों को भी यहाँ के धर्म की विशेषताएँ जानने के लिए बाध्य कर दिया। सन् १८९४ ई० में शिकागो के अन्तर्गत होने वाले 'सर्वधर्म-सम्मेलन' में समस्त पश्चिमीजगत को स्वामी विवेकानंद ने ही अपनी अप्रतिम वक्तृता से आश्चर्य में डाल दिया था। उनका कथन था—"भारतवासियो! उठो और अपनी आध्यात्मिकता से संसार को जीत लो।........हमें अपने दर्शन और अपनी आध्यात्मिकता से विश्व-विजय को चल देना चाहिए।" इन वाक्यों में मिला स्वाभिमान एवं अपने धर्म में अटूट विश्वास भरा हुआ है। इनके अतिरिक्त जन् १८८२ में स्वामी दयानंद ने हैलीना पीट्रोवना ब्लावास्ट्की नामक एक रूसी स्त्री और हैनरी स्टील ऑलकट नामक एक अमरीकन पुरुष की सहायता से एक 'थियोसोफिकल सोसाइटी' की स्थापना की थी, जिसका उद्देश्य संसार के सभी धर्मों में

बन्धुत्व की भावना स्थापित करना था। इस थियोसोफिकल सोसाइटी ने ने भी धार्मिक पुनर्जागरण में पर्याप्त सहायता पहुँचाई।

उपर्युक्त नवीन धार्मिक आंदोलनों के अतिरिक्त प्राचीन विचार धारा भी भारत में पूर्ण रूप से विद्यमान थी। वैष्णवधर्म में अधिकारी लोगों का श्रद्धा थी। सभी स्थानों पर राम एवं कृष्ण उपास्यदेव के रूप में ही देखे जाते थे। कुछ पाश्चात्य सभ्यता में रंगे हुए तथा उक्त धार्मिक संस्थाओं में भाग लेने वालों के अतिरिक्त भारत की अधिकांश जनता अभी तक अपने राम एवं कृष्ण तथा शिव में ही अनन्य आस्था रखती थी। सभी जगह संसार की असारता को समझाने वाले तथा विषयों से दूर रहने के लिए उपदेश हुआ करते थे। इतना अवश्य था कि ब्रह्मसमाज एवं आर्यसमाज आदि नव-जागरण उत्पन्न करने वाली संस्थाओं का निर्माण होने के कारण लोगों में अन्य धर्मों के प्रति भी सहिष्णुता एवं सहानुभूति की भावना भी जाग्रत हो गई थी और अब धार्मिक वाद-विवाद को लोग व्यर्थ समझने लगे थे। विचार-स्वातंत्र्य एवं बंधुत्व की भावना का संचार होने के कारण मत-मतान्तरों के चक्कर में पड़ना ठीक नहीं समझा जाता था। धार्मिक कट्टरता का शनैः शनैः ह्रास होने लगा। यहाँ तक कि द्विवेदी युग के आते-आते राम-कृष्ण के चरित्र को लेकर भी मानवतावाद के आदर्श को अपनाया गया और उनमें पूर्व व्याप्त अति मानवीय कार्यों का निराकरण करने उनकी प्रत्येक बात को युक्ति एवं तर्क से बुद्धि संगत बनाया जाने लगा। आध्यात्मिक शक्ति का उपयोग अब केवल वैयक्तिक साधना के लिए उचित नहीं समझा जाता था परन्तु स्त्री-पुरुष के प्रेम, दीनों की सेवा-सुश्रूषा तथा सत्य की खोज में ही उसका सफल उपयोग माना जाता था। ब्रह्म-समाज द्वारा प्रचारित रहस्यभावना का प्रसार अवश्य सबसे अधिक हुआ। सभी कवि एवं लेखक रहस्यमयी भावनाओं से प्रभावित होकर एक परोक्ष सत्ता के स्वरूप का चित्रण करना श्रेयस्कर समझने लगे इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में एक प्रत्यक्ष सत्ता के स्थान पर धीरे-धीरे परोक्ष सत्ता को मानने की सबसे अधिक व्यापक होगई।

हिन्दू और मुसलमानों में एकता तथा बन्धुत्व की भावना जागृत करने के लिये सिक्ख धर्म का भी प्रचार हुआ। परन्तु मुसलमानों की संकीर्णता के कारण मुसलमान भी सिक्खों के घोर विरोधी वन गये फिर भी हिन्दूओं ने भ्रातृत्व से भाव प्रेरित होकर इस धर्म को अत्यधिक अपनाया और भारत की कितनी ही नीच जाति के लोग सिक्ख धर्म स्वीकार करके समाज में समादर के पात्र हो गये। पंजाब में तो इसका पर्याप्त प्रचार हुआ। पारस्परिक सौहार्द्र एवम् बन्धुत्व की भावना को फैलाने में सिक्ख धर्म ने भी बड़ा सहयोग दिया है। परन्तु मुसलमानों के प्रति कठोरता एवम् निर्दयता की भावना रहने के कारण भारतीय जागृति में कुछ विरोध भी उत्पन्न हुआ। इस काल में सबसे अधिक महत्व उसी संस्था को प्राप्त हुआ जो धार्मिक कट्टरता को जोड़कर सहिष्णुता और सहानुभूति की भावना का प्रचार करने में तत्पर रही। मुसलमानों में धार्मिक जागृति को सत्पन्न करने का श्रेय सर सैयद अहमद खाँ (सन् १८३७—१८६८ ई०) को है। आपने प्रारंभिक जीवन काल में तो ये राष्ट्रीय विचारों के थे और हिन्दू और मुसलमान दोनों के प्रतिनिधि माने गये थे, परन्तु सन् १८८४ ई० के बाद ये मुसलमानों के ही एक मात्र प्रतिनिधि बन गये और उनकी जागृति के विचारों का प्रचार करने लगे। ये अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली थे। और अंग्रेजों में इनकी अन्ध श्रद्धा थी। धार्मिक आड़ में इन्होंने राजनीति । कही प्रर्याप्त प्रचार किया और देश में विभाजन के बीच बो दिये। ऐसे ही नेताओं के कारण हिन्दू और मुसलमानों में पारस्परिक सौहार्द्र स्थापित न हो सका।

(ग) सामाजिक स्थिति :—भारत की सामजिक स्थिति पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि अंग्रेजों के सम्पर्क में आकर भारतवासियों को पारस्परिक दन्द्व और कलह से तो छुटकारा मिला, परन्तु एक दूसरी सत्ता के नियंत्रण ने उन्हें इतना विवश और परवश बना दिया कि उनके विचार रहन-सहन, रीति-नीति, धन, संपति आदि सभी उनके न रहकर पराये हो गये वे निरंतर परमुखापेक्षी होते गये और अपने गौरव एवं स्वामिमान को

धीरे धीरे भूलने से लगे, उस काल का चित्रण करते हुये बा० श्याम सुन्दर दास ने भारतवासियों को एक श्रान्त धनवान पथिक कहा है जो बिना किसी प्रबल आघात के जाग नहीं सकता और जगने पर अपने को ठगा हुआ लुटा हुआ क्लांत और परवश पाता है। फिर अपनी बेबसी में खोकर वह घबराहट, बेचैनी और व्यथा से पागल होकर छटपटाता और अपने प्रयत्न को विफल पाता है। इस चित्रण में भारतवासियों की बेबसी एवम् पराधीनता की ओर संकेत किया गया है। परन्तु सन् १८५७ ई० में यह बेबसी उग्र रूप धारण कर गई और अंग्रेजों द्वारा किये गये अत्याचारों और मनमाने कार्यों के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा कर दिया। परन्तु कुछ ही समय में अंग्रेजों की कूटनीतिज्ञता एवं नियंत्रण पटुता ने इस आन्दोलन को दबा दिया। भारतवासी कुछ काल के लिये फिर वही मस्ती की नींद में सो गये। विदेशिओं द्वारा प्राप्त सुलभ विलास-साधनों में लीन होने के कारण अब उन्हें विदेशी ही सर्वगुण सम्पन्न एवं विधाता की अपूर्व देन के सदृश प्रतीत होने लगे। अधिकांश जनता को अब अपने त्राण का एक मात्र मार्ग यही दिखाई देता था। कि वह इन विदेशियों की रीति-नीति शिक्षा रहन-सहन आदि को अपनाकर अपना जीवन यापन करें। अंग्रेजों ने भी अपनी सत्ता को दृढ़ बनाने के लिये अधिक से अधिक भारतवासियों से संबन्ध स्थापित करना तथा उन्हें अंग्रेजी शिक्षा के लिये उत्साहित करना प्रारम्भ कर दिया। अंग्रेजी सरकार में धीरे धीरे भारतवासियों की अटूट श्रद्धा एवं भक्ति हो गई। वे अंग्रेजों को अपना परम सुधारक और उन्नतिदाता समझने लगे। इन लोगों के द्वारा धार्मिक और सामाजिक कार्यों में कोई विशेष हस्तक्षेप न होने के कारण यहाँ की सामाजिक स्थिति में एक साथ कोई परिवर्तन नहीं हुआ, परन्तु अंग्रेजों के सम्पर्क ने बहुत से सामाजिक विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित किये ? पहले हिन्दू लोग विधवा विवाह को समाज के लिये कलंक समझते थे। छूआ-छूत की भावना से इतने ओतप्रोत थे कि किसी भी अछूत या अस्पृश्य की छाया पड़ जाना हेय समझते थे। पारस्परिक व्यवहारों में भी बड़ा अन्तर था। द्विजातीय अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य ही

परस्पर खानपान में सम्मलित होते हुये नाक, भौंह सिकोड़ा करते थे। ब्राह्मण वर्ग में उच्चता की इतनी तीव्र भावना भरी हुई थी कि वह क्षत्रियों एवं वैश्यों के साथ बैठकर अलग भी खाना पसन्द नहीं करते थे। सामाजिक विषमता उग्ररूप में विद्यमान थी। सर्वत्र धर्म के अंधविश्वास में लीन होकर उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग को तुच्छ एवं हेय समझा करते थे।

अंग्रेजों के सम्पर्क ने इस सामाजिक विषमता पर तीव्र कुठाराघात किया। भारतीय जनता को भी सामाजिक रीति-नीति में परिवर्तन करने की इच्छा प्रतीत होने लगी। धीरे धीरे विधवाओं को समाज के ऊपर व्यर्थ का बोझ जानकर लोगों ने उनका विवाह ही हितकर समझा। छूआछूत की भावना में भी परिवर्तन होने लगा। और नीच जाति के लोग ईसाई धर्म स्वीकार करके उच्चवर्ग के लोगों पर शासन करने-लगे थे। अतः आर्य्यसमाज आदि संस्थाओं के प्रभाव से इस नीच वर्ग के लोगों से भी प्रेम और सद्भाव का व्यवहार किया जाने लगा। इस प्रकार इन्हें एक ओर तो समाज में आदर प्राप्त होने लगा और दूसरी ओर इनको विधर्मी होने से भी बचा लिया गया। अंग्रेजों के सम्पर्क से पूर्व लोगों में रूढ़िवादिता कूट-कूट कर भरी हुई थी, यहाँ के लोग उसी परम्परा में कसे रहने के कारण पश्चिमी सभ्यता को 'पश्चिमी आँधी' के रूप में सदेहतामक दृष्टि से देखते थे। और बहुत काल तक उससे बचकर रहे परन्तु धीरे धीरे इस सभ्यता ने शिक्षित वर्ग पर अधिकार स्थापित किया। फिर उनके सम्पर्क में आने वाले अशिक्षित भी अन्धविश्वास को छोड़ने के लिये उतारू होगये। धीरे-धीरे विदेशी साहित्य एवं विदेशी सत्ता की रीति-नीति में भारतियों को भी प्रभावित करना प्रारंभ किया और प्रत्येक भारतीय विदेशी उन्नति एवं उनकी सामाजिक व्यवस्था संबंधी विशेषताओं को अपनाने के लिये उत्सुक होने लगा। धीरे-धीरे यहाँ के सभी धर्मोपदेशक एवं समाजसुधारक अपने उपदेशों एवं कविताओं में यहाँ की धर्मान्धता प्राचीनवादिता एवं निष्फलता तथा हानिकारक रीति रिवाजों की कटु आलोचना करने लगे। और गड्डुलिका प्रवाह से मुक्त करने का सर्वत्र प्रयत्न होने लगा।

भारतीय समाज के अन्तर्गत मुसलमानों के राज्य-काल में नारी-जीवन अत्यधिक उपेक्षामय रहा। हिन्दू नारी मुसलमानों की कामुकता पूर्ण कुदृष्टि के कारण अपना सामाजिक विकास नहीं कर सकी। उसे पद-पद पर बलात्कार और अपहरण का भय रहता था। वह स्वतन्त्र एकाकी मार्ग में नहीं चल सकती थी। उसकी स्थिति एवं उसका अस्तित्व एक मात्र काम-पिपासा की तृप्ति के लिये ही था और वह जीवन की संकीर्ण चहार-दीवारी में ही घुल-घुलकर मरने के अतिरिक्त और कुछ नहीं जानती थी। समाज सोसाइटी में आकर भाषण, देना मानव के साथ राज काज में खुले आम भाग लेना राजनीतिक समस्याओं पर राजमंत्रियों के साथ बैठकर विचार विनिमय करना तथा जीवन की भयावह परिस्थितियों में पुरुष के साथ बैठ कर उनका समाधान करने के लिये उसे नहीं बुलाया जाता था। वह स्वयं भी अपने को तुच्छ ज्ञान-हीन और शक्ति-शून्य समझा करती थी। लोक सेवा और लोकोपकार जैसे सामाजिक उन्नत कार्यों में भाग लेना उसके लिये सर्वथा व्यर्थ समझा जाता था। परन्तु अंग्रेजों का संपर्क प्राप्त होते ही नारी जागरण की ओर सभी का ध्यान जाने लगा। नारी शिक्षा के लिये लगातार प्रयत्न होने लगा। उसे समाज में पुरुष के समकक्ष स्थान दिलाने के लिये सभी उत्सुक हो उठे। सर्वत्र नारी जागरण के गीत गाये जाने लगे। और धीरे-धीरे नारियों से भी शक्तिहीन का ह्रास हो लगाने और वह 'अवला' से 'सवला' की कोटि में आ गई। हरिऔध जी के जीवनकाल में ही नारी-उत्थान के लिए अनेकानेक सउन्नत प्रयत्न हुए और प्राचीन आख्यानों में से नारीजीवन की उदात्त भावनाओं को चित्रण करके तत्कालीन भारतीय नारी को जाग्रत करने का सफल प्रयत्न हुआ। भारतेन्दुजी ने ही नारी-शिक्षा पर अधिक ज़ोर दिया था, उनके समकालीन तथा गोष्ठी-साहित्य के निर्माताओं ने नारी जागरण के गीत गाये और उसे समाज की अपूर्व-शक्ति के रूप में देखा। ला० भगवानदीन ने वीरांगनाओं के अद्भुत कार्यों का चित्रण किया और लगभग सभी कवि और लेखकों ने नारी की खोयी हुई शक्ति को पुनः प्राप्त कराने के लिए नारी—जागरण के साहित्य का

निर्माण किया। रीतीकालीन कावियों ने नायिका-भेद लिखकर नारी में केवल श्रृंगार-भावना की ही प्रतिष्ठा की थी, परन्तु अब समाज में नारी के प्रति सद्भावना जाग्रत होने के कारण उसे धर्म-प्रेमिका, लोक-सेविका, देश-प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका आदि अनेक रूपों में देखा जाने लगा। इस प्रकार नारी में उदात्त भावनाओं का समावेश करने के कारण एक ओर तो समाज में नारी को उच्च स्थान प्रदान किया गया और दूसरी ओर समाज की काम-प्रवृत्ति को संयत रखने के लिए ब्रह्मचर्य और सदाचार आदि पर भी पर्याप्त मात्रा में जोर दिया गया।

विज्ञान के नवीन-नवीन आविष्कारों ने भी भारतीय जनता में नव-जागरण का मंत्र फूंका। धीरे-धीरे भौतिक वादी तथा समाजवादी विचार धाराओं का जन्म हुआ और समाज के विकास के लिए वैज्ञानिक अनु-संधान प्रारम्भ हुए। समाज में धार्मिक तथा राजनीतिक संस्थाओं ने विश्व-बन्धुत्व की भावना को जाग्रत किया जिससे हिन्दू-मुसलमानों में से पारस्परिक कटुता कम होने लगी। परन्तु अंग्रेज लोग दो जातियों में फूट डालकर ही भारत पर अपनी सत्ता स्थिर रख सकते थे। अतः उन्होंने इन दोनों जानियों में अंत तक मेल नहीं होने दिया और पारस्परिक कटुता आज तक पूर्णरूप से मृदुलता में परिवर्तित नहीं हो सकी। इतना और हुआ कि देश के विभाजन का इस कटुता को और चिरस्थायी बना दिया है।

(घ) साहित्यिक स्थिति :—सन् १८५७ ई० में जनक्रान्ति हुई। उस काल में जनता ने क्रान्ति में भाग लिया और कुछ ग्राम्य गीत भी ऐसे लिखे जिनमें क्रांति सम्बन्धी भावनाओं का उन्मेप हुआ, परन्तु तत्कालीन प्रसिद्ध कवियों ने इस क्रांति को 'गदर' कह कर सम्बोधन किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने "गदर अनीम गुवार उठ्यो सत्तावन में सिगरे जगजानी" कह कर उसे जनता की उच्छृंखल प्रवृति अथवा 'गुवार' कह कर हीन दृष्टी से देखा है। कुछ गीत अवश्य ऐसे मिलते हैं जिनमें रानी लक्ष्मीबाई

की प्रशंसा की गई है और उन्हें 'खूब लड़ी मरदानी, और झाँसी वाली रानी' कह कर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। अन्य कवियों ने इस क्रांति को विशेष महत्व इस कारण नहीं दिया, क्योंकि वे सभी अंग्रेजों की सत्ता में अटूट श्रद्धा रखते थे। इसी कारण भारतेन्दु तथा उनके समसामायिक सभी कवियों ने भारत सरकार की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व हिन्दी जगत में पद्य-रचना की ही अधिकता थी। सर्वत्र पद्य का ही बोलवाला था। गद्य जो कुछ भी मिलता है वह अत्यंत भ्रूणावस्था में है। थोड़ा बहुत ब्रजभाषा का ही गद्य मिलता है, जिसमें शैलीगत भावाभिव्यंजना एवं वर्णन-कौशल का सर्वथा अभाव है। हठयोग एवं ब्रह्मज्ञान संबंधी गोरख पंथियों की जो पुस्तकें ब्रजभाषा गद्य में मिली हैं, वे गद्य के उस प्रारंभिक स्वरूप का उदाहरण उपस्थित करती हैं, जब कि हिंदी गद्य विकास की प्रतीक्षा कर रहा। हिंदी गद्य के विकास में मार्क्विस वेलेज़ली (१७६८—१८०५ ई०) द्वार स्थापित फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना को बड़ा महत्व दिया जाता है। वहाँ पर बॉर्थविक गिलक्राइस्ट (१७५६ ई० १८४१ ई०) को फारसी-हिन्दुस्तानी का अध्यक्ष बनाया गया था। ये गिलक्राइस्ट महोदय पहले इस्टइन्डिया कंपनी में एक चिकित्सिक की हैसियत से भारत मे सन् १७८२ ई० में आये थे और अपने अध्यवसाय और अधिक परिश्रम के कारण आपने हिन्दुस्तानी भाषाओं का अध्ययन किया और अन्त में फोर्टविलियम कॉलेज में नौकर हो गये। आपने अपने विद्यार्थियों के लिए कितनी ही पाठ्य पुस्तकें लिखीं और अपने साथियों से भी लिखवाईं। लल्लूलाल तथा सदलमिश्र भी इसी समय आपकी अध्यक्षता में 'भाखामुन्शी' के रूप में आये और दोनों ने क्रमशः 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' नामक ग्रन्थों का निर्माण किया। ये दोनों ही ग्रंथ प्रारंभिक हिन्दी गद्य के नमूने हैं। लल्लूलाल से पूर्व मुन्शी सदासुखलाल 'नियाज' और इन्शा अल्लाखां ने क्रमशः 'योगवाशिष्ट' तथा 'रानी केतकी की कहानी' नामक हिन्दी के

ग्रंथ लिखे थें जिनमें से एक विशुद्ध खड़ी बोली का स्वरूप प्रस्तुत करता है और दूसरे में अरबी-फारसी शब्दों से मिश्रित हिन्दी-गद्य का स्वरूप मिलता है। वैसे इनसे पूर्व भी खोज करने पर पता चला है कि हिन्दी-गद्य की अच्छी प्रगति हो चुकी थी। रामप्रसाद निरंजनी द्वारा लिखित 'भाषा योगवाशिष्ठ' नामक पुस्तक में हिन्दी गद्य का अत्यंत सुन्दर और प्रौढ स्वरूप मिलता है। इसी प्रकार पं० दौलतराम द्वारा लिखित 'पद्मपुराण' का भाषानुवाद भी सुष्ठु और सुन्दर हिन्दी-गद्य मे लिखा हुआ मिलता हैं।[1] कुछ इतिहासकारों ने गिलक्राइस्ट महोदय को ही हिन्दी गद्य का जन्मदाता कहा है, परन्तु उनकी पुस्तकों को देखने से पता चलता है कि वे हिन्दी की अपेक्षा हिन्दुस्तानी के ही समर्थक थे। उन्होंने हिन्दुस्तानी के लेखकों और कवियों में मीर दर्द, सौदा, मिसकीन आदि की गणना की है।

सन् १८५४ में सरचार्ल्सवुड की शिक्षा योजना के अनुसार गाँवों और कस्बों में स्कूल खोले गये और देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया गया। इसी समय राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद (१८२३—१८६५) भी शिक्षा-विभाग में निरीक्षक के पद पर नियुक्त हुए और आपने उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग में हिन्दी को भी स्थान दिलाया। नहीं तो पहले शिक्षा के लिए केवल उर्दू और फारसी का ही बोल बाला था। आप भी वैसे इस प्रभाव से बच नहीं सके, क्योंकि आपके लेखों और पुस्तकों की भाषा भी अरबी-फारसी के शब्दों से लदी हुई है। इसका कारण यह था कि आप एक 'आमफहम' भाषा के पक्षपाती थे। इसलिए हिन्दी को फारसी पढ़े लिखे लोगों तक पहुँचाने के लिए संभवतः आपने यही युक्ति उपयुक्त सोची थी कि उसमें अरबी-फारसी के शब्दों को भी उचित स्थान दिया जाय। आपके उपरान्त राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६—१८६६ ई०) विशुद्ध हिन्दी गद्य का स्वरूप लेकर साहित्य-क्षेत्र में उपस्थित

(१) हिन्दी साहित्य का इतिहास ले० पं. रामचन्द्र शुक्ल पृ० ४११-१२

हुए। साथ ही स्वामी दयानन्द सरस्वती भी विशुद्ध एवं संस्कृत गर्भित गद्य लिखने के पक्षपाती थे। इसप्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पूर्व हिन्दी-गद्य का कोई व्यवस्थित रूप नहीं मिलता, एक तो राजा लक्ष्मणसिंह तथा दयानंद सरस्वती का पूर्णतया शुद्ध एवं संस्कृत गर्भित रूप प्रचलित था दूसरा राजाशिवप्रसाद सितारेहिन्द द्वारा उपस्थित अरबी-फारसी मिश्रित स्वरूप था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सबसे बड़ा यही कार्य किया कि हिन्दी गद्य का एक व्यवस्थित रूप निश्चित किया क्योंकि इन्होंने मध्यम मार्ग-का अनुसरण करके न तो गद्य को अधिक संस्कृत गर्भित ही रखा और न अरबी-फारसी संयुक्त ही रहने दिया अपितु लोक-प्रचलित अरबी-फारसी के शब्दों को भी अपना कर उन्हें हिन्दी के उपयुक्त बना लिया। इनके समकालीन पं० प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहनसिंह, बदरीनारायण चौधरी आदि सभी लेखकों ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ही अनुसरण किया। आगे चलकर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदीजी (१८६४ ई० १६३८ ई०) ने भाषा को परिमार्जित एवं व्याकरण समस्त बनाने का प्रयत्न किया। उनके प्रयत्न से हिन्दी गद्य अत्यंत सुव्यवस्थित होकर भावों को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ होगया और कितने ही उच्चकोटि के उपन्यास, नाटक, कहानी और आलोचना ग्रंथों का निर्माण उसमें सुगमता के साथ होने लगा।

हिन्दी गद्य की ही भाँति पद्य का भी विकास हुआ। पहले हिन्दी पद्य के लिए ब्रजभाषा ही थी। इस युग के लेखकों ने जितनी भी अपनी रचनायें पद्य में की हैं वे सभी ब्रजभाषा में हैं। पद्य के लिए खड़ी बोली का आन्दोलन सन् १८६८ ई० के लगभग प्रारम्भ हुआ, परन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि उनके सामने और बाद में भी कई वर्षों तक कोई भी कवि केवल खड़ी बोली का कवि नहीं कहा जा सका। सभी कवि ब्रज तथा खड़ी बोली दोनों में ही रचना करने वाले मिलते हैं। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने सन् १८७६ ई० में खड़ी बोली के

अंतर्गत केवल तीन कवितायें लिखीं थी—(१) भजन करो श्रीकृष्ण का (२) दशरथ-विलाप (३) बसंत। उनकी मृत्यु सन् १८८५ ई० में हुई उसके उपरान्त ही खड़ी बोली आन्दोलन ने जोर पकड़ा जिसके अग्रणी अयोध्या-प्रसाद खत्री, श्रीधर पाठक तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी माने जाते हैं। राधाकृष्णदास मध्यममार्ग के अनुगामी थे। अधिकाँश खड़ी बोली के आधुनिक कवियों का भी पहली रचनाऐं ब्रजभाषा में ही मिलती हैं।

भावाभिव्यक्ति के लिए भारतेन्दु युग में ब्रजभाषा के साथ-साथ प्राचीन छंदों का ही प्रयोग हुआ। केवल कवित्त, सवैया, रोला, दोहा और छप्पय की ही प्रधानता रही। एकाध नया छंद अपनाया गया, जिसमें से 'कजली' छंद का प्रयोग बदरीनारायण चौधरी, 'प्रेमघन, तथा खंगबहादुर मल ने किया। प्रकृति–चित्रण तथा सौंदर्य चित्रण की दृष्टि से सभी कवि रीति-कालीन परम्परा के ही अनुयायी रहे। साहित्य के क्षेत्र में ब्रज तथा खड़ी बोली दोनों का साम्राज्य था। शैली की दृष्टि से भी कोई नवीनता नहीं मिलती, परन्तु द्विवेदी युग के प्रारम्भ होते ही अर्थात् सन् १९०० ई० के उपरान्त भावभिाव्यक्ति में अन्तर आने लगा। चम्पारन के पं० चन्द्रशेखर मिश्र ने सर्व प्रथम संस्कृत वृत्तों में सुन्दर कविता प्रस्तुत की। इसके उपरान्त संस्कृत-वृत्तों के प्रति महावीर प्रसाद द्विवेदी ने विशेष आग्रह किया, जिसके परिणाम स्वरूप कितने ही कवि संस्कृत–वृत्तों में कविता रचने लगे, जिनमें रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण', गुप्तजी, रूपनारायण पांडेय, द्विवेदीजी तथा हरिऔधजी का नाम उल्लेखनीय है, परन्तु इनमें से पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की रचनाऐं श्रेष्ठ और लोक प्रिय रहीं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस देश प्रेम एवं देशानुराग की ओर 'नीलदेवी' और 'भारत दुर्दशा' नाम नाटक द्वारा संकेत किया था। अब अधिकांश कवियों के हृदय से देश-प्रेम का स्रोत फूट निकला। कविता के वर्ण्य–विषय भी बदले और भाषा तथा भावों के विकास के साथ-साथ संगीतात्मकता तथा भाषा में मुहावरों आदि का सुन्दर प्रयोग होने लगा। भाषा-शैली अधिक व्यवस्थित और सम्पन्न

होगई तथा काव्य में विश्लेषणात्मकता के साथ-साथ आलोचनात्मक दृष्टि-कोण का प्राधान्य होगया। इस दृष्टिकोण के आते ही सबसे बड़ा यह दोष उपस्थित हुआ कि कविता में कल्पना का अभाव होगया और कवि लोग जीवन की मानसिक गंभीरता का परित्याग करके बाह्य एवं हलके विवरण देने में ही व्यस्त होगये। इससे भाषा और भाव दोनों में ही नीरसता आगई और कविता में सांकेतिकता तथा मधुरता का सर्वथा अभाव दिखाई देने लगा। द्विवेदी युग के प्रथम १० वर्षों में समस्त कविता इस प्रकार वर्णनात्मक एवं आख्यानात्मक ही रहीं। कुछ कवितायें रवि वर्मा के चित्रों पर मैथिलीशरणगुप्त एवं नाथूराम शंकर प्रेमी ने लिखीं। इनमें भी लाक्षणिकता का अभाव ही रहा; इनमें सौंदर्य चित्रण अवश्य ऐसा था जिसे मधुर कहा जासकता है, परन्तु बाह्यार्थ निरूपणी प्रवृत्ति का आधिक्य रहने के कारण मनोमोहकता का अभाव ही रहा। बँगला-काव्य का अध्ययन होने के कारण अब उसका प्रभाव हिन्दी पर भी पड़ रहा था। जिससे नवीनता की ओर तत्कालीन कवि झुकने लगे थे।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से यदि विचार करें तो पता चलेगा कि भारतेन्दु युग में विविधि वर्ण्य विषय अपनाए गये। तत्कालीन जीवन का वास्तविक चित्र उपस्थित करते हुए उस काल के लेखकों ने हिन्दू-विधवा, बाल-विवाह, मद्यनिषेध आदि अनेक सामाजिक समस्याओं पर अपने-अपने विचार प्रकट किए जिनमें प्राचीनता के साथ-साथ नवीन विचारों का स्वरूप भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। द्विवेदीयुग में अधिकांश संतोष, आशा, साहस, दृढ़ता आदि पर कविताएँ लिखीं गईं, जिनमें वर्ण्य-विषय की मौलिकता एवं नवीनता के साथ-साथ विचारों के विकास के भी दर्शन होते हैं। इस समय मानवतावाद के आदर्श को अधिक महत्व दिया जाने लगा था, जिसके परिणामस्वरूप पीड़ित एवं दुखियों के प्रति सहानुभूति का चित्रण भी कविता का एक प्रमुख विषय बन गया था। लोगों की दृष्टि अब यथार्थवाद की महत्ता की ओर भी जाने लगी थी, जिससे ग़रीब किसान और मज़दूरों की

चर्चा को भी कविता में स्थान मिलने लगा। सामाजिक कुरीतियों एवं अंधविश्वासों का चित्रण करना भी इस युग की एक विशेषता थी। कांग्रेस का असहयोग नीति के कारण लोगों में स्वतंत्रता एवं देशप्रेम की भावना जाग्रत होगई थी। अतः कवि लोग भी मातृभूमि के प्रति स्वाभाविक प्रेम का चित्रण करते हुए जननीजन्मभूमि के सौंदर्य की झाँकी प्रस्तुत करते थे। जागरण-गान की धूम थी। भारतेन्दु युग में जो निराशा की भावना आगई थी अब द्विवेदी युगमें आते-आते आशा का संचार हो गया था और कवियों के मनोभाव उसी आशा से प्रेरित होकर क्रान्ति के चिन्हों को प्रकट करते थे। इस प्रकार देशभक्ति की कविता में विविधता के दर्शन मिलते हैं। प्राकृतिक कविता भी अब पहले की अपेक्षा अधिक विकसित हो चुकी थी। प्रकृति की ओर कवियों का झुकाव पर्याप्त मात्रा में होगया था। द्विवेदीजी स्वयं प्रकृति के नवीन पक्षों को अपनाने के लिए आग्रह किया करते थे। अभी तक उद्दीपन की दृष्टि से ही प्रकृति चित्रण अधिक हुआ था। अब उद्दीपन की अपेक्षा अलम्बन रूप में भी प्रकृति को चित्रित किया गया। इतना ही नहीं उसे मानवीकरण, अलंकार दूना रहस्यात्मक आदि कितने ही रूपों में चित्रित करने की ओर कवियों का ध्यान जाने लगा। परन्तु प्रकृति के संवेदनात्मक रूप के चित्रण का अभाव रहा। अधिकांश चित्रात्मक शैली में नाम-परिगणन-प्रणाली को अपनाने की ओर कवियों की प्रवृत्ति रही।

सामाजिक-जीवन का चित्रण करते हुए इस काल के कवियों का ध्यान सर्वाधिक नारी-जीवन की महत्ता पर गया। विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा इसी धारणा के पहलू थे। नारी को समाज की अपूर्व शक्ति स्वीकार करके उसे समुन्नत बनाने लिए सभी कवियों ने भरसक प्रयत्न किया। नारी-जीवन की महत्ता कवियों के हृदय में इतनी व्याप्त हो गयी थी कि उस काल में जितने भी प्रमुख काव्य लिखे गये उनमें नारी को ही गौरवपूर्ण स्थान दिया गया। पुरुष की अपेक्षा नारी ही अधिक महत्व वाली चित्रित की गई है।

'साकेत', 'यशोधरा', 'प्रियप्रवास', 'कायामनी' आदि ऐसे ही महाकाव्य हैं, जिनमें नारी-जीवन के आदर्श को प्रस्तुत किया गया है।

उक्त परिस्थितियों में ही महाकवि हरिऔध ने अपनी साहित्य-साधना प्रारंभ की। ऐसी विषम राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों में अवतीर्ण होकर विविध विषयों पर लेखनी उठाना प्रतिभा एवं साहस का ही कार्य था, परन्तु परिस्थिति स्वयं कवि को आगे बढ़ने के लिये प्रेरणा दिया करती हैं। इसी कारण हरिऔधजी की लेखनी ने सभी क्षेत्रों में पदार्पण किया। अब आगे चलकर हम उनकी रचनाओं पर विचार करते हुए उनकी विविधता का दिग्दर्शन करायेंगे।

३--साहित्य-साधना का स्वरूप

भारतेन्दु-युग का समस्त साहित्य गोष्ठी-साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग का प्रारम्भ डा० केशरी नारायण शुक्ल ने सन् १८६५ ई० से लेकर १९०० ई० तक माना है। कारण यह है कि सन् १८६५ ई० में ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी-साहित्य के प्रांगण में पदार्पण किया था और सरस्वती पत्रिका का प्रकाशन सन् १९०० ई० से प्रारम्भ हुआ। इस पत्रिका द्वारा एक नये युग की सूचना मिली। अतः उक्त ३५ वर्ष का समय ही भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध है। यही समय बाबा सुमेरसिंह का भी है, जिनके निवास स्थान निजामाबाद में प्रायः कवि लोग एकत्रित हुआ करते थे और कई-कई घंटों तक समस्या-पूर्तियों तथा भजन-कीर्तन आदि का आयोजन हुआ करता था। बाबा सुमेरसिंह सिक्ख-सम्प्रदाय के महंत थे और बड़ी तेज़ तथा पैनी दृष्टि वाले थे। इनके यहाँ हरिऔधजी के पितृव्य पं० ब्रह्मानंद प्रायः आया करते थे। इन्हीं के साथ हरिऔध जी ने भी यहाँ आना प्रारंभ कर दिया और धीरे-धीरे वहाँ के वातावरण में आनंद का अनुभव होने लगा। "हरिऔधजी एक बार बाबा सुमेरसिंह के यहाँ काव्य-चर्चा सुन रहे थे। पहले वहाँ रामायण की चौपाइयाँ तथा बिहारीलाल के दोहे पढ़े गये और उन पर उपस्थित विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रकट किये। इसके उपरान्त भाई भगवानसिंह नाम के एक सिक्ख ने आदि ग्रंथ साहब से यह पद पढ़ा :—

"कह कबीर खोजों आसमान।
राम समान न देखों आन।"

इस पद की प्रथम पंक्ति में जो 'असमान' शब्द आया है, इस पर चर्चा चली। सभी उपस्थित सज्जनों से इसका अर्थ पूँछा गया। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपनी बुद्धि के अनुसार इसके भिन्न-भिन्न अर्थ बता कर भाई भगवानसिंह

का समाधान करना चाहा। एक विद्वान् ने बताया था कि 'असमान' का अर्थ आकाश है और यहाँ तात्पर्य यह है कि मैंने खोजने में बहुत परिश्रम किया, परन्तु राम के समान मुझे कोई दूसरा दिखलाई नहीं पड़ा। जिस वस्तु के खोजने में बहु परिश्रम किया जाता है उसके लिए यह कहा भी जाता है कि आकाश पाताल छान डाले गये। यह अर्थ सुनने के बाद हरिऔधजी ने चाचा की आज्ञा लेकर कहा—'असमान' का अर्थ आकाश तो ठीक है, परन्तु जो भाव बतलाया गया है उसके अतिरिक्त मेरे विचार में एक भाव और आता है। हरिऔधजी ने आगे कहा—"समस्त स्वर्ग आकाश में है, वैकुण्ठ भी आकाश ही में है, इसलिये कबीर साहब के कहने का भाव यह है कि (भूतल को कौन कहे) मैंने बड़े-बड़े देवताओं के निवास-स्थान आकाश को भी खोज डाला। परन्तु वहाँ भी राम के समान कोई दूसरा नहीं दिखलाई पड़ा।"* हरिऔधजी की मार्मिक सूझ ने बाबा सुमेरसिंह का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट कर लिया और उन्हें उसी दिन यह पता लग गया कि हरिऔधजी में प्रतिभा है। यदि यह प्रतिभा जाग्रत की गई तो एक दिन इसी के द्वारा हिन्दी-जगत का बड़ा उपकार होगा। उसी दिन से बाबा सुमेरसिंह हरिऔधजी को अपने यहाँ नित्य आने के लिए आमंत्रित करने लगे। इतना ही नहीं अपने पुस्तकालय के सभी ग्रंथों का अवलोकन करने के लिए भी हरिऔधजी को अनुमति दे दी। यही वह सर्व प्रथम घटना थी जिसने हरिऔधजी की उर्वर कल्पना एवं प्रसुप्त प्रतिभा को जाग्रत कर दिया और अब वे केवल श्रोता की हैसियत से ही नहीं अपितु एक लेखक अथवा कवि के रूप में भी वहाँ आने लगे। प्रारम्भ में ये छोटी-छोटी समस्या पूर्तियाँ ही किया करते थे और केवल समस्या-पूर्ति करने वाले से अधिक आपकी प्रतिभा का विकास नहीं हुआ था। किन्तु साहित्य-क्षेत्र में आपने सर्व प्रथम "श्रीकृष्ण शतक" नामक ग्रंथ का निर्माण करके पदार्पण किया। यह ग्रंथ सन् १८८२ ई० में लिखा गया था। इस ग्रंथ के लिए आपको

* महाकवि हरिऔध—पृ० ७१।

चाचा तथा माता जी से प्रेरणा मिली थी। ये दोनों ही हरिऔधजी को अत्यंत दुलार करते थे और कृष्ण भक्त थे। साथ ही उस युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कारण श्रीकृष्ण के प्रति सर्वत्र एक पूज्य-भाव अत्यधिक मात्रा में फैला हुआ था। इस शतक हरिऔधजी ने कोई नवीनता प्रस्तुत नहीं की, एक मात्र परम्परा का ही अनुसरण किया है अब तक श्रीकृष्ण की चर्चा परम-ब्रह्म के रूप में ही हिन्दू-शास्त्रों एवं हिन्दी-कवियों ने अधिक की थी। उसी सर्वनियंता परमब्रह्म के स्वरूप का चित्रण हरिऔधजी ने भी श्रीकृष्ण के रूप में किया है :—

"नमत निगुण निरलेप अज, निराकार निरद्वन्द ।
माया रहित विकार बिन, कृष्ण सच्चिदानन्द ॥
नहिं प्रमाद यामें कछु, ताको है उन्माद ।
कृष्ण ब्रह्मता में करत, जो बावरो विवाद ॥
जाकी माया दाम में, बंधे विरंचि लखाहिं ।
प्रेम डोर गोपिन बंधे, सो डोलत ब्रज माँहिं ॥
सिव चतुरानन हूँ सकल, जो को चाहि न चूमि ।
वा पवन पद रज भई रंजित ब्रज की भूमि ॥"

उक्त शतक पर उस वातावरण का प्रभाव था, जो हिन्दी-कविता में उस समय सर्वत्र व्याप्त था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा इनके समसामयिकों ने भी अपनी अधिकाँश कविताओं में श्री कृष्ण का ऐसा ही स्तवन किया है। ये अधिकाँश कवि तो वैष्णव थे, परन्तु हरिऔधजी के हृदय में कृष्ण जी के प्रति इतनी श्रद्धाभक्ति का होना उनकी माता रुक्मिणी देवी की कृपा का फल था। कारण यह था कि वे नित्य 'सुख सागर' पढ़ा करतीं थीं। जब हरि-औधजी लगभग ७–८ वर्ष के थे, तभी वे प्रायः इनसे सुख सागर 'पढ़वाया करती थीं और जब श्रीकृष्ण का ब्रज से प्रस्थान करने का प्रसंग आता तब वे उसे पढ़ कर अथवा हरिऔधजी से सुनकर अविरल आँसू बहाया करती थीं। श्रीकृष्ण के प्रति माता की इतनी श्रद्धा-भक्ति देखकर ही बालक हरिऔध के

हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति अटूट श्रद्धा एवं समादर की भावना जाग्रत होने लगी। दूसरे उनके चाचा पं० ब्रह्मासिंह जी भागवत सुनाया करते थे, जिसके करुणापूर्ण स्थलों को सुनकर हरिऔधजी मुग्ध हो जाया करते थे। उक्त प्रभावों ने ही हरिऔधजी को सर्वप्रथम 'श्रीकृष्ण शतक' लिखने के लिए वाध्य किया और कृष्ण उनके चरित्र नायक वन गये।

इस ग्रन्थ के तीन वर्ष वाद सन् १८८५ ई० में पहले हरिऔधजी ने 'रुक्मिणी परिणय' नामक एक रूपक लिखा और इसके तीन महीने वाद ही 'प्रद्युम्न-विजय व्यायोग' की रचना की। व्यायोग भी रूपक का ही एक भेद होता है यह वीर रस प्रधान होता है और इसमें स्त्रियाँ विल्कुल नहीं अथवा बहुत कम होती हैं। इसमें एक ही अंक होता है और आदि से अंत तक एक ही कार्य या उद्देश्य से सव क्रियायें होती हैं, और एक ही दिन की कथा का वर्णन होता है। उक्त दोनों रूपकों की रचना करने का उद्देश्य भी श्रीकृष्ण-चर्चा ही जान पड़ता है दोनों ही प्रारंभिक रचनायें हैं और कलात्मकता एवं नाट्य कौशल से शून्य हैं। 'रुक्मिणी-परिणय' में रुक्मिणी द्वारा श्री कृष्ण के प्रति-रूप में वरण किये जाने का वर्णन किया गया है। यह एक लोक-प्रसिद्ध घटना है और श्रीकृष्ण के जीवन में अत्यधिक महत्व रखती है। इसमें सवसे वड़ी विशेषता यह है कि श्रीकृष्ण को अवतारी पुरुष के रूप में ही चित्रित किया गया है। दूसरा 'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग' तो हिन्दी-साहित्य के एक अभाव की पूर्ति करने के लिए लिखा गया जान पड़ता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा लिखित "धनंजय विजय" नामक व्यायोग के अतिरिक्त हिन्दी में कोई व्यायोग-रूपक नहीं मिलता। अतः यह कला की दृष्टि से भले ही उत्कृष्ट न हो परन्तु हिन्दी-साहित्य के एक अभाव की पूर्ति करने के कारण अपना उच्च स्थान रखता है। उक्त दोनों ग्रंथों का प्रकाशन ८-९ वर्ष वाद हुआ, जिसमें 'प्रद्युम्न-विजय-व्यायोग' सन् १८९३ ई० में और 'रुक्मिणी-परिणय' सन् १८९४ ई० में प्रकाशित हुआ।

उक्त दोनों ग्रंथों के १४ वर्ष वाद सन् १८९९ ई० के लगभग हरिऔधजी के तीन कविता-संग्रह—'प्रेमाम्बु वारिधि, 'प्रेमाम्बु प्रसवण' और

'प्रेमाम्बुप्रवाह'—प्रकाशित हुए। इन तीनों संग्रहों में श्रीकृष्ण के प्रति अटूट श्रद्धा-भक्ति का चित्रण मिलता है। कवि के जीवन में श्रीकृष्ण का चरित्र अत्यंत उज्वल एवं भव्य रूप में आकर उपस्थित हुआ था। श्रीकृष्ण के रीतिकालीन स्वरूप की ओर कवि का आकर्षण नहीं हुआ। उन्होंने कृष्णजी की उदात्त भावनाओं से युक्ति मूर्ति ही अपने हृदय में अंकित की थी और उसी को अपनी श्रद्धांजली अर्पित की। उन्हें अन्य भक्त कवियों की भाँति कृष्ण के जीवन में परमब्रह्म एवं मानव दोनों स्वरूपों की झाँकी मिली और दोनों ही स्वरूपों को स्वभाविक ढंग से अपनी कविताओं में स्थान दिया। श्री कृष्ण के परमब्रह्म रूप की झाँकी कितने सुन्दर ढंग से निम्न-लिखित पद में मिलती है :—

"भजहु जन जदुपति कमला नाथ।
सेस सुरेश गनेस सम्भु अज जेहि पद नावत माथ।
सनकादिक नारद निगमागम बरनत जाको गाथ।" इत्यादि

इसी प्रकार—"अकल अनादि अज अजित अरूप अखि—
लेस जगभूप ज्योति अगम जगैया को।
तीन लोक विदित अजादि वन्दनीय बिभु—
सन्त जन काज नाना वपुख धरैया को।"

आदि पदों में कृष्ण के परमब्रह्म स्वरूप का ही चित्रण मिलता है। इसके अतिरिक्त श्री कृष्ण के मानव-रूप का चित्रण भी अत्यंत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है। अन्य भक्त कवियों ने कृष्ण के बाल-रूप से लेकर उनकी क्रीड़ाओं, रास-लीलाओं तथा अन्य-अन्य कार्यों का सुन्दर चित्रण किया है। इसके साथ ही भ्रमर-गीत की रचना करके गोपियों से सुन्दर उपालम्भ भी दिलाए हैं। हरिऔधजी ने भी मानव-स्वरूप का चित्रण करते हुए गोपियों की वेदना एवं हृदयस्त प्रतीति का चित्रण कितनी सफलता के साथ प्रस्तुत किया है :—

"बावरी ह्वै जाती बारबार कहि वेदन को,
बिलखि बिलखि जो बिहार थल रोती ना।

पीर उठे हियरो हमारो टूक टूक होत
ध्याइ प्रान नाथ को कसक निज खोती ना।
"हरिऔध" प्राननाथ गमन विदेस कीने,
नैन नसि जात जो सपन संग सोती ना।
तनु जरिजात जो न अँसुआ ढरत ऊधो,
प्रान कढ़ि जातो जो प्रतीति उर होती ना।

उक्त चित्रण में कोई नवीनता नहीं है; केवल प्राचीन भावों एवं उक्तियों को ही नये ढंग से उपस्थित किया गया है। इसी समय अपना एक और कविता संग्रह "प्रेमप्रपंच" नाम से प्रकाशित हुआ। इस चारों संग्रहों को मिलाकर बाद में एक "काव्योपवन" नमक कविता-संग्रह सन् १९०९ ई० में निकाला गया। इन समस्त कविताओं में भक्तिकाल एवं भारतेन्दुकाल की प्रवृत्तियाँ ही झाँक रही हैं। भक्तिकाल में जिस प्रकार श्रीकृष्ण के लौकिक एवं पारलौकिक दोनों रूपों का सम्मिश्रण करके पद लिखे गये थे। वही बात हरिऔधजी के उक्त संग्रह में भी है। अभी तक हरिऔधजी पर कोई नवीन संस्कार नहीं पड़े थे। प्राचीन-कविता एवं प्राचीन-संस्कारों के प्रभाव से उत्पन्न कविता में प्राचीनता के अतिरिक्त नवीनता कहाँ आ सकती थी। हाँ, इतना अवश्य है कि रीतिकालीन कवियों की भाँति हरिऔधजी ने श्री कृष्ण के केवल रसिकशिरोमणि रूप का चित्रण नहीं किया। हरिऔध जी के कृष्ण अवतक शुद्ध प्रेमस्वरूप, परमब्रह्म, विश्व-नियंता एवं सृष्टि-संचालक ब्रह्म का स्थान ग्रहण किये हुए थे। उनके मानवीय कृत्यों में भी उन्हें असाधारण मानवत्व की ही झलक दिखाई देती थी।

इसके उपरान्त द्विवेदी-काल की प्रवृत्तियों का आगमन हुआ। इस युग में सर्व प्रथम कविता एवं गद्य दोनों की एक भाषा होने के लिए आन्दोलन चलाया गया और द्विवेदी जी के अथक परिश्रम से इस आन्दोलन में पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई। अब तक कवित्त-सवैया तथा रोला-छप्पय आदि प्राचीन छंदो का ही बोलवाला था, अब तक द्विवेदी जी ने संस्कृत-छंदों में रचना करने के लिए भी आग्रह किया और मैथिलीशरणगुप्त, रूपनरायण

पांडेय आदि कवि संस्कृत वृत्तों में रचना करने लगे। इनसे पूर्व श्रीधर पाठक भी संस्कृत-छंदों में रचना कर चुके थे। इनके अतिरिक्त चम्पारन के प्रसिद्ध विद्वान और कवि पं० चन्द्रशेखर मिश्र सर्व प्रथम संस्कृत वृत्तों में सुन्दर रचना प्रस्तुत कर चुके थे। उर्दू छंदों का भी प्रचार बढ़ने लगा, साथ ही 'ठेठ हिन्दी' लिखने का आग्रह भी दिन-दिन जोर पकड़ता गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में अँग्रेज़ी विद्वान डाक्टर ग्रियर्सन ने खड्ग विलास प्रेस के अध्यक्ष बा० रामदीन सिंह का ध्यान ठेठ हिन्दी में कोई ग्रंथ प्रकाशित करने के लिए आकर्षित किया था। उक्त आग्रह पर बा० रामदीनसिंह जी ने हरिऔधजी से डाक्टर साहब की इच्छापूर्ति करने के लिए अनुरोध किया। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' इसी अनुरोध के कारण सन् १८९९ में लिखा गया। यह उपन्यास डा० ग्रियर्सन को इतना पसंद आया कि इसे तत्कालीन इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए पाठ्य पुस्तक रूप में स्वीकार कर लिया गया। साथ ही हरिऔधजी से ऐसा ही और दूसरा ग्रंथ लिखने के लिए भी आग्रह किया गया। तदुपरान्त ८ वर्ष बाद सन् १९०७ ई० में 'अधखिला फूल' नामक दूसरे उपन्यास की सृष्टि की। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' नामक उपन्यास सामाजिक है और उसमें हरिऔधजी की मानसिक क्रान्ति का श्री गणेश हुआ है। कला के विकास की दृष्टि से भी यह ग्रंथ पर्याप्त महत्व रखता है। 'अधखिला फूल' आकार में 'ठेठ हिन्दी के ठाट' से कहीं बड़ा है। उसकी भाषा भी ठेठ हिन्दी ही है। इसमें एक और विशेषता यह है कि यत्र-तत्र जो पद्य मिलते हैं, उनमें फारसी के छंदों का प्रयोग किया गया है। ये चौपदे उर्दू के "फ़ाइलातुन् मफ़ाइलातुन् फ़ेलन्" के ढंग पर लिखे गये हैं :—

"कितने ही घर हैं पाप ने घाले।
कितने ही के किये हैं मुँह काले।
पाप की बान है नहीं अच्छी।
ओ न पापों से काँपने वाले॥

सोते हो तेल कान में डाले ।
धर्म के हैं तुम्हें पड़े लाले ।
नाव डूबेगी बीच धार तेरी ।
ओ धरम के न पालने वाले ।।"

इसके उपरान्त हरिऔधजी की अमर रचना 'प्रियप्रवास' ने हिन्दी जगत में अवतीर्ण होकर हिन्दी-प्रेमियों को आश्चर्य में डाल दिया । यह महाकाव्य १५ अक्टूबर सन् १९०८ ई० से प्रारम्भ होकर २४ फरवरी सन १९१३ ई० में समाप्त हुआ । पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खड़ी बोली तथा संस्कृत वृत्तों की ओर हिन्दी-कवियों का ध्यान 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा आकृष्ट किया था । वे अपनी रचनाओं द्वारा भी कवियों के हृदय में संस्कृत वृत्तों एवं खड़ी बोली कविता के लिये आकर्षण उत्पन्न करते थे । उनका अनुसरण भी कितने ही कवियों ने किया, परन्तु कोई भी श्रेष्ठ महाकाव्य निर्माण नहीं कर सका । हरिऔधजी ने ही सर्वप्रथम इस अभाव की पूर्ति की । वैसे अभी तक हरिऔधजी भी व्रजभाषा में ही कविता किया करते थे, जिनके कि उदाहरण उपर दिये जा चुके हैं । परन्तु अब हरिऔधजी के हृदय में भी एक तीव्र आकांक्षा उत्पन्न हुई कि खड़ी बोली को अपना कर हिन्दी साहित्य में भी एक ऐसे महाकाव्य का निर्माण किया जाय, जो समस्त संस्कृत वृत्तों में हो और जिसमें वर्तमान नवीन दृष्टि-कोणों को भी स्थान दिया जाय । इसके लिए उन्हें अपने सर्वाधिक प्रिय श्रीकृष्ण के चरित्र के अतिरिक्त और किसका चरित्र मिल सकता था । इधर श्रीकृष्ण चरित्र का उद्घाटन करते-करते लेखनी भी मँज चुकी थी । अतः 'प्रियप्रवास' जैसे महाकाव्य का निर्माण करना उनके लिए रुचिकर एवं हृदयस्थ भावना के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ उक्त ग्रंथ को संस्कृत-गर्भित उत्कृष्ट खड़ी बोली में लिखा और इसकी भाषा संबंधी क्लिष्टता का कारण ग्रंथ की भूमिका में इस प्रकार दिया :—"कुछ संस्कृत वृत्तों के कारण और अधिक-तर मेरी रुचि से इस ग्रंथ की भाषा संस्कृत गर्भित है । क्योंकि अन्य प्रान्त वालों में यदि समादर होगा तो ऐसे ही ग्रंथों का होगा । भारतवर्ष भर में

संस्कृत भाषा आहत है, बँगला, मरहठी, गुजराती, वरन् तामिल और पंजाबी तक में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। संस्कृत शब्दों को यदि अधिकता से ग्रहण करके हमारी हिन्दी भाषा उन प्रान्तों के सज्जनों के सम्मुख उपस्थित होगी तो वे साधारण हिन्दी से उसका अधिक समादर करेंगे, क्योंकि उसके पठन-पाठन में उनको सुविधा होगी और वे उसको समझ सकेंगे। अन्यथा हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने में दुरूहता होगी, क्योंकि सम्मेलन के लिए भाषा और विचार का साम्य ही अधिक उपयोगा होता है। इस कथन से उनके काव्य में प्रयुक्त संस्कृत-तत्सम शब्दों की बहुलता की समस्या का समाधान हो जाता है। कुछ भी हो इस काव्य द्वारा हरिऔधजी ने खड़ी बोली के काव्य-जगत में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। कृष्ण एवं राधा का लोकोपकारी स्वरूप, प्रकृति-चित्रण की नूतनता, संस्कृत वृत्तों एवं शैली की विविधता आदि द्वारा इस महाकाव्य ने हिन्दी-क्षेत्र में नूतनता का संदेश सुनाया।

जिस समय हरिऔध इस महाकाव्य का निर्माण कर रहे थे, उससे पूर्व उन्होंने कुछ शृंगार-विषयक रचनायें भी लिखीं; जो बाद में संगृहती होकर 'रसकलश' के अन्तर्गत सन् १६३१ में प्रकाशित हुईं इससे पूर्व हरिऔधजी के 'चोखे-चौपदे', । 'चुभते चौपदे' और बोल चाल' नामक तीन काव्य प्रकाशित हुए। इन तीनों में से 'चौखे चौपदे' का का प्रकाशन १६२४ ई० में हुआ। इसके अन्तर्गत बोल चाल की भाषा के अन्तर्गत मुहावरों का पुट देते हुए मानव-जीवन के चित्र अंकित किए गये हैं। 'प्रिय प्रवास' की भाषा जहाँ संस्कृत-गर्भित एवं बोल-चाल से सर्वथा परे की वस्तु है, वहाँ चौखे चौपदे' सरल, स्वाभाविक मनोरंजक हैं तथा उर्दू के वत्रों में लिखे गये हैं। 'प्रिय प्रवास' एक प्रबंधकाव्य है जब कि 'चोखे चौपदे' मुक्तक काव्य के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार वर्ण्य विषय, भाषा, छंद, शैली सभी बातों में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। 'प्रिय प्रवास'पढ़ने के उपरान्त यह आश्चर्य होता है कि तत्सम शब्दावली युक्त गंभीर महाकाव्य का लेखक क्या कभी ऐसी चलती फिरती भाषा में ऐसे सरल और मनोरंजक साहित्य का भी निर्माण

करेगा। दोनों से उदाहरण लेकर दोनों के अंतर को देखा जा सकता है। 'प्रियप्रवास' की संस्कृत-पदावली युक्त रचना प्रायः इस प्रकार की है:—

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु-विम्वानना।
तन्वङ्गी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला- पुत्तली।
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीला मयी।
श्रीराधा-मृदु भाषिणी मृगदृगी माधुर्य्य-संमूर्ति थी।

और 'चोखे चौपदे' की भाषा एवं अभिव्यंजना प्रणाली अत्यन्त सरल, सुबोध और मुहावरेदार है। उसमें प्रकृति चित्रण और सौंदर्य-चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक और सीधे हैं:—

१—देह सुकुमारपन बखाने पर। और सुकुमारपन बतोले हैं।
छूगये नेक फूल के गजरे। पड़गये हाथ में फफोले हैं।"
२—धुल रहा हाथ जब निराला था। तब भला और बात क्या होती।
हाथ के जल गिरे ढले हीरे। हाथ झाड़े बिखर पड़े मोती।

उपर्युक्त पंक्तियों में कितनी सरल, सुबोध और स्वाभानिक बोल चाल की भाषा का प्रयोग किया गया है। यही दशा 'चुभते चौपदे' नामक रचना में है। वहाँ भी लोक-भाषा का प्रयोग किया गया है यही दशा 'चुभाते चौपदे' नामक रचना में है। वहाँ भी लोक-भाषा का प्रयोग किया है। और मुहावरों तथा लोक-प्रचलित शब्दों में मानवीय भावों की अभिव्यक्ति मिलती है। उर्दू के वज़न और हिंदी छंदों की मात्राओं की शुद्धता का ध्यान रखने के कारण उन्हें इन कविताओं के लिखने में अधिक सतर्क रहना पड़ा होगा। इन चौपदों में श्लेष और मुहावरे तो पद-पद पर हिलोरें लेते हुए मिलते हैं। कहीं-कहीं तो इतनी मार्मिक अभिव्यक्ति है कि सुनकर पुरानी हड्डियों में भी ज़ोश आजाता है। उनके इन चुभते चौपदों के भी उदाहरण देखिए:—

'सैकड़ों ही कपूत काया से,
है भली एक सपूत की छाया।

हो पड़ी चूर खोपड़ी ने ही,
अन गनित वाल पाल क्या पाया।

यहाँ पर "वाल" शब्द के श्लेषात्मक प्रयोग ने पद में जान डालदी है। ऐसी ही एक चुभती हुई उक्ति वेमेल-विवाह पर है:—

"वंस में घुन लगा दिया उसने
और नई पौध की कमर तोड़ी।
जाति को है तवाह कर देती,
एक अल्हड़ अधेड़ की जोड़ी।"

तीसरी मनोरंजक रचना 'वोलचाल; है। 'वोल चाल' सन् १६२८ ई० में प्रकाशित हुई। भूमिका में आपने लिखा है—"मैंने सोचा, यदि सात आठ सौ पद्य भी इस नमूने के वन जावेंगे तो चाहे और कुछ न हो. चाहे वे किसी काम के न हों, पर मैं जो चाहता हूँ वह हो जावेगा। × × × × जव हिन्दी साहित्य पर आँख डाली तो उसमें मुहावरे की कोई पुस्तक न दिखाई पड़ी। खड़ी बोली कविता के फलने-फूलने के समय किसी ऐसी पुस्तक का न होना भी मुझे वहुत खटका। × × × × इसलिए मैंने सोचा कि मुहावरों पर ही एक पुस्तक लिखूँ।" उक्त कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'बोलचाल' काव्य का निर्माण केवल मुहावरों का सफ़ल प्रयोग करने के निमित्त ही हुआ था। 'वोलचाल' तथा चौपदों में जिस विषय का प्रतिपादन कवि ने किया है, भाषा भी उसके सर्वथा अनुकूल है। इसे देखकर यह मानना पड़ता है कि विषय निर्वाचन के साथ-साथ भाषा-निर्वाचन में भी हरिऔधजी वड़े सिद्धा हस्त थे। 'बोलचाल' के कुछ नमूने भी नीचे दिए जाते हैं, जिनमें कवि की मुहावरेदानी द्रष्टव्य है:—

" मतलवों का भूत सिर पर है चढ़ा।
दूसरों पर निज वला टालें न क्यों।
जव गई है फूट आँखें भीतरी।
लोन राई आँख में डालें न क्यों।

क्यों निचुड़ता न आँख से लहू।
जब लहू खौल बेतरह पाया।
आँख होती न क्यों लहू जैसी।
आँख में जब लहू उतर आया।"

उक्त तीनों मनोरंजक एवं मर्मस्पर्शी रचनाओं के अतिरिक्त सन् १९२५ ई० में आपका 'पद्य प्रसून' प्रकाशित हुआ था। इसके उपरान्त सन् १९३१ ई० में आपकी शृँगार संबंधी रचनायें 'रस-कलस' द्वारा पाठकों के सम्मुख आईं। रसकलस में आकर ये रीति-कालीन परिपाटी का पालन करते हुए दिखाई देते हैं। यहाँ हरिऔध कवि और आचार्य दोनों रूपों में विद्यमान हैं। प्रियप्रवास में यदि उनके भावुक रूप के दर्शन होते हैं, तो चौपदों में वे उपदेशक बन गये हैं और रसकलस में आकर आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित हो गये हैं। यही दशा उनके भाषा संबंधी विचार की है। 'रस-कलस' में आप की व्रजभाषा में रची हुई रचनाओं का प्रौढ़तम रूप मिलता है, तो चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' और 'बोलचाल' में आपकी बोलचाल की भाषा का उत्कृष्ट स्वरूप विद्यमान है और 'प्रियप्रवास' तथा वैदही वनवास में खड़ी बोली अथवा उच्च हिन्दी रूप की प्रतिष्ठा मिलती है। इस प्रकार अपनी नैसर्गिक प्रतिभा के बल से अपने समयानुसार भाषा में परिवर्तन करके अपनी रचनायें प्रस्तुत कीं। सबसे महत्व की बात यह है कि द्विवेदी-युग में आकर भी आपने 'रसकलस' जैसे व्रजभाषा के ग्रंथ का निर्माण किया। यह युग तो खड़ी बोली का युग था, सर्वत्र खड़ी बोली के ही गीत गाये जाते थे और सभी कवियों के साथ आपका झुकाव भी खड़ी बोली की ओर अच्छी प्रकार हो चुका था। परन्तु आपके ऊपर असाधारण प्रतिभा थी, और कई भाषाओं पर पूरा अधिकार था। 'रसकलस' की भूमिका लिखते हुए पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने लिखा है:—

"भाषा के समस्त प्रधान और साहित्यिक रूपों पर—चाहे वह खड़ी बोली हो, चाहे ठेठ हिन्दी या कथित (So-Called) हिन्दुस्तानी

(चलती हुई वा मुहावरा साधारण हिन्दी) चाहे ब्रजभापा हो और चाहे अवधी, सभी पर आपको असाधारण और पूरा अधिकार प्राप्त है।"

'रसकलस' का निर्माण करने का कारण यह था कि अभी तक हिन्दी साहित्य में रस का जितना भी विवेचन रीति-काल के अंतर्गत हुआ था उसमें कामुकता एवं अश्लीलता के अतिरिक्त भव्य एवं उदात्त रूप नहीं मिलता था। रस काव्य की आत्मा है और उसी का ऐसा अश्लील और कुरुचि पूर्ण वर्णन हरिऔधजी जैसे नैतिक पुरुष को कैसे अच्छा लग सकता था इसी कारण आपने रस का एक भव्य, निखरा हुआ और सत्य रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया इस ग्रंथ के निर्माण में कवि ने परम्परागत मान्यताओं को सर्वथा ठुकराया नहीं है। उन बातों को अच्छे ढंग से उपस्थित करते हुए आपने अपनी कुछ मौलिक उद्भावनायें भी की हैं। काव्य प्रकाश, साहित्यदर्पण, रस गंगाधर तथा हिन्दी के अंतर्गत लिखे हुए रीतिकालीन ग्रंथों का अध्ययन करके उनकी समस्त बातें हरिऔधजी ने आत्मसात करली थीं और अवगुणों को छोड़कर शेष उचित एवं उपयुक्त सभी बातों को अपने 'रस कलस' में लाकर उपस्थिति कर दिया। मौलिक उद्भावनाओं में हरिऔध जी की नव-निर्मित नायिकायें आती हैं। रीतिकाल में अभी तक जनि नायिकाओं की कल्पना की गई थी, उनके अतिरिक्त इस युग के अनुकूल कुछ नई नायिकायें भी हरिऔधजी को दिखाई दीं और उनको चित्रित करने का लोभ भी वे संवरण न कर सके। अतः उन्होंने पति-प्रेमिका, परिवार प्रेमिका, जाति-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, जन्मभूमि प्रेमिका निजतानु रागिनी, लोक-सेविका, धर्म-प्रेमिका आदि नवीन नायिकाओं के स्वरूप का चित्रण किया। समस्त नायिकाओं के स्वरूप एवं स्वभाव के उदाहरण 'रसकलस' की पृथक आलोचना करते समय आगे देंगे। यहाँ पर केवल देश-प्रेमिका एवं लोक-सेविका के ही उदाहरण पाठकों को नवीन नायिकाओं से परिचित कराने के लिए पर्याप्त हैं:—

(१) देशसेविका—

"गौरवित ससत अतीत गौरवों ते होति
गुरु-जन, गुरुता हैं कहती कबूलती।

मुदित वनति अवनीतल में फैलि फैलि
कीरति की कलित-लता को देखि भूलती।
'हरिऔध' प्रकृति-अलौकिकता अवलोकि
प्रेम के हिंडोरे पै हैं पुलकित झूलती।
भारत की भारती-विभूति ते प्रभावित ह्वै
भामिनी भली है भारतीयता न भूलती।

(२) लोक सेविका :—

सेवा सेवनीय की करति सेविका समान
सेवन और सेवनीयता ने सँवरति है।
सधवा को सोधि सोधि सोधति सुधारति है
विधवा को बोधि बोधि बुधता बरति है।
'हरिऔध' धोवति कलंकिनी-कलंक-अंक
बंक-मति-बंकता असंकता हरति हैं।
आनंदित होति करि आदर अनिन्दित को
निंदित की निंदनीयता को निदरति है।

इन नायिकाओं के अतिरिक्त हरिऔधजी ने नारी-सौंदर्य के स्वाभाविक विकास का भी सफल चित्रण 'रसकलस' में किया है। वे मुग्धा नायिका के सौंदर्य का चित्रण करते हुए कहते हैं :—

"पीन भये उरभाव मनोहर केहरि सी कटि खीन भई है।
बंकता भौंहन माँहि ठई मुख पै नव जोति कला उनही है।
जोवन अंग दिप्यो हरिऔध गये गुरु हूँ अब आय कई हैं।
केस लगे छहरान छवान छवे कानन लौं अँखियान गई हैं।

इतना ही नहीं 'रसकलस' में परकीया नायिका की व्याकुलता, तन्मयता, एवं अन्य स्वाभाविक गति-विधियों का भी सफल चित्रण किया गया है। इसके साथ ही विभिन्न अलंकारों के उदाहरण भी उपस्थित किये हैं। परन्तु 'रसकलस' में हरिऔध जी का ध्यान जितना सरस और ललित पद-योजना की ओर रहा है उतना अर्थालंकारों के प्रदर्शन में नहीं दिखाई देता। इस

प्रकार इस ग्रंथ में हरिऔधजी ने भाषा और भाव-संगीत को उचित स्थान देने का प्रयत्न किया है। वैसे भाषा-शैली और विषय की नवीनता के कारण यह ग्रंथ अनुपम और अनूठा है। इसे देखकर हरिऔधजी की सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय भली प्रकार हो सकता है। इसके साथ ही युग की नवीन-विचारधारा के अनुसार साहित्य-शास्त्र में परिवर्तन करने की रुचि के भी यहाँ दर्शन होते हैं।

इसके उपरान्त 'वैदेही 'वनवास' नामक महाकाव्य की रचना प्रारंभ हुई। इस महाकाव्य का प्रकाशन सन् १९४० में हुआ। इसकी सूचना तो आपने 'प्रिय प्रवास' की समाप्ति पर ही दे दी थी, परन्तु कई व्यवधान ऐसे पड़ गये जिसके कारण इसे शीघ्र समाप्त नहीं कर सकें। विशेषतया वे बोलचाल की भाषा में जन-साहित्य का निर्माण करते रहे और चोखे चौपदे' 'चुभते चौपदे' तथा 'बोलचाल' इन तीन ग्रंथों में २४ वर्ष लग गए। अभी तक वे कृष्ण एवं राधा के चरित्र से ही सर्वाधिक प्रभावित थे, परन्तु इस महाकाव्य में राम और सीता के जीवन को भी अपने नवीन दृष्टिकोण के साथ अंकित किया है। यह महाकाव्य करुण-प्रधान है। इसमें विभिन्न मात्रिक छंदों के अंतर्गत राम और वैदेही के श्रेष्ठ एवं पावन मानवीय चरित्र की झाँकी प्रस्तुत की गई है। प्रकृति-चित्रण की दृष्टी से तो यह अत्यंत उत्कृष्ट है, परन्तु काव्य कला की दृष्टी से इसका उतना आदर हिन्दी जगत में नहीं हुआ जितना कि प्रिय प्रवास का हुआ है। 'प्रिय प्रवास' की ही भाँति इस महाकाव्य में भी हरिऔधजी ने समस्त अलौकिक एवं असाधारण घटनाओं को यथा-संभव लौकिक एवं साधारण बनाने का प्रयत्न किया है। उपदेशात्मकता तथा इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता रहने के कारण कहीं-कहीं यह महाकाव्य नीरस सा होगया है, परन्तु लोक-संग्रह और लोकनुरंजन की भावना ने इस महाकाव्य को भी उत्कृष्टता प्रदान की है।

द्विवेदी काल की अन्य फुटकल रचनाओं का एक संग्रह 'पारिजात' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें यद्यपि द्विवेदीकालीन रचानायें ही हैं, परन्तु इन रचनाओं में नवीन-युग की झाँकी भी मिलती है। इस ग्रंथ की भाषा,

शैली तथा छंद आदि में पहले की अपेक्षा पर्याप्त परिवर्तन मिलता है। इसमें वर्णिक छंदों का ही प्रयोग न हो कर मिश्रित छंदों को भी अपनाया गया है। इसकी भाषा में दोनों रूप विद्यमान हैं। कहीं तो वह बिलकुल बोलचाल की मुहावरेदार है तो कहीं संस्कृत समासों से युक्त अत्यंत प्रौढ़। द्विवेदी-कालीन उपदेशात्मकता तथा उद्‌गारात्मक प्रयोग इसमें भी मिलते हैं, परन्तु इसमें कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं जो हरिऔध जी को नवयुगीन कवियों की पंक्ति में लाकर बैठा देती हैं। इसी संग्रह से उनके जीवन में नवीनता का प्रारंभ होता है। इस नवीनता का रूप—

"क्या समझ नहीं सकती हूँ
प्रियतम मैं मर्म तुम्हारा ?
पर व्यथित हृदय में बहती,
क्या रुके प्रेम की धारा ?

जैसी पंक्तियों में मिल सकता है।

'पारिजात' में आते आते 'हरिऔध जी का वर्णिक वृत्तों से सर्वथा मोह जाता रहा। यहाँ उनकी मनोवृत्ति में सुधारवादी दृष्टिकोण की प्रधानता होगई और कुछ प्रसंगों पर तो कवि के हृदय को दार्शनिकता एवं धर्म-प्रचारक की भावना ने अभिभूत कर लिया। उदाहरण के लिए द्वितीय सर्ग में 'अकल्पनीय', नवम सर्ग में 'सांसारिकता', दशम सर्ग में 'स्वर्ग', एकादश सर्ग में 'कर्म विपाक' तथा 'द्वादश-सर्ग में आये हुए 'प्रलय-प्रपंच' के प्रसंगों में उक्त मनोवृत्ति को देखा जा सकता है। 'वैदेही वनवास' महाकाव्य की रचना के पहले ही आपकी फुटकर कविताओं में सुधारवादी मनोवृत्ति का प्राधान्य हो गया था। यह मनोवृत्ति अन्त तक बनी रही। यही कारण है कि उक्त महाकाव्य एवं अन्य फुटकर रचनाओं में समाज-सुधार के लिए संग्रह की भावना अधिक हिलोरें लेती रहीं।

हरिऔधजी की विवेचना शक्ति अत्यन्त तीव्र और तल-स्पर्शिनी थी। आप जब बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हो गये तो वह कवियों की विवेचना एवं भाषा तथा साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन की

ओर भी आपका झुकाव हुआ। इसी बीच में पटना विश्वविद्यालय के लिए आपने भाषण-माला तैयार की यह भाषण-माला "हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास" नाम से प्रकाशित हुई। हिन्दी-हितैषियों ने इसका बड़ा आदर किया और भाषा की उत्पत्ति तथा हिन्दी-भाषा में लिखे गये विविध विषयों के ग्रंथों का परिचय भी प्राप्त किया। अभी तक इतना विवेचना-पूर्ण हिन्दी वाङ्मय का परिचय किसी ने नहीं दिया था। हिन्दी-साहित्य के इतिहास तो अनेक उपलब्ध थे, परन्तु विज्ञान, अर्थशास्त्र, आदि अन्य विषयों पर लिखे गये ग्रंथों का विवेचन किसी भी इतिहास में नहीं मिलता था। इसी अभाव की पूर्ति तथा हिन्दी-भाषियों को हिन्दी ने समुचित विकास की ओर उन्मुख करने के लिए आपने "हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास" का निर्माण किया। इसमें जितने लेख अथवा भाषण सांगृहीत हैं वे सभी हरिऔधजी की अप्रतिम विवेचना शक्ति एवं सूक्ष्म अध्ययन शीलता के परिचायक हैं। आपने हिन्दी-साहित्य के समस्त अंगों पर तीक्ष्ण दृष्टि से प्रकाश डाला है और साहित्य-समुद्र का मंथन करते हुए उसके अनमोल रत्नों की छाटा को हिन्दी-हितैषियों के लिए उपस्थित किया है।

बचपन से ही कबीर के पदों का हरिऔधजी के हृदय पर गहरा प्रभाव था। बा० सुमेरसिंह के यहाँ कबीर के एक पद के संबन्ध में जो विचार आपने प्रकट किये थे, उनका उल्लेख हम प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। आगे चलकर आपने 'बकीर वचनावली' पर अपनी स्वतंत्र आलोचना प्रस्तुत की, जिसमें कबीर का विस्तृत आलोचनात्मक अध्ययन करके पाठकों के लिए कबीर की कितनी ही गूढ़-ग्रंथियों को खोल कर रखने का समुचित प्रयत्न किया। इस आलोचना के अंतर्गत हरिऔधजी की साहित्य मर्मज्ञता भली प्रकार देखी जा सकती है। उक्त आलोचनात्मक विवेचनों के अतिरिक्त आपने 'प्रिय प्रवास', 'बोलचाल' तथा 'रसकलस' की जो भूमिकाएँ लिखी हैं, वे ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक व्याख्या के अतिरिक्त विषय को अवगत कराने में पूर्ण सहायक सिद्ध हुई हैं। इन भूमिकाओं को पढ़ कर कोई भी हिन्दी का विद्वान् हरिऔधजी की कला-मर्मज्ञता एवं साहित्य-शास्त्र की गहन

अध्ययनशीलता की प्रशंसा किए विना नहीं रह सकता। सभी भूमिका में विस्तृत आलोचनात्मक अध्ययन उपस्थित करती हैं और विषय-प्रतिपादन की अनूठी शैली एवं तुलनात्मक दृष्टिकोण-जन्य मार्मिक-विवेचन-शीलता की परिचायक हैं। इन्हें देखकर कोई भी व्यक्ति हरिऔधजी को कलाकार के अतिरिक्त साहित्याचार्य्य कहे विना नहीं रह सकता। 'रसकलस' की लगभग २४० पृष्ठों का भूमिका में साहित्य-सिद्धान्तों एवं रस, अलंकार आदि की जिन सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों की ओर हरिऔधजी ने संकेत किया है, वह उनके प्रकांड पांडित्य की पूर्ण परिचायिका हैं। ऐसा ही एक आलोचनात्मक विवेचन 'साहित्य-संदर्भ' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिसमें हरिऔधजी की साहित्य संबंधी सत्यान्वेषण की तत्परता के दर्शन होते हैं। समस्त आलोचनात्मक ग्रंथों के देखने पर पता चलता है कि हरिऔध जी में जितनी क्षमता कलात्मक साहित्य के सृजन करने की थी, उतनी ही उसकी विवेचना करने के लिए भी विद्यमान थी। आपकी इसी कार्य-कुशलता को देख कर पं० रामशंकर शुक्ल एम० ए० 'रसाल' ने लिखा था—"आप खड़ी बोली के सर्वोत्तम प्रतिनिधि, कवि सम्राट, मर्मज्ञ, ठेठ हिन्दी के अनुकरणीय लेखक तथा वोलचाल की भाषा के विशेषज्ञ माने जाते हैं। आप सरल और क्लिष्ट दोनों प्रकार की साहित्यिक भाषा के सिद्धहस्त लेखक एवं कवि हैं। खड़ी बोली के विविध रूपों तथा उसकी शैलियों पर आपका पूरा अधिकार है, मुहाविरों तथा लोकोक्तियों के प्रयोग में आप पूर्ण पटु पंडित हैं।

आपने कुछ अनुवाद भी किए। सन् १८८७ ई० में आपने नार्मल स्कूल की परीक्षा पास की थी। आजमगढ़ के डिप्टी इन्सपैक्टर स्व० बाबू श्याममनोहर दास हिन्दी के बड़े प्रेमी तथा शुद्ध-हिन्दी के बड़े पक्षपाती थे। इन्स्पैक्टर साहब हरिऔधजी से बड़े प्रसन्न रहते थे। उनकी यह बड़ी अभिलाषा थी कि 'काशीपत्रिका' में सम्पादित उर्दू भाषा में लिखे हुए 'वेनिस का बाँका' और 'रिपवान विंकल' नामक उपन्यासों का विशुद्ध हिन्दी में रूपान्तर हो जाय। इस कार्य को उन्होंने हरिऔधजी के सुपुर्द किया। हरिऔधजी ने तभी सन् १८८८ ई० के लगभग दोनों उपन्यासों का

इतना सुन्दर हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत किया कि हरिऔधजी को डिप्टी इन्स्पैक्टर साहब के सहयोग से गिरदावर क़ानून गो का पद प्राप्त हो गया। इनके अतिरिक्त आपके 'वेनिस का बाँका' नामक अनूदित उपन्यास की समालोचना पं० प्रताप नारायण मिश्र द्वारा सम्पादित 'ब्राह्मण" पत्र में प्रकाशित हुई। उसमें लिखा था "यह ऐसा उपन्यास है कि हाथ से छोड़ने को जी नहीं चाहता; जिस बात का जिस अध्याय में वर्णन है कि उसका पूरा स्वाद होता है। हिन्दी के भंडार का गौरव ऐसे ही ग्रंथों से है।" इनके अतिरिक्त कुछ निबंधों का भी आपने अनुवाद किया, जो 'नीति निबंध' के नाम से प्रकाशित हुए। अनूदित रचनाओं में कुछ पद्य-संबंधी रचनायें भी मिलती हैं, जिनका अनुवाद हरिऔधजी ने केवल उनसे प्रेम रखने एवं उनके सुरुचिपूर्ण होने के कारण किया था। इन अनूदित पद्यों में, 'उपदेश कुसुम' तीन भाग तथा 'विनोद वाटिका' आते हैं। प्रथम अनुवाद फारसी के गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय से प्रस्तुत किया गया है और दूसरा "गुलज़ार दबिस्ताँ" का अनुवाद है। इन अनुवादों से आपके फारसी-ज्ञान का भली प्रकार परिचय प्राप्त हो सकता है। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि बनारस के क्वींस कॉलेज से लौट आने पर आपने संस्कृत, फ़ारसी तथा बंगाला का अध्ययन घर पर रह कर ही किया था। उक्त अनुवाद आपके उसी फारसी अध्ययन के फल हैं।

हरिऔधजी की कविताओं का एक संग्रह 'ऋतुमुकुर' के नाम से भी प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त "हरिऔध सतसई" के नाम से भी एक मुक्तक-काव्य निकल चुका है। आपकी समस्त अंतिम कविताओं का संग्रह 'मर्म-स्पर्श" के नाम से अभी-अभी राजपाल एण्ड संस दिल्ली के यहाँ से प्रकाशित हुआ है इसमें २०७ कवितायें संगृहीत हैं, जो हरिऔधजी के समय-समय पर उठने वाले उद्‌गारों की परिचायिका हैं। इन कविताओं पर प्राचीनता एवं नवीनता दोनों की छाप है। कुछ कवितायें तो आधुनिक काव्य-शैली से पूर्णतया रंजित हैं, परन्तु प्रारंभिक कविताओं में द्विवेदी

कालीन उपदेशात्मकता तथा इतिवृत्तात्मक भी झाँक रही है। उदाहरण के लिए "स-सार' संसार" नामक कविता देखिए :—

"है असार संसार नहीं।
यदि उसमें है सार नहीं तो सार नहीं है कहीं।
जहाँ ज्योति है परमदिव्य, दिव्यता दिखाई वहीं।
क्या जगमगा नहीं ए बातें तारक-चय ने कहीं।
दिखलाकर अगाधता विभु की निधि-धारायें बहीं।
कब न छटायें उसकी सब छिति तल पर छिटकीं रहीं।
दिव्य दृष्टि सामने आवरण-भीतें सब दिन ढहीं।
अधिक क्या कहें, मुक्ति मुक्त मानव ने पाई यहीं।"

परन्तु इसी संग्रह में "निर्मम संसार" नामक कविता आगे दी गई है जिसमें संसार के ऊपर नवीन काव्य-शैली में विचार प्रगट किए गए हैं। इस कविता से लाक्षणिकता एवं प्रतीकात्मकता भी विद्यमान है, जो आधुनिक कविता की प्रमुख वस्तुयें मानी जाती हैं। 'निर्मम संसार' का उल्लेख करता हुआ कवि कहता है :—

"वायु के मिस भर-भर कर आह,
ओस मिस बहा नयन-जलधार।
इधर रोती रहती है रात,
छिन गये मणि-मुक्ता का हार॥
उधर रवि आ पसार कर कान्त,
ऊषा का करता है शृंगार।
प्रकृति है अतिशय करुणाहीन,
बड़ा निर्मम है यह संसा॥

उक्त संग्रह में सामायिक कवितायें ही पर्याप्त मात्रा में हैं। कभी कवि "हिन्दुओं में हैं रंगे सियार, और हैं आस्तीन के साँप" कह कर यहाँ के लोगों को 'उत्थान' के लिए अग्रसर करता है, तो कहीं भारत के उन विदेशी भक्तों की मखौल उड़ाता है जिन्हें—

"साहबी ढंग रिझाता है,
सुरा का बड़ा सहारा है।
साहबीयत से है पटती,
रंग गोरा ही प्यारा है।"

इसके अलावा यदि कहीं 'बड़ा दुर्गम है भव पथ पथिका" कह कर सांसारिक प्राणी को संभल संभल कर जीवन पार्यन करने की चेतावनी दी है तो कहीं "स्वतंत्रता है किसे न प्यारी कौन नहीं उसका दम भरता" कह कर स्वतंत्रता के लिए अपनी सरस भावना व्यक्त की गई है। ऐसे ही कहीं 'शिक्षा' पर अपने विचार प्रकट किये हैं तो कहीं छात्रवृन्द की छात्रता' पर अपने हृदयोद्गार प्रकट करते हुए "भारत पर उत्सर्ग हो छात्रवृन्द की छात्रता" कह कर उन्हें आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेने के लिए उत्साहित किया है। इतना ही नहीं इस युग में हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने के लिए पर्याप्त आन्दोलन चला। हरिऔधजी ने भी 'हिन्दी' के लिए अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट किये :—

"भारत-सुत को भीति-रहित कर अभय बनावे।
हरे अज्ञता-तिमिर ज्ञान की ज्योति जगावे।
पढ़ संजीवन-मंत्र जनों में जीवन डाले।
मति-कुंजी से रहे खोलती अनुभव-ताले।
भर-भर भारत-भूमि में सुर पुर की सी भव्यता।
उसे दिव्य करती रहे हिन्दी-देवी दिव्यता।"

उपर्युक्त कविताओं के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि "मर्म-स्पर्श" नामक संग्रह में हरिऔधजी के अन्तिम दिनों में उठने वाले सभी उद्गार संगृहीत हैं। इसमें समय-समय पर लिखी गई कवितायें एक स्थान पर लाकर उपस्थित करदी गई हैं। कुछ कवितायें उत्सव एवं समारोहों पर लिखी गई जान-पड़ती हैं जैसे 'रवीन्द्र स्वागत' कविता ऐसी ही है जो सम्भवतः छात्राओं के गाने के लिए हरिऔधजी ने लिखी होगी :—

"सादर स्वागत हम करती हैं।
अर्पण को कुसुमालि भाव के भावुकतांजलि में भरती हैं"

और कुछ कविताओं में समसामयिक आन्दोलनों एवं सामाजिक हलचलों का स्वरूप मिल सकता है। उक्त संग्रह की भाषा में भी दोनों रूप विद्यमान हैं। कहीं तो वह संस्कृत गर्भित होकर 'प्रियप्रवास' के समकक्ष जा पहुँचती है और कहीं बिलकुल साधारण बोलचाल का स्वरूप ग्रहण करती हुई 'चोखे चौपदे' 'चुभते चौपदे' तथा 'बोलचाल' की भाषा के निकट दिखाई देती है। प्रथम संस्कृत गर्भित भाषा का रूप "गुणगान" कविता में देखा जा सकता है :—

जयति अमङ्गल-मूल-निकन्दन।
करवर-वदन, विवेक-शुभ-सदन, ज्ञान-निकेतन, गिरिजा-नंदन।
चित्त-विनोदन, चारुमूर्ति, शुचितम-चचरित, चर्चित चंदन।
विभुता-बहु-विभूति-परिपूरित, भक्ति-भरित, जग-जन-डर-स्पंदन।
प्रीति-पुनीत-रीति-प्रतिपालक, परिचालक सजीवता-स्पंदन॥"

इसीतरह लोक-प्रचलित बोलचाल की भाषा का प्रयोग "रंगभरी होली" नामक कविता में मिलता है :—

"रंग लुचपन का हो जिसमें,
बजावें क्यों ऐसी ताली ?
क्यों न तो उछलेगी पगड़ी,
कढ़ेगी जो मुँह से गाली।"

समस्त संग्रह में वैसे लोक-प्रचलित शिष्ट शैली का प्रयोग अधिक मिलता है। कुछ ही कवितायें ऐसी हैं जो समास-पद्धति युक्त संस्कृत गर्भित शैली में लिखी गई हैं। बोलचाल की भाषा में लिखी हुई कविताओं की भी संख्या अधिक नहीं है। सर्वाधिक कवितायें साहित्यिक खड़ी बोली में ही लिखी गई हैं। हाँ इतना अवश्य है कि उसमें आलंकारिकता लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता आदि को लाने का प्रयत्न नहीं दिखाई देता। वैसे थोड़े-बहुत अलंकार भी बरबस लाये गये हैं, परन्तु अधिकांश रचनायें स्वाभाविक एवं मार्मिक हैं।

उपर्युक्त समस्त रचनाओं को देखने पर पता चलता है कि हरिऔधजी की प्रतिभा कितनी प्रखर थी। साहित्य के गद्य एवं पद्य दोनों भागों पर उनका पूर्ण अधिकार था। उन्होंने जितनी सजीव एवं मार्मिक कविता में

लिखीं, उतना ही सजीव और विवेचना पूर्ण गद्य लिखा। इन दोनों क्षेत्रों में हरिऔधजी की अबाध गति के दर्शन किए जा सकते हैं। शिथिलता एवं अनुभव शून्यता का तो सर्वत्र अभाव है। उनकी ये समस्त रचनायें जाति और देश की हितैषणी तथा राष्ट्रीयता से ओत प्रोत हैं। उन्होंने साहित्य के माध्यम द्वारा जाति एवं देश-सुधार के सक्रिय आंदोलन में भाग लिया था। यद्यपि उनका समस्त साहित्य प्रयोगात्मक साहित्य ही कहा जायेगा, क्योंकि उन्होंने हिन्दी-साहित्य को अपनी उन रचनाओं से पूर्ण किया जिनका कि अभाव उनको खटका करता था। उनकी ख्याति भी हिन्दी के भांडार में अभावों की पूर्ति करने के कारण ही सर्वाधिक हुई। उनकी रसिकता एवं निरंतर हिन्दी-साहित्य की सेवा को कोई भी हिन्दी-साहित्य का किंचिन्मात्र अध्येता आजन्म नहीं भूलेगा। उनकी रचनाओं को पाठकों की सुविधा के लिए हम निम्नलिखित विभागों में बाँट सकते हैं। आगामी पृष्ठों में विभागों पर तनिक गहराई के साथ अध्ययन करने का प्रयत्न किया जावेगा।

हरिऔधजी की उपर्युक्त सभी रचनायें दो भागों में बाँटी जा सकती हैं—(१) मौलिक रचनायें और (२) अनूदित रचनायें। मौलिक रचनाओं को पुनः निम्नलिखित विभागों में बाँटा जा सकता है :—

(क) महाकाव्य :—(१) प्रियप्रवास और (२) वैदेही-वनवास।

(ख) स्फुटकाव्य-संग्रह :—(१) चोखे चौपदे, (२) चुभते चौपदे, (३) बोलचाल (४) रस कलस, (५) पद्यप्रसून, (६) कल्पलता, (७) पारिजात, (८) ऋतुमुकुर, (९) काव्योपवन, (१०) प्रेम-प्रपंच, (११) प्रेम पुष्पोहार, (१२) प्रेमाम्बु प्रस्रवण, (१३) प्रेमाम्बु प्रवाह (१४) प्रेमाम्बु वारिधि, (१५) हरिऔध सतसई तथा (१६) मर्म-स्पर्श।

(ग) उपन्यास :—(१) ठेठ हिन्दी का ठाट और (२) अधखिला फूल।

(घ) रूपक :—(१) रुक्मिणी-परिणय और (२) प्रद्युम्नविजय-व्यायोग।

(ङ) आलोचना :—(१) हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, (२) कबीर वचनावली की आलोचना, (३) साहित्य-संदर्भ, तथा (४) हरिऔधजी के ग्रंथों की भूमिकायें।

दूसरे भाग में हरिऔधजी की अनूदित रचनायें आती हैं। इन रचनाओं में से कुछ गद्य में लिखी गई हैं और कुछ पद्य में हैं। अतः इन्हें दो विभागों में इस प्रकार बाँट सकते हैं:—

(क) गद्य भाग:—(१) वेनिस का बाँका, (२) रिपवान विंकिल, और नीति-निबंध।

(ख) पद्य भाग:—(१) उपदेश कुसुम तीन भाग, और (२) विनोद-वाटिका।

हरिऔधजी की इन समस्त रचनाओं के आधार पर उन्हें अपने ही युग की नहीं अपितु युग-युग की विभूति कहा जा सकता है। उनकी लगन और कलात्मकता ने हिन्दी-साहित्य में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया था। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि सरकारी नौकरी करते हुए भी साहित्य के लिए इतनी रुचि स्थायी रूप से आपके हृदय में विद्यमान रही और प्रतिकूल वातावरण भी आपके हृदय को साहित्य-सृजन से रोक नहीं सका। अतः सबसे अधिक श्रेय उनकी गंभीरता एवं चिन्तनशीलता को है, जिसके परिणाम स्वरूप वे निरंतर समाज और देश की समस्त गति-विधियों का एकान्त अध्ययन करते रहे और समय-समय पर अपनी रचनाओं द्वारा सुधारकार्य में लीन रहे। हिन्दी साहित्य एवं हिन्दी-प्रेमियों से तो आपको इतना मोह था कि ६८ वर्ष की अवस्था होने पर भी आप वृन्दावन, कलकत्ता झाँसी आदि स्थानों पर कवि सम्मेलनों का सभापतित्व करने जाते थे। आपने अपनी रचनाओं में सर्वत्र नैतिकता को प्रमुखता दी है। आपका कोई भी ग्रंथ अश्लीलता-युक्त नहीं मिलता। सर्वत्र त्याग और तपस्या, सेवा और लगन, पवित्रता और उच्चता तथा समाज-प्रेम और राष्ट्रीयता की ही झलक आपकी रचनाओं में मिलती है। इस प्रकार समस्त रचनाओं को देखकर कहा जा सकता है कि हरिऔधजी की लेखनी ने जो कुछ भी साहित्य की सेवा की, उसमें अध्ययनशीलता, चिन्तन एवं मनन तथा तपस्या का सर्वाधिक योग रहा है।

४—महाकाव्यकार "हरिऔध"

महाकवि युग की विभूति होते हैं। उनके अन्तर्गत युग-चेतना का स्पष्ट स्वरूप देखा जाता है। वे युग की समस्त शक्तियों का नियंत्रण करते हुए उन्हें अपने कार्यों अथवा विचारों से अभिभूत कर लेते हैं। उनके जीवन में युग-चेतना पूर्णतः व्याप्त हो जाती है और वे युग की समस्त गति-विधियों का निरीक्षण एवं परीक्षण करते हुए जीवन-यापन करते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक महाकवि युग प्रवर्तक माना जाता है। युग की समस्त परिवर्तनशील परिस्थितियाँ उसके हृदय में हिलोरें लिया करती हैं और समय-समय पर काव्य के रूप में प्रकट होकर सर्वसाधारण के लिए मार्ग-प्रदर्शन का कार्य किया करती हैं।

हरिऔधजी भी युग प्रवर्तक कवि थे। उनके जीवन में त्याग और तपस्या ने अखण्ड साम्राज्य स्थापित कर लिया था। वे मातृभाषा हिन्दी के सच्चे पुजारी थे और साधना ने उनके जीवन में अविचल स्थान बना लिया था। वे निरंतर समाज-सेवा, देश-सेवा, जाति-सेवा और हिन्दी-सेवा में तत्पर रहते थे। उनके समस्त काव्यों में यह सेवा भावना भली प्रकार देखी जा सकती है। इसी सेवा की भावना ने उन्हें एक प्रतिकूल वातावरण में रहते हुए भी कविता लिखने के लिए बाध्य किया और वे युग की आवश्यकताओं को समझकर माता सरस्वती की सेवा में काव्य-पुष्प चढ़ाते रहे।

हरिऔधजी ने दो महाकाव्य लिखे। पहला महाकाव्य १६१४ में 'प्रियप्रवास' नाम से प्रकाशित हुआ और दूसरा महाकाव्य 'वैदेही वनवास' लिखा जिसका प्रारम्भ तो कितने ही वर्ष पूर्व हो चुका था परन्तु जो सन् १६४० ई० में प्रकाशित हुआ। उक्त दोनों महाकाव्यों में से 'प्रियप्रवास' के कारण ही हरिऔधजी की विशेष ख्याति हुई। यह महाकाव्य तत्कालीन युग में खड़ी बोली का पहला ही महाकाव्य था जो शैली तथा विषय-चयन की

दृष्टि से सर्वथा अद्भुत तथा अद्वितीय था और जिससे खड़ी बोली में एक महाकाव्य न होने की न्यूनता दूर हुई थी। अतः सर्वप्रथम इसी महाकाव्य को लेकर हरिऔधजी की भावना एवं रचना कौशल को देखने का प्रयत्न करेंगे।

(क) प्रियप्रवास का नामकरण

'प्रियप्रवास' में हरिऔधजी ने श्रीकृष्ण की मथुरा यात्रा का चित्र उपस्थित किया है। कंश के द्वारा भेजे गये अक्रूरजी के साथ श्रीकृष्ण, बलराम तथा बाबानंद का गोकुल से प्रस्थान करना तथा श्रीकृष्ण के लिए गोप एवं गोपियों का निरंतर आँसू बहाते रहना ही इस काव्य का मुख्य विषय है। यात्रा-चित्र की अपेक्षा गोप गोपियों के वियोग जन्म विलाप का ही आधिक्य होने के कारण पहले हरिऔधजी ने इस महाकाव्य का नाम "व्रजाङ्गनाविलाप" रखा था। परन्तु अन्त में आपने इसका नाम परिवर्तित करके 'प्रियप्रवास' कर दिया। प्रियप्रवास की भूमिका में आपने लिखा है:—

"मैंने पहले इस ग्रंथ का नाम 'व्रजांगना विलाप' रखा था, किन्तु कई कारणों से मुझको यह नाम परिवर्तन करना पड़ा, जो इस ग्रंथ के समग्र पढ़ जाने पर आप लोगों को स्वयं अवगत होंगे।"

उक्त कथन में हरिऔधजी ने कारणों का उल्लेख न करके उन्हें पाठकों के ऊपर ही छोड़ दिया है। 'व्रजांगना-विलाप' शीर्षक से सर्वप्रथम तो यह ध्वनि निकलती है कि इस ग्रंथ में एक मात्र व्रज-बालाओं के विलाप का ही वर्णन है। वैसे काव्य में भले ही व्रज की ललनाओं के विलाप का चित्रण अधिक हुआ है, परन्तु एकमात्र विलाप का ही वर्णन न होकर उसमें अन्य प्रसंगों का भी समावेश है। विलाप की अपेक्षा गोप-बालाओं का परस्पर सांत्वना देना एवं धीरज बँधाने का कार्य तो अत्यन्त सराहनीय है। इसमें भी राधा के जीवन में तो वियोग की अपेक्षा लोकोपकार की भावना ही प्रबल रूप में चित्रित की गई है। राधा ही व्रज की प्रमुख अंगना है और जब उसके जीवन में ही वियोग एवं विलाप प्रमुख स्थान नहीं रखते तो अन्य बालाओं के कारण ग्रंथ का नाम कारण इस प्रकार करना उचित नहीं

दिखाई देता। दूसरे 'व्रजांगना विलाप' शीर्षक से श्रीकृष्ण के जीवन की विशेषताओं का कोई भी आभास नहीं मिलता। 'विलाप' शब्द से तो इसके विपरीत ही ध्वनि निकलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण इतने निष्ठुर एवं कष्ट देने वाले थे कि गोपियाँ निरन्तर उनके कारण विलाप ही करती रहीं और यह भावना हरिऔधजी के विचारों के सर्वथा विपरीत है। वे तो श्रीकृष्ण को लोकानुरंजनकारी सिद्ध करना चाहते थे अतः उन्हें यह नाम उचित नहीं जान पड़ा। तीसरे, उक्त शीर्षक से किसी नवीनता की सूचना नहीं मिलती। जो बात भक्तिकालीन एवं रीतिकालीन कवियों ने कही थी उसी का पिष्टपेषण सा किया जाना इस शीर्षक से सूचित होता है। हरिऔधजी श्रीकृष्ण एवं गोप तथा गोपियों को भक्तिकालीन एवं रीतकालीन कवियों की भाँति चित्रित करना नहीं चाहते थे। उन्होंने श्रीकृष्ण में पारलौकिक क्रियाओं एवं शृंगार तथा विलास भावनाओं के स्थान पर लोकोपकारी कार्यों तथा नैतिक भावनाओं का समावेश किया है और इन भावनाओं की सूचना 'व्रजांगना-विलाप' शीर्षक से कदापि नहीं मिलती। अतः उन्हें यह नाम—छोड़ना पड़ा। चौथ, 'विलाप शब्द को ही लें तो पता चलेगा कि व्रज की अंगनाओं ने ही श्रीकृष्ण के चले जाने पर आँसू नहीं बहाये, अपितु तृण-गुल्म, लता-बेल पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि सभी श्रीकृष्ण के वियोग में विलाप करते हुए चित्रित किये गये हैं। गायें तो चरना भूल गई हैं, ~~गायें~~ पेड़ पौधे उतने फूलते नहीं, कुंजों में इतनी हरीतियाँ नहीं रहीं और सारा व्रज उजड़ा सा दिखाई देता है। ऐसी अवस्था में 'व्रजांगना-विलाप' की अपेक्षा यदि उसे 'व्रज-विलाप' कहे है तो अधिक सार्थक होता। परन्तु यह मैं पहले कह चुका हूँ कि केवल 'विलाप' ही इस ग्रंथ में नहीं दिखाया गया। अन्य बातों का भी चित्रण ग्रंथ में किया गया है अतः 'व्रज-विलाप' भी उपयुक्त नाम नहीं रहता। पाँचवे, 'व्रजांगना-विलाप' शीर्षक से महाकाव्योचित सामग्री का आभास नहीं मिलता। उससे एक मात्र गोपियों के रोने-धोने का ही पता प्रत्येक पाठक को चलता और श्रीकृष्ण संबंधी बातें कुछ न जानी जातीं। सातवें, इस शीर्षक से हरिऔधजी की अन्तरात्मा में छिपी

हुई श्रीकृष्ण के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति का स्वरूप प्रकट न होता। अतः उन्हें यह शीर्षक रुचिकर प्रतीत न हुआ और 'प्रियप्रवास' नाम रखना पड़ा।

अब यदि 'प्रियप्रवास' नाम की सार्थकता पर विचार करें तो पता चलेगा कि युक्ति शीर्षक से सर्व प्रथम हरिऔधजी के मनोभावों को कोई ठेस नहीं पहुँचती और 'प्रियप्रवास' शीर्षक से श्रद्धा और भक्ति दोनों के सार्थक स्वरूप की झाँकी मिल जाती है। दूसरे, यह शीर्षक एक देशीय नहीं रहता। इसमें प्रवास—जन्य समस्त घटनाओं का समावेश भली प्रकार हो जाता है। तीसरे, हरिऔधजी ने श्रीकृष्ण के जीवन की घटनाओं को वर्णित दिखाने की चेष्टा की है अर्थात् व्यक्तियों के मुख से उनके जन्म से लेकर प्रवास-काल तक की समस्त घटनाओं को कहलवाया है और उनका कहलवाना उसी समय सार्थक हो सकता था जब कि 'प्रिय-प्रवास' शीर्षक रहता क्योंकि स्मृत रूप में घटनाओं का आना उसी काल सम्भव है जबकि अपना प्रिय अपने सामने ही चला गया हो। चौथे, समस्त घटनाओं का उद्‌गम स्थान श्री कृष्ण का मथुरा गमन ही है। अतः इसी प्रमुख घटना को समस्त ग्रंथ का आधार भी कहा जा सकता है और इसी को शीर्षक के रूप में 'प्रिय-प्रवास' के नाम से रखना सर्वथा उपयुक्त दिखाई देता है। पाँचवें, इस काव्य में श्रीकृष्ण के प्रति गोप-गोपियों की जो प्रेम, भावना, श्रद्धा एवं आस्था चित्रित की गई है उसकी सूचना 'शीर्षक के 'प्रिय' शब्द से भली प्रकार मिल जाती है और 'प्रवास' शब्द उसकी पुष्टि कर देता है। छठे ग्रंथ की नवीनता का आभास भी इस नये शीर्षक से मिल जाता है, क्योंकि व्रजांगना विलाप' शीर्षक कोई नवीनता प्रस्तुत नहीं करता था, जबकि 'प्रियप्रवास' में प्राचीनता का परिहार एवं नवीनता का समर्थन स्पष्ट दिखाई देता है। सातवें, इस शीर्षक में उत्सुकता एवं जिज्ञासा का भी समावेश है। कोई भी पाठक शीर्षक से तुरन्त यह नहीं जान पाता कि इसमें किसके प्रिय का गमन चित्रित किया गया है। उसे बरबस पढ़ने की अभिलाषा होती है जबकि 'व्रजांगना-विलाप' से तो स्पष्ट ही यह पता चल जाता है कि इस ग्रंथ में गोपियों के रोने-धोने के सिवाय और कुछ नहीं होगा। आठवें, शीर्षक

की उपयुक्तता इससे सिद्ध होती है कि वह आकर्षक और ग्रंथ के वर्ण्य-विषय का पूर्णतः सूचक हो। ये दोनों बातें 'प्रियप्रवास' शीर्षक में अन्तर्निहित हैं अतः 'प्रियप्रवास' शीर्षक सर्वथा उपयुक्त और सार्थक दिखाई देता है। यही सब बातें देखकर संभवतः हरिऔधजी ने 'ब्रजांगना-विलाप' छोड़कर 'प्रियप्रवास' नाम अपनाया।

(ख) प्रियप्रवास का महाकाव्यत्व

भारतीय समीक्षा-शास्त्रियों ने काव्य के दो भेद किये हैं—श्रव्यकाव्य तथा दृश्य काव्य। श्रव्यकाव्य वह कहलाता है जो केवल कानों से सुना जाय। प्राचीनकाल में मुद्रणकला का विशेष प्रचार न होने के कारण कवि लोग अपनी रचनाओं को सर्वसाधरण के सम्मुख पढ़कर ही सुनाया करते थे और सहृदय लोग उन रचनाओं को कानों से सुनकर आनंद प्राप्त किया करते थे। सम्भवतः इसी कारण जो काव्य केवल श्रवणों द्वारा आनंद की उपलब्धि कराता था उसे श्रव्यकाव्य कहा गया। दूसरे जिस काव्य का अभिनय देखकर लोगों को आनंद प्राप्त होता था वह दृश्यकाव्य कहलाया, जो उसके नाम से ही पूर्णतः पता चल जाता है। वैसे दृश्य काव्य में नेत्रों के साथ-साथ श्रवणों से भी काम लिया जाता था परन्तु अभिनय की प्रधानता होने के कारण उसका अधिक आनन्द देखकर ही प्राप्त होता था। इस दृश्य काव्य को रूपक तथा नाटक भी कहा जाता है। उक्त श्रव्य काव्य के भी प्रबन्ध की दृष्टि से दो भेद किए गये हैं—प्रथम प्रबन्ध काव्य, दूसरा मुक्तक काव्य। जिस काव्य में कथा अन्यन्या छंदों में होती हुई अवधगति से चलती रहती है और प्रत्येक छंद या पद का पूर्वापर संबंध अन्त तक स्थापित रहता है उसे प्रबंध काव्य कहते हैं और जिस काल में पूर्वापर संबंध न होकर प्रत्येक पद या छंद स्वतंत्र रहता है तथा कथानक में कोई शृंखला नहीं दिखाई देती वह मुक्तक काव्य कहलाता है। उदाहरण के लिए राम-चरितमानस प्रबंधकाव्य है तथा सूरसागर मुक्तक की कोटि में आता है। कथा की लघुता एवं दीर्घता तथा घटनाओं के न्यूनाधिक प्रयोग की दृष्टि से

प्रबंध काव्य के भी दो भेद पाये जाते हैं—(१) महाकाव्य, तथा (२) खण्डकाव्य। जिस काव्य में जीवन की अनेकरूपता का चित्रण एक विस्तृत कथा एवं अनेक सर्गों में चित्रित किया जाता है वह महाकाव्य कहलाता है और जिस काव्य में जीवन की एक या दो प्रमुख घटनाओं को ही महत्व देकर लघुकथा में ही कथानक का अवसान कर दिया जाता है वह खण्ड-काव्य माना जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य के भेद करते हुए उन्हें विषयी प्रधान (Subjective) तथा विषय प्रधान (Objective) कह कर दो भागों में विभक्त किया है। विषयी प्रधान काव्य मुक्तक की कोटि में आता है और उसे प्रगीत-काव्य भी कहा गया है, परन्तु विषय प्रधान काव्य का संबंध प्रबंध काव्य से है जिसे पाश्चात्यों ने एपिक (Epic) संज्ञा दी है और जिसमें विवरण या प्रकथन (Narration) की प्रधानता मानी है। *(१)

लक्षण—भारतीय साहित्याचार्य पं० विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण में महाकाव्य की विशेषताएं बतलाते हुए लिखा है कि महाकाव्य एक, आठ या आठ से अधिक सर्गों में निबद्ध होना चाहिए, उसका नायक देवता अथवा उच्च वंशोत्पन्न क्षत्रिय धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न होना चाहिए, उसमें शृंगार, वीर अथवा शांत में से किसी एक रस की प्रधानता तथा अन्य-रस गौण रूप में आने चाहिए। प्रत्येक सर्ग प्रायः एक ही छंद में होना चाहिए परन्तु सर्ग के अन्त में छंद का बदल जाना आवश्यक है। महाकाव्य का कथानक इतिहास से उद्धृत अथवा अन्य किसी सच्चरित्र व्यक्ति का चरित्र होना चाहिए; उसमें अन्य सभी प्रासंगिक कथायें पूर्ण निर्वाह के साथ अधिकारिक या मुख्य कथा से सम्बद्ध रहनी चाहिए; उसमें वन, उपवन पर्वत, संध्या, प्रातः, ध्वान्त, रजनी, मृगया, युद्ध तथा ऋतुओं आदि का

(१) काव्य के रूप—ले० श्री गुलाबराय पृ०—७५।

वर्णन होना चाहिए। संक्षेप में महाकाव्य के ये ही लक्षण कहे हैं। (१)

उपर्युक्त भारतीय विचारों के अतिरिक्त पाश्चात् विद्वानों ने भी महाकाव्य के लक्षणों पर अपने विचार प्रगट किए हैं। उनका कथन है कि महाकाव्य वृहदाकार वाला प्रकथन प्रधान होना चाहिए; उसमें व्यक्ति की अपेक्षा जातीय भावों का चित्रण अधिक रहना चाहिए; उसका इतिवृत्त परम्परा से प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय होना चाहिए; उसका पात्र शौर्यगुण-

(१) सर्ग बन्धो महाकाव्यः तत्रैको नायकः सूरः।
सद्वंशो क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ॥ १ ॥
एक वंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
शृंगार वीरशान्तानामेकाङ्गी रस इष्यते ॥ २ ॥
अङ्गानि सर्वेतिरसाः सर्वे नाटक सन्धयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तं अन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ॥ ३ ॥
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ॥ ४ ॥
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसाने ऽन्यवृत्तकैः ॥ ५ ॥
नातिस्वल्पा नाति दीर्घाःसर्गा अष्टाधिका दह।
नाना वृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ॥ ६ ॥
सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्धया सूर्येन्दु रजनी प्रदोष ध्वान्त वासरा ॥ ७ ॥
प्रातर्मध्याह्न मृगयाशैलर्तु वन सागराः।
सम्भोग विप्रलम्भौ च मुनिः स्वर्ग पुराध्वराः ॥ ८ ॥
रण प्रयाणोपयमः मन्त्रपुत्रोदयादयः।
वर्णनीया यथायोग्यं सांगोपांगा अमी इह ॥ ९ ॥
कवेर्वृत्तस्य का नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्गनाम तु ॥१०॥

(साहित्यदर्पण ५५९)

प्रबंध काव्य के भी दो भेद पाये जाते हैं—(१) महाकाव्य, तथा (२) खण्डकाव्य। जिस काव्य में जीवन की अनेकरूपता का चित्रण एक विस्तृत कथा एवं अनेक सर्गों में चित्रित किया जाता है वह महाकाव्य कहलाता है और जिस काव्य में जीवन की एक या दो प्रमुख घटनाओं को ही महत्व देकर लघुकथा में ही कथानक का अवसान कर दिया जाता है वह खण्ड-काव्य माना जाता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य के भेद करते हुए उन्हें विषयी प्रधान (Subjective) तथा विषय प्रधान (Objective) कह कर दो भागों में विभक्त किया है। विषयी प्रधान काव्य मुक्तक की कोटि में आता है और उसे प्रगीत-काव्य भी कहा गया है, परन्तु विषय प्रधान काव्य का संबंध प्रबंध काव्य से है जिसे पाश्चात्यों ने ऐपिक (Epic) संज्ञा दी है और जिसमें विवरण या प्रकथन (Narration) की प्रधानता मानी है। *(१)

लक्षण—भारतीय साहित्याचार्य पं० विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण में महाकाव्य की विशेषताएं बतलाते हुए लिखा है कि महाकाव्य एक, आठ या आठ से अधिक सर्गों में निबद्ध होना चाहिए, उसका नायक देवता अथवा उच्च वंशोत्पन्न क्षत्रिय धीरोदात्त गुणों से सम्पन्न होना चाहिए, उसमें श्रृंगार, वीर अथवा शांत में से किसी एक रस की प्रधानता तथा अन्य-रस गौण रूप में आने चाहिए। प्रत्येक सर्ग प्रायः एक ही छंद में होना चाहिए परन्तु सर्ग के अन्त में छंद का बदल जाना आवश्यक है। महाकाव्य का कथानक इतिहास से उद्धृत अथवा अन्य किसी सच्चरित्र व्यक्ति का चरित्र होना चाहिए; उसमें अन्य सभी प्रासंगिक कथायें पूर्ण निर्वाह के साथ अधिकारिक या मुख्य कथा से सम्बद्ध रहनी चाहिए; उसमें वन, उपवन पर्वत, संध्या, प्रातः, ध्वान्त, रजनी, मृगया, युद्ध तथा ऋतुओं आदि का

(१) काव्य के रूप—ले० श्री गुलाबराय पृ०—७५।

वर्णन होना चाहिए। संक्षेप में महाकाव्य के ये ही लक्षण कहे हैं। (१)

उपर्युक्त भारतीय विचारों के अतिरिक्त पाश्चात् विद्वानों ने भी महाकाव्य के लक्षणों पर अपने विचार प्रगट किए हैं। उनका कथन है कि महाकाव्य वृहदाकार वाला प्रकथन प्रधान होना चाहिए; उसमें व्यक्ति की अपेक्षा जातीय भावों का चित्रण अधिक रहना चाहिए; उसका इतिवृत्त परम्परा से प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय होना चाहिए; उसका पात्र शौर्यगुण-

(१) सर्ग वन्धो महाकाव्यः तत्रैको नायकः सूरः।
सद्वंशो क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः॥ १॥
एक वंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा।
शृंगार वीरशान्तानामेकाङ्गी रस इष्यते॥ २॥
अङ्गानि सर्वेतिरसाः सर्वे नाटक सन्धयः।
इतिहासोद्भवं वृत्तं अन्यद्वा सज्जनाश्रयम्॥ ३॥
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्।
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा॥ ४॥
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसाने ऽ न्यवृत्तकै:॥ ५॥
नातिस्वल्पा नाति दीर्घाःसर्गा अष्टाधिका इह।
नाना वृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते॥ ६॥
सर्गान्ते भावि सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
सन्धया सूर्येन्दु रजनी प्रदोष ध्वान्त वासरा॥ ७॥
प्रातर्मध्याह्न मृगयाशैलतु वन सागराः।
सम्भोग विप्रलम्भौ च मुनिः स्वर्ग पुराध्वराः॥ ८॥
रण प्रयाणोपयमः मन्त्रपुत्रोदयादयः।
वर्णनीया यथायोग्यं सांगोपांगा अमी इह॥ ९॥
कवेर्वृत्तस्य का नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य सर्गोपादेय कथया सर्गनाम तु॥१०॥
(साहित्यदर्पण ५५९)

सम्पन्न, देवताओं से सम्पर्क रखने वाले अथवा देवता या नियति उनके कार्यों की दिशा निर्धारित करे ऐसे होने चाहिए; उसमें नायक को लेकर सारी कथा एक सूत्र में बंधी रहनी चाहिए; उसकी शैली में एक विशिष्ट शालीनता एवं उच्चता का समावेश होना चाहिए और समस्त महाकाव्य में एक ही छंद का प्रयोग होना चाहिए। (१)

(१) **नायक**—उपर्युक्त भारतीय एवं पाश्चात्य लक्षणों के आधार पर यदि 'प्रियप्रवास' को देखने की चेष्टा करें तो पता चलेगा कि 'प्रिय-प्रवास' को १७ सर्गों में विभक्त करने के कारण उसमें ८ से अधिक सर्ग उपस्थित हैं। उसके नायक श्रीकृष्ण यदुवंशी होने के कारण उच्च कुलोद्भव हैं तथा अपने अलौकिक एवं असाधारण चरित्र के कारण अधिकांश भारतीय जनता के परम पूज्य हैं। इस काव्य में उन्हें धीरोदत्त गुणों से युक्त दिखाने की ही चेष्टा की गई है। यहाँ उनके धीर-ललित स्वरूप की झाँकी नहीं मिलती। सर्वत्र उदात्त गुण सम्पन्न एक धीर-गम्भीर महात्मा के रूप में श्रीकृष्ण का चित्रांकन किया गया है। वे शिष्ट जनोचित लोकोपकारी कार्यों में सदैव संलग्न रहते हैं तथा किसी भी व्यक्ति का विरोध उन्हें प्रिय नहीं। विनम्रता तो उनके जीवन का मुख्य अंग बन गई है :—

"होके विनम्र मिलते वह थे बड़ों से।
थे बात-चीत करते बहु शिष्टता से।
बातें विरोध-कर थीं उनको न प्यारी।
वे थे न भूल कर भी अप्रसन्न होते।

(२) **रस**—आचार्य मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में शृंगार रस का विवेचन करते हुए लिखा है—"तत्र शृंगारस्य द्वौ भेदौ— सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परावलोकनालिङ्गनाऽधरपान—परिचुम्बनाद्यनन्तत्वाद-परिच्छेद्य एक एव गम्यते। × × तथा अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्या-प्रवास-शापहेतुक इति पंचविधः।" यहाँ इस प्रकार विप्रलम्भ शृंगार के पाँच भेद

(१) काव्य के रूप—बा० गुलाबराय कृत—पृ०—७६।

बतलाये हैं जिनमें से प्रवास विप्रलंभ भी एक भेद कहा है। 'प्रिय-प्रवास' इसी भेद के अंतर्गत आता है क्योंकि यहाँ पर नायक कृष्ण का नायिका राधा एवं अन्य सभी बन्धु-बान्धवों से प्रवास के कारण ही वियोग होता है और समस्त गोप-गोपियाँ, यशोदा नंद तथा अन्य प्रियजन इसी वियोग के कारण बिलाप करते हुए चित्रित किये गये हैं। अंत में राधा के हृदय में यद्यपि लोकोपकार की भावना जाग्रत की गई है, परन्तु वियोग जन्य उद्‌गारों का भी अभाव नहीं है। पवन को दूत बना कर अपना संदेश भेजने में विरहिणी राधा ने जो भाव व्यक्त किये हैं वे लगभग विरह-विधुर-यक्ष के समान ही हैं, जो महाकवि कालिदास की लेखनी से प्रसूत होकर 'मेघदूत' काव्य में संगृहीत हैं। यहाँ राधा अपनी विरह-वेदना को शान्त करने के लिए पवन से अपना संदेशा कहती है और उसको मथुरा का पूरा पता देकर अंत में श्रीकृष्ण की चरण-धूलि लाने का आग्रह करती हैं। इस स्थल की सभी उक्तियाँ अत्यंत मार्मिक एवं भावाप्लित हैं :—

"यों प्यारे को विदित करके सर्व मेरी व्यथाएँ।
धीरे धीरे वहन करके पाँव की धूलि लाना।
थोड़ी सी भी चरण रज जो ला न देगी हमें तू।
हा! कैसे तो व्यथित चित को बोध में दे सकूंगी।"

जब उसे यह ध्यान आता है कि कहीं धूल लाने में पवन समर्थ न हो सकी तो कैसा होगा? अतः फिर उसे दूसरी युक्ति बतलाती हुई केवल श्रीकृष्ण के चरणों का स्पर्श कर आने का ही आग्रह करती है :—

पूरी होवें यदि न तुझसे अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मानले औ चली जा।
छू के प्यारे कमल-पग को प्यार के साथ आजा।
जी जाऊँगी हृदय-तल में मैं तुझी को लगाके।

इस विप्रलम्भ शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का भी चित्रण जहाँ-तहाँ मिल जाता है, उनमें से वात्सल्य रस का चित्रण तो अत्यंत सुन्दर और स्वाभाविक दिखाई देता है जिसमें श्रीकृष्ण के बाल सौंदर्य की झाँकी के

अतिरिक्त उनकी वालकोचित क्रियाओं का भी आभास मिल जाता है :—

नयन रंजन अंजन मंजु सी,
जब कभी रज श्यामल गात की।
जननि थी करसे निज पोंछती,
उलहती तब वेलि विनोद थी।

× × ×

ठुमकते गिरते पड़ते हुए,
जननि के कर की अंगुली गहे।
सदन में चलते जब श्याम थे,
उमड़ता तब हर्ष-पयोधि था।"

वीररस—उपर्युक्त वात्सल्य रस के अतिरिक्त वीर रस की भी झाँकी श्रीकृष्ण के लोकोपकारी कृत्यों में दिखाने की चेष्ठा की गई है। इस वीर-रस के अंतर्गत श्रीकृष्ण का कर्म-वीर रूप अधिक सुस्पष्ट और निखरा हुआ मिलता है। एकादश सर्ग में दावानल के समय गोप-ग्वालों एवं गायों के प्रतिपालक श्रीकृष्ण के कर्म-वीरोचित जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हुए हरिऔध कहते हैं :—

"स्व-साथियों की यह देख दुर्दशा,
प्रचंड-दावानल में प्रवीर लौं।
स्वयं धँसे श्याम दुरन्त-वेग से,
चमत्कृता-सी वन-मेदिनी बना॥
प्रवेश के वाद स-वेग ही कढ़े,
समस्त-गोपालक-धेनु संग वे।
अलौकिक-स्फूर्ति दिखा त्रिलोक को,
वसुंधरा में कल-कीर्ति-वेलि वो॥

करुण-रस—की अजस्र धारा वहाने का प्रयास हरिऔधजी ने यशोदा-विलाप में किया है, वहाँ यशोदा जी रोते-रोते विह्वल हो जाती हैं और कितनी वेदना और व्यथा से परिपूर्ण हृदय की भावनाओं को व्यक्त

करती हैं कि पाषाण-हृदय भी उसे सुन कर पिघल जाता है। इतना ही नहीं अंत में वे कृष्ण के वियोग में दुःखी होकर संज्ञा-हीन भी हो जाती हैं। उनके वे हृदयोद्गार अत्यंत भाव-सम्पन्न एवं मर्मस्पर्शी है :—

हा ! वृद्धा के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे।
हा ! प्राणों के परम-प्रिय हा ! एक मेरे दुलारे।
हा ! शोभा के सदन सम हा ! नेत्र तारे हमारे।

× × ×

हाँ जीऊँगी न अब, पर है वेदना एक होती।
तेरा प्यारा वदन मरती बार मैंने न देखा॥
यों ही बातें विविध कहते अश्रुधारा बहाते।
धीरे-धीरे यशुमति लगीं चेतना-शून्य होने॥

रौद्र रस :—का चित्रण करते हुए कवि ने श्रीकृष्ण के असुर-संहारक रूप की झाँकी प्रस्तुत की है। श्रीकृष्ण को जब यह पता चला कि यमुना के अंतर्गत बैठा हुआ भुजंग अपने कुटिल कृत्यों से निरंतर गोप-बालकों एवं गायों का विनाश करता रहता है तो वे स्थिर न रह सके और तुरंत प्रतिज्ञा की इस विषधर का विनाश करना ही जगत के लिए कल्याणकर है, और कुछ भी आगा-पीछा न विचार करके उस कार्य को सम्पन्न किया। निम्नलिखित पंक्तियाँ श्रीकृष्ण की क्रुद्ध भावनाओं को प्रकट करती हुई रौद्र-रस की परिचायक हैं :—

"इसी घड़ी निश्चित श्याम ने किया,
सशंकता त्याग अशंक-चित्त से।
अवश्य निर्वासन ही विधेय है,
भुजंग का भानुकुमारि-अंक से॥
अतः करूंगा यह कार्य मैं स्वयं,
स्वहस्त में प्राण स्वकीय को लिये।
स्वजाति और जन्मधरा निमित्त मैं,
न भीत हूँगा विषकाल सर्प से॥

भयानक रस :—का चित्रण हरिऔधजी ने कई स्थलों पर अत्यंत सफलता के साथ किया है। सबसे सुन्दर चित्रण उस समय का है जब इन्द्र ने कोप करके ब्रज-प्रदेश पर वर्षा करना आरम्भ कर दिया, सर्वत्र घोर प्रलय की सी घटा फिर आई और दिन रात भयानक वर्षा होने लगी। उस विपत्ति से सभी घबड़ा गये और ब्रज-प्रदेश में त्राहि-त्राहि मच गई। इस वर्षा काल का प्रलयकारी चित्र हरिऔधजी ने इस प्रकार किया है :—

"जलद-नाद प्रभंजन-गर्जना,
बच-महा जल-पात अजस्र का।
कर प्रकाम्पित पीवर-प्राण को,
भर गया ब्रज-भूतल मध्य था॥
सदन थे सब खंडित हो रहे,
परम संकट में जन-प्राण था।
सबल विज्जु-प्रकोप-प्रमाद से,
बहु-विचूर्णित पर्वत-शृंग थे॥"

अद्भुत रस :—का संचार श्रीकृष्ण के अलौकिक कृत्यों में दिखाई देता है। हरिऔधजी ने यद्यपि अधिकाँश अलौकिक कार्यों को बुद्धिसंगत बनाने का प्रयत्न किया है, परन्तु बाल्यकाल के समय जब तृणावर्त्त ने आकर ब्रज प्रदेश में उपद्रव मचाया और प्रबल झंझावात तथा घना अंधकार उत्पन्न कर दिया उस समय श्रीकृष्ण ने समस्त विघ्नों को दूर करके प्रकृति में शान्त वातारण की सृष्टि की। उनका यह कार्य अद्भुत एवं अलौकिक रूप में ही चित्रित किया है। यहाँ हरिऔधजी ने उसमें लौकिकता दिखाने का प्रयत्न नहीं किया। अतः यह चित्रण अद्भुत रस के सर्वथा अनुकूल है :—

"पवन-वाहित-पांशु-प्रहार से,
गत बुरी ब्रज-मानव की हुई।
घिर गया इतना तम-तोम था,
दिवस था जिससे निशि हो गया॥

× × ×

पर व्यतीत हुए द्विघटी नसी,
यह तृणावरतीय विडम्बना।
× × ×
प्रकृति शान्त हुई वार व्योम में,
चमकने रवि की किरणें लगीं॥
निकट ही निज सुन्दर सद्‌य के,
किकलते हंसते हरि भी मिले।"

वीभत्स रस—रस का चित्रण हरिऔधजी की प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल है। फिर भी निम्नलिखित पंक्तियों में किंचिन्मात्रा में इसकी झलक देखी जा सकती है :—

"अति भयानक-भूमि मसान की।
वहन थी करती शव-राशि को।
बहु-विभीषणता जिनकी कभी।
दृग नहीं सकते अवलोक थे।"

शान्त—रस का निरुपण राधा के भक्तिभाव सम्पन्न उद्‌गारों में मिलता है राधा नवधा भक्ति स्वरूपों को बतलाती हुई एक नये दृष्टिकोण से कृष्ण-भक्ति में लीन दिखाई गई है। उसके मुख से भक्ति के स्वरूप एवं उसकी नवीन प्रक्रियाओं का जो चित्रण हुआ है वह शान्त-रस का द्योतक है :—

"विश्वात्मा जो परम प्रभु हैं रूप तो हैं उसी के।
सारे प्राणी सरि-गिरि-लता वेलियाँ वृक्ष नाना।
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावों सिक्ता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है।"

हास्य-रस—के उपयुक्त यह वर्ण्य विषय नहीं है। दूसरे, हरिऔधजी की भावना भी यहाँ अत्यन्त गंभीर और संयत रही है। अतः हास्य रस के लिए न उपयुक्त वातावरण ही मिला है और न उसके चित्रित करने की चेष्टा ही की गई है। फिर भी प्रकृति-चित्रण के समय दो-एक उक्तियाँ ऐसी मिलती हैं जहाँ थोड़ा सा हास्य का पुट भी हरिऔधजी ने दे दिया है।

नवम् सर्ग में नीम तथा नारंगी के वर्णन में कुछ शिष्ट हास का स्वरूप देखा जा सकता है :—

(१) स्वकीय-पंचांग प्रभाव से सदा,
वनस्थली बीच नीरोगता बढ़ा।
किसी गुणी वैद्य समान था खड़ा,
स्वनिम्बता-गर्वित-वृक्ष-निम्ब का॥

(२) सुवर्ण-ढाले-तमगे कई लगा,
हरे सजीले निज-वस्त्र को सजे।
बड़े अनूठेपन साथ था खड़ा,
महारंगीला तरु-नारंगी बना॥"

परन्तु उपर्युक्त सभी रसों का वर्णन अंग रूप में ही मिलता है। अंगी-रस तो विप्रलम्भ शृंगार है और उसी का पूर्ण परिपाक समस्त काव्य में हुआ है विप्रलंभ शृंगार की गहनता एवं चित्रण शैली इतनी अनूठी है कि कुछ विद्वानों ने करुण-रस की प्रधानता स्वीकार की है। वैसे वियोग-जन्म करुणा होने के कारण विप्रलम्भ शृंगार ही माना जायेगा।

(३) **छंद**—प्रियप्रवास संस्कृत वृत्तों में लिखा गया है। हिन्दी-साहित्य में पहले दोहा-चौपाई, सवैया, कवित्त, घनाक्षरी, रौला, उल्लाला आदि मात्रिक छंद ही अधिक प्रचलित थे। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत वृत्तों में कविता करने के लिए कवियों से आग्रह किया, जिसके फलस्वरूप कितने ही कवि संस्कृत वृत्तों की ओर झुके, परन्तु संस्कृत वृत्तों में हिन्दी-कविता करना अत्यंत कठिन एवं कष्ट प्रद था। प्रत्येक कवि संस्कृत वृत्तों में सुन्दर कविता नहीं लिख सकता था। इसी असुन्दरता का विचार करके पं० बालकृष्ण भट्ट ने द्वितीय साहित्य सम्मेलन की स्वागत-सम्बन्धिनी वक्तृता देते हुए कहा था —"आजकल छंदों के चुनाव में भी लोगों की अजीब रुचि हो रही है।; इन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी आदि संस्कृत छंदों का हिन्दी में अनुकरण हम में तो कुढ़न पैदा करता है।" परन्तु कतिपय ऐसे विद्वान भी उस समय उपस्थित थे, जो संस्कृत वृत्तों से लिए कवियों को उत्साह

दिलाया करते थे। उनमें से पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी ने सन् १६११ में प्रकाशित अपने हिन्दी मेघदूत की भूमिका में लिखा था :—"जबतक खड़ी बोली की कविता में संस्कृत के ललित वृत्तों की योजना न होगी तब तक भारत के अन्य प्रान्तों के विद्वान उससे सच्चा आनन्द कैसे उठा सकते हैं।" इसी प्रकार सन् १६१३ में पं० मन्ममन द्विवेदी ने 'मर्य्यादा' पत्रिका में लिखा था—"जो बेतुकान्त की कविता लिखे, उसको चाहिए कि संस्कृत के छन्दों को काम में लाये। मेरा ख्याल है कि हिन्दी पिंगल के छन्दों में बेतुकान्त की कविता अच्छी नहीं लगती।"[१] इन विद्वानों के कथन का प्रभाव हरिऔधजी पर अत्यधिक पड़ा और उन्होंने देखा कि पं० अम्बिकादत्त व्यास, श्रीधर पाठक आदि कितने ही कवि संस्कृत वृत्तों में सुन्दर कविता नही कर सके; अतः संस्कृत वृत्तों में एक महाकाव्य लिखने की लालसा हुई। संस्कृत वृत्तों में कविता करना सर्वथा कठिन कार्य था। इस कठिनाई का अनुभव करते हुए हरिऔधजी ने प्रियप्रवास की भूमिका में स्वयं लिखा है :—

"कविकर्म बहुत ही दुरूह है। जब कवि किसी कविता का एक चरण निर्माण करने मे तन्मय होता है, तो उस समय उसको बहुत ही दुर्गम और संकीर्ण मार्ग में होकर चलना पड़ता है। प्रथम तो छंद की गिनी हुई मात्रा अथवा गिने हुए वर्ण उसका हाथ-पाँव बाँध देते हैं, उसकी क्या मजाल कि वह उसमें से एक मात्रा भी घटा या बढ़ा देवे, अथवा एक गुरु को लघु के स्थान पर या एक गुरु के स्थान पर एक लघु को रख देवे। यदि वह ऐसा करे तो छन्द रचना का अधिकारी नही। जो इस विषय में सतर्क होकर वह आगे बढ़ा, तो हृदय के भावों और विचारों की उतनी ही मात्र उतने ही वर्णों में प्रगट करने का झगड़ा सामने आया, इस समय जो उलझन पड़ती है, उसको कवि हृदय ही जानता है।"

उक्त कथन में हरिऔधजी ने संस्कृत में वृत्तों की रचना संबन्धी कठिनाईयों की ओर संकेत किया है। इतना होने पर भी आपने 'प्रियप्रवास महाकाव्य'

(१) प्रियप्रवास की भूमिका—पृ० ७।

की रचना संस्कृत के सात अनूठे छन्दों में की है। वे क्रमशः द्रुतविलम्बित, वंशस्थ, वसंत तिलका, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, शिखरिणी और शार्दूल-विक्रीड़ित हैं, जिनमें संगीतात्मकता के साथ-साथ सरसता भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है और जो हरिऔधजी के रचना कौशल की अत्यधिक प्रशंसा के द्योतक हैं। इन छन्दों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें भाषागत शिथिलता अत्यन्त अल्प मात्रा में मिलती है। दूसरे सभी छन्दों की रचना भावानुकूल है। तीसरे, इन छन्दों में कहीं-कहीं इतनी मधुरता एवं सुकुमारता आगई है कि संस्कृत-काव्य का सा आनन्द हिन्दी कविता में ही प्राप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए वसंत-वर्णन संबंधी प्रसंग देखा जा सकता है। ऐसे छंद तो थोड़े ही हैं जिनमें यति-भंग दोष मिलता है जैसे :—

"जो रूठेगा नृपति ब्रज का वास ही छोड़ दूँगी।
ऊँचे-ऊँचे भवन तज के जंगलों में बसूँगी।
खाऊँगी फूल फल दल को व्यंजनों को तजूँगी।
मैं आँखों से अलग न तुझे लाल मेरे करूँगी।

इस पद्य-भाग के तृतीय चरण में यति-भंग दोष आ गया है। परन्तु "एकोहिदोषो गुण सन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्वांकः" की भाँति इतने छन्दों में एक-दो छन्दों का दोष अधिक अरुचिकर नहीं दिखाई देता। उक्त सात प्रकार के वृत्तों में से वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, वसंत तिलका, मन्दाक्रान्ता और मालिनी का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में किया गया है। शिखरिणी एवं शार्दूल विक्रीड़ित छंद तो केवल नाम मात्र के लिए ही आये हैं।

'प्रियप्रवास' के प्रथम तथा द्वितीय सर्ग ही ऐसे मिलते हैं, जिनमें प्रारंभ से अन्त तक एक ही छंद का प्रयोग हुआ है। शेष सभी सर्गों में छंद बदलते रहे हैं और अन्तिम छंद से आगामी सर्ग की कथा का भी संकेत मिलता रहा है। उदाहरण के लिए प्रथम सर्ग की निम्नलिखित पंक्तियों में द्वितीय सर्ग की अंधकारमयी घटना का आभास मिल रहा है :—

"छवि यहाँ पर अंकित जो हुई।
अहह लोप हुई सब काल को।"

इसी प्रकार द्वितीय सर्ग की अन्तिम पंक्तियों में तृतीयसर्ग के अन्तर्गत व्याप्त वेदना और विषादमयी घटना का संकेत मिल जाता है :—

"मलिनता न समुज्ज्वलता हुई।
दुखनिशा न हुई सुख की निशा।"

(४) **मंगलाचरण, खलनिन्दा तथा सज्जनप्रशंसा** :—पहले कवि लोग निर्विघ्न समाप्ति के लिए ग्रंथारम्भ में अपने इष्टदेव, गणेश या शिव अथवा सरस्वती की वन्दना किया करते थे। यह प्रणाली बहुत समय तक विद्यमान रही। रीतिकाल के अन्त एवं आधुनिककाल के प्रारम्भ में भी इस प्रणाली का प्रयोग अत्याधिक मात्रा में बना रहा। भारतेन्दु युग के अधिकांश कवियों ने भी इस प्रणाली का प्रयोग किया है। हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' में अन्य नवीनताओं के साथ इस नवीनता का भी समावेश किया। यद्यपि मैथिलीशरण गुप्त जैसे द्विवेदीकाल के युगानुकूल चलने वाले महाकवि ने इस मंगलाचरण की प्रणाली को आज तक अपनाया है, परन्तु हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' में ही उसका वहिष्कार कर दिया। कुछ विद्वानों की राय में 'प्रियप्रवास' में भी मंगलाचरण-सूचक शब्द मिल जाता है। प्रारम्भ में ही—"दिवस का अवसान समीप था।

गगन था कुछ लोहित हो चला—इन पंक्तियों में सर्व प्रथम जो 'दिवस' शब्द आया है वह दिव्' धातु से बना है। दिव् धातु से द्युति अर्थ में उणादि के "अत्यविच मितमिनमिरभिल भिनभितपिपति पनि पणिमहिभ्योऽमच्' सूत्र से 'दिवसः, दिवसम्' रूप बनेगा। दिवस का अर्थ है प्रकाशवाला। दिवस के देवता 'सूर्य' हैं। अतः यह शब्द ही प्रारंभ में मंगलवाची होने के कारण मंगलाचरण का द्योतक है।[१]

खलनिन्दा एवं सज्जन-प्रशंसा का वर्णन रामायण आदि प्राचीन हिन्दी के ग्रंथों की भाँति ग्रंथारम्भ में नहीं मिलता। परन्तु खोजने पर अनेक स्थल ऐसे मिल सकते हैं जहाँ पर खलों की निन्दा की गई है। व्योमासुर

(१) हरिऔध और उनका प्रियप्रवास—ले० श्रीकृष्ण कुमार सिन्हा पृ० ५६।

का वर्णन करते हुए त्रयोदश सर्ग में हरिऔधजी उसकी निंदा करते हुए कहते हैं :—

"प्रयत्न-नाना व्रज-देव ने किया
सुधारने के हित क्रूर-व्योम के ।
परन्तु छूटी उसकी न दुष्टता ।
न दूर कोई कुप्रवृत्ति हो सकी ॥
न शुद्ध होती सुप्रयत्न साथ है ।
न ज्ञान शिक्षा उपदेश आदि से ।
प्रभाव-द्वारा वहु-पूर्व पाप के ।
मनुष्य-आत्मा स-विशेष दूषिता ॥

इसी प्रकार सज्जन-पुरुषों की प्रशंसा भी जहाँ-तहाँ पर्याप्त मात्रा में मिलती है । चतुर्थ सर्ग में वृषभानु नरेश की प्रशंसा करते हुए हरिऔधजी कहते हैं :—

"विपद-गोकुल-ग्राम समीप ही ।
वहु-वसे यक सुन्दर-ग्राम में ।
स्व-परिवार समेत उपेन्द्र से ।
निवसते वृषभानु नरेश थे ।
यह प्रतिष्ठित-गोप सुमेर थे ।
अधिक-आद्दत थे नृप-नन्द से ।
व्रज-धरा इनके धन-मान से
अवनि में अति गौरविता रही ॥

(५) वन, पर्वत, संध्या आदि का चित्रण—महाकाव्य के अंतर्गत प्रकृति के इन समस्त स्वरूपों का वर्णन करना भी अनिवार्य माना गया है । हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' में अन्य वातों की अपेक्षा प्रकृति के इन समस्त रूपों की झाँकी भी अत्यधिक मात्रा में उपस्थित की है। इसका कारण यह है कि उस समय सर्वत्र प्रकृति के रूपों के वर्णन करने की ओर ही कवियों का झुकाव हो रहा था । उधर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी

प्रकृति के आलम्बन रूप का चित्रण करने के लिए अधिक आग्रह किया और मैथिलीशरण गुप्त आदि कितने ही कवि तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण भी करने लगे। परन्तु हरिऔधजी ने सर्वप्रथम एक महाकाव्य के अंतर्गत प्रकृति के रमणीय एवं भयंकर दोनों रूपों का सफल चित्रण किया। यद्यपि इनके प्रकृति-चित्रण में द्विवेदीकालीन नैतिकता का ही प्राधान्य है, साथ ही भावाक्षिप्त रूपों की अपेक्षा नाम परिगणन प्रणाली को ही अधिक अपनाया है, परन्तु फिर भी कितने ही प्रसंग इतने रमणीक और भव्य हैं, जिन्हें देखकर इनकी प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कुशलता को बरबस स्वीकार करना पड़ता है। प्रकृति चित्रण के अत्यन्त प्राचीन एवं नवीन दोनों रूपों को अपनाकर हरिऔधजी ने संध्या, सूर्य, चन्द्र, रजनी, प्रदोष आदि का सफलता के साथ चित्रण किया है। प्रियप्रवास महाकाव्य का प्रारम्भ ही संध्या-वर्णन से होता है:—

"दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनि कुल वल्लभ की प्रभा॥

तदुपरान्त द्वितीय सर्ग का प्रारम्भ रात्रि-वर्णन से किया है, जहाँ वातावरण के द्वारा ही तत्कालीन विषादमयी घटना की सूचना कवि ने दी है:—

'गत हुई अब थी द्विघटी निशा।
तिमिर पूरित थी सब मेदनी।
अति अनूपमता संग थी लसी।
गगन के तल तारक मालिका।

प्रभातकालीन छटा का चित्रण करते हुए कवि ने सूर्य का वर्णन भी पंचम सर्ग के प्रारम्भ में कर दिया है:—

"तारे डूबे तम टल गया छा गई व्योम-लाली।
पंछी बोले तमचुर जगे ज्योति फैली दिशा में।

शाखा डोली सकल तरु की कंज फूले सरों में।
धीरे-धीरे दिन कर वढ़े तामसी रात बीती॥

चन्द्रमा का तो अत्यन्त भव्य एवं रमणीक चित्रण किया है। जिसे देखकर हरिऔधजी की प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कलात्मकता का बोध भली प्रकार हो सकता है:—

"है ज्योति-आकर पयोधर है सुधा का।
शोभा-निकेति प्रिय वल्लभ है निशा का।
है भाल का प्रकृति के अभिराम भूषा।
सर्वस्व है परम रूपवती कला का।

इनके अतिरिक्त नवम सर्ग से वन, पर्वत, सरिता आदि का अत्यंत रमणीक चित्रण मिलता है। इस प्रकार हरिऔधजी ने प्रकृति के चित्रण में भी महाकाव्योचित समस्त सामग्री को 'प्रिय प्रवास' में लाकर उपस्थित कर दिया है। प्रकृति चित्रण सम्बन्धी और बातें आगे बतलाई जायेंगी। यहाँ तो केवल महाकव्य के लक्षण सम्बन्धी बातें दिखाने की ही चेष्टा की गई है।

ऊपर जिन बातों पर विचार किया गया है वे सभी भारतीय साहित्य-शास्त्रों के अनुकूल हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने महाकाव्य के लिए जिन बातों को आवश्यक समझा है अब उन पर भी तनिक विचार करेंगे। पाश्चात्य विद्वानों की राय में महाकाव्य एक बड़े आकार वाला होना चाहिए, तो 'प्रिय प्रवास' भी १७ सर्गों में लिखे जाने के कारण अत्यन्त वृहत् आकार वाला है। तीसरे उसमें व्यक्ति के जीवन की ओर ध्यान तो अवश्य दिया गया है परन्तु वे सभी गुण आदर्श के रूप में हीन होकर सर्वजन सुलभ हैं। उन गुणों को अपनाकर सर्वसाधारण भी अत्यंत प्रतिष्ठा एवं सम्मान पूर्वक जीवन विता सकता है। 'प्रियप्रवास' में मुख्यता दो प्रवृत्तियों पर अधिक ध्यान दिया गया है जिसमें एक तो परोपकार, सेवा, सदाचार, प्रेम तथा उदारता की भावना वाली सात्विकी प्रवृत्ति है और दूसरी हिंसा, पर-पीड़न, अनर्थ, दुराचार एवं व्यर्थ ही दूसरों को कष्ट पहुँचाने वाली तामसी प्रवृति हैं। ये

दोनों ही प्रवृत्तियाँ समाज में सदैव विद्यमान रहती हैं और इन दोनों का चित्रण 'प्रिय-प्रवास' में हरिऔधजी ने सफलता के साथ किया है। पहली प्रवृत्ति के प्रतिनिधि श्रीकृष्ण और राधा हैं तथा दूसरी प्रवृत्ति के प्रतीक तृणावर्त, व्योमासुर, आदि उत्पाती जन हैं जो श्रीकृष्ण के समय में व्यर्थ का उपद्रव खड़ा करके जनता को कष्ट पहुँचाया करते थे। हरिऔधजी ने प्रथम सात्विकी प्रवृत्ति पर ही अधिक जोर दिया है। यह प्रवृत्ति नैतिकता की भावना से ओत-प्रोत है और हरिऔधजी के समय में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज तथा अखिल भारतीय कांग्रेस का जन्म हो जाने के कारण सर्वत्र नैतिकता एवं सदाचार पर अधिक जोर दिया जाने लगा था। अतः प्रियप्रवास में भी यद्यपि कथानक प्राचीन हैं, परन्तु उसमें आई हुई समस्त प्रवृत्तियाँ द्विवेदी युग से सम्बन्ध रखने वाली हैं। ये सभी भावनायें किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध नहीं रखती, अपितु समष्टिगत होने के कारण जातीय भावों की द्योतक हैं। तीसरे, पाश्चात्य विद्वानों की राय में इतिवृत्त परम्परा से प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय होना चाहिए। प्रियप्रवास के नायक श्रीकृष्ण का जीवन चरित्र भारत ही क्या आज तो विश्व के प्रत्येक कोने में समादर की दृष्टि से देखा जाता है। उनके मुख से निकले हुए गीता के उद्‌गार तो आज विश्व के कोने-कोने में व्याप्त होकर समस्त मानव-समाज का संचालन कर रहे हैं, फिर उनकी लोकप्रियता के बारे में तो कवि ने भी पर्याप्त प्रयास किया है और समस्त शृंगारिक एवं विलास प्रिय भावनाओं को छोड़ कर श्रीकृष्ण को लोक-संग्रही बनाने का ही स्तुत्य प्रयत्न 'प्रियप्रवास' में किया गया है। अतः इसके इतिवृत्त में किसी प्रकार की आशंका नहीं होती। चौथा, लक्षण उसके पात्रों में शौर्य गुण का होना बतलाया गया है, साथही देवताओं से सम्बन्ध रखने की बात पर भी जोर दिया गया है। 'प्रियप्रवास' में श्रीकृष्ण, राधा, नंद एवं यशोदा सभी शौर्य्यगुण सम्पन्न हैं, इनमें भी राधा और कृष्ण में तो विशेष रूप से शौर्य गुण की प्रधानता चित्रित की है। इतना अवश्य है कि इन सभी पात्रों के अलौकिक कार्यों को लौकिक बनाने की चेष्टा की गई है, जिसके फलस्वरूप देवता या नियति इनके कार्यों का संचालन करते हुए

नहीं दिखाई देते ; परन्तु फिर भी नियति के प्रति आस्था प्रकट करना कवि नहीं भूला और उसने देवी-देवताओं की पूजा के लिए भी संकेत किया है :—

"दिन फल जब खोटे हो चुके हैं हमारे।
तब फिर वह कैसे काम के भी बनेंगे।"
"प्रतिदिन कितने ही देवता थीं मनाती।
बहु यजन करातीं विप्र के वृन्द से थीं।"

उपर्युक्त दोनों उक्तियों में क्रमशः नियति एवं देवताओं से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। पाँचवे, सम्पूर्ण कथा श्रीकृष्ण के जीवन से ही सम्बद्ध है। कथा को उपस्थित करने का ढङ्ग यद्यपि नवीन है, क्योंकि सारी कथा दूसरे पात्रों के मुख से वर्णनात्मक ढङ्ग में चित्रित की गई है और श्रीकृष्ण के बाल्यकाल से लेकर प्रवास ही नहीं अंत में द्वारका गमन तक की कथा को इसी भाँति वर्णनात्मक ढङ्ग से उपस्थित किया है, फिर भी सारी कथा क्रम-बद्ध है और एक-एक करके सारी घटनाओं को चित्रित किया गया है। छठे, शैली-गत शीलनता तथा विशिष्टता की ओर पाश्चात्य विद्वानों ने जोर दिया है। प्रियप्रवास महाकाव्य के अंतर्गत शैली की शालीनता तो पर्याप्त मात्रा में मिलती है। शैली के मुख्य आधार भाषा, शब्द शक्तिओं, गुण, अलंकार और वृत्त बतलाये गये हैं।[१] इन सभी उपकरणों के बारे में आगामी शीर्षक के अन्तर्गत विचार करेंगे। यहाँ तो केवल इतना बतला देना ही पर्याप्त समझते हैं कि प्रियप्रवास की भाषा संस्कृत गर्भित खड़ी बोली है, जिसमें संस्कृत की भाँति समासयुक्त पदावली को अधिक स्थान दिया गया है परन्तु व्रज तथा उर्दू-फारसी के शब्द भी जहाँ तहाँ आगये हैं। गुण की दृष्टि से तो तीनों गुणों का सफल समावेश मिलता है, सभी शब्द शक्तियों का समुचित प्रयोग तो नहीं मिलता, परन्तु अधिकार और लक्षण का प्रयोग अच्छी तरह किया गया है, इनमें से भी अभिधा की ही

(१) देखिए साहित्यालोचन पृ० ३११।

अधिकता है। व्यंजना शक्ति का तो कहीं कहीं अल्प मात्रा में ही प्रयोग मिलता है। वृत्त के वारे में हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि संस्कृत के नौ वृत्तों में समस्त प्रियप्रवास की रचना हुई है।

इस प्रकार उपर्युक्त पूर्वीय एवं पश्चिमी विद्वानों के वतलाये हुए लक्षणों के आधार पर जव हम 'प्रियप्रवास को देखते है, तो स्पष्ट पता चलता है कि समस्त लक्षणों संयुक्त यह एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें श्रीकृष्ण के लोकानुरंजन-कारी चरित्र को चित्रित किया गया है नारी की सामाजिक महत्ता स्वीकार करते हुए उसे लोकोपकार सेवा, तथा विश्व-प्रेम में अनुरंजन करके उपस्थित किया गया है, प्रकृति-चित्रण की नवीनता के साथ साथ उसके आलम्बन रूप को भी पर्याप्त मात्रा में ग्रहण किया गया है और सवसे अधिक तत्कालीन महाकाव्य सम्बन्धी एक अभाव की पूर्ति करते हुए संस्कृत वृत्तों को अपनाया गया है। सम्भवतः इन्हीं सब विशेषताओं को देख कर आचार्य शुक्ल ने लिखा है :—"खड़ी बोली में इतना बड़ा काव्य अभीतक नहीं निकला है। बड़ी भारी विशेषता इस काव्य की यह है कि यह सारा संस्कृत के वर्णवृत्तों में है जिसमें अधिक परिमाण में रचना करना कठिन काम है। × × × × उपाध्यायजी कोमलकांत पदावली को कविता का सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ समझते हैं। × × × यह काव्य अधिकतर भाव व्यंजनात्मक और वर्णनात्मक है।"[१]

(ग) प्रिय प्रवास में प्रकृति-चित्रण

आदिकाल से ही मानव प्रकृति के साहचर्य में अपना जीवन व्यतीत करता हुआ चला आ रहा है। मानव-जीवन का प्रकृति से इतना घनिष्ट संबन्ध रहा है कि वह इसके समस्त व्यापारों में घुल-मिल गई है और मानव की प्रत्येक गति-विधियों में उसकी गति-विधि दिखाई देती है। भारत को शस्य श्यामला उर्वरा भूमि भी प्रकृति के मनोरम दृश्यों से भरी हुई है। अतः यहाँ के काव्यों में भी प्रारंभ से ही प्रकृति में भव्य एवं चित्ताकर्षक चित्र

(१) हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ६०८।

मिलते हैं। संस्कृत के मध्य युगीन काव्यों में आकर प्रकृति केवल उद्दीपन के रूप में ही चित्रित होती रही। जिसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी साहित्य की रीतिकालीन कविता में प्रकृति अपना स्वतंत्र अस्तित्व छोड़कर मानव-व्यापारों से तादात्म्य स्थापित करती हुई केवल उद्दीपन के रूप में ही चित्रित की गई उस समय के अधिकांश कवि प्रकृति को स्वतंत्र रूप में अथवा आलम्बन के रूप में चित्रित करना अधिक उपयुक्त नहीं समझते थे केवल सेनापति ने ही सुन्दर एवं यथार्थ प्रकृति का आलम्बन रूप में विचार किया है। अन्य कवियों के काव्यों में प्रकृति या तो वियोगिनी को जलाने वाली चित्रित हुई है या अलंकार के रूप में आई है। आधुनिक काल में अंग्रेजी काव्यों से सम्पर्क स्थापित होते ही प्रकृति को नाना रूपों में चित्रित करना हिन्दी में भी प्रारम्भ हुआ। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत के कितने ही कवियों के काव्यों से उदाहरण देकर अपने यहाँ की प्राचीन परम्परा को फिर से जाग्रत करने के लिए आग्रह किया और प्रकृति को उद्दीपन की अपेक्षा आलम्बन रूप में भी चित्रित करना प्रारम्भ हुआ।

(१) आलम्बन रूप में:—

आचार्य शुक्ल ने प्रकृति के आलम्बन रूप का चित्रण दो प्रकार से बतलाया है। कुछ कवि तो प्रकृति का एक भव्य एवं पूर्ण चित्र सा उपस्थिति कर देते हैं जिसे उन्होंने बिम्ब ग्रहण प्रणाली बतलाया है और दूसरी प्रणाली यह है कि कवि लोग प्रकृति के नाना पदार्थों एवं नाना रूपों के केवल नाम गिना देते हैं और कोई चित्र सा प्रस्तुत नहीं करते अतः इसे नाम-परिगणन-प्रणाली कहा है। हरिऔधजी ने उक्त दोनों प्रणालियों का प्रयोग प्रियप्रवास में किया है। षोड़स सर्ग के प्रारम्भ में बसंत-वर्णन के अंतर्गत बिम्ब ग्रहण प्रणाली का प्रयोग मिलता है:—

वसंत की भाव-भरी विभूति सी
मनोज की मंजुल पीठिका-समा।

लसी कहीं थी सरसा सरोजिनी
कुमोदिनी मानस मोदिनी कहीं।

\+ × + ×

वसंत माधुर्य्य विकाश वर्द्धिनी।
क्रियामयी मना महोत्सवांकिता।
सुकोपलें थीं तरु अङ्ग में लसी
स-अंगरागा अनुराग रंजिता॥ और,

इस बिम्ब-प्रणाली से पूर्व नवम् सर्ग में गोवर्द्धन-गिरि की प्राकृतिक छटा का जो वर्णन मिलता है, उसमें केवल पेड़ों के नाम ही गिनाये हैं। वहाँ नाम-परिगणन-प्रणाली के अतिरिक्त प्रकृति का बिम्बात्मक स्वरूप नहीं मिलता। कहीं-कहीं उन नामों के साथ उपदेशात्मक प्रणाली का प्रयोग अवश्य पाया जाता है। यह प्रणाली भक्ति-युग में सर्वाधिक प्रचलित थी। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस के अंतर्गत वर्षा-वर्णन में इसी उपदेशात्मक प्रणाली का प्रयोग करते हुए प्रकृति—चित्रण किया है:—

दामिनी दमकि रही घनमाँही। खलकी प्रीति यथा थिर नाहीं।
भूमि परत भा डावर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी।

हरिऔधजी भी इसी प्रकार के चित्रिण से प्रभावित होकर 'वनस्थली' का वर्णन करते हुए कहते हैं:

कु०-अंगजों की वहु कष्टदायिका।
वता रही थी जन-नेत्र-वानको।
स्व-कंटकों से स्वयमेव सर्वदा।
विदारिता हो वदरी-द्रुमावली॥ तथा,

वड़ा स्व-शाखा मिस हस्त प्यार का।
दिखा घने-पल्लव की हरीतिमा।
परोपकारी—जन तुल्य सर्वदा।
अशोक था शोक स—शोक मोचता॥

इस प्रकार के आलम्बन वाले प्रकृति-चित्रण में ही हरिऔधजी ने भावाक्षिप्त संवेदनात्मक रूप देने की भी चेष्टा की है। अर्थात् उन्होंने वियोग के समय विह्वल एवं संयोग के समय प्रफुल्लित प्रकृति के रूपों को भी अंकित किया है। प्रकृति का साहचर्य मानव में आदि काल से ही प्राप्त किया है। अतः प्रकृति का उसके सुख में सुखी होना एवं दुखी होना बहुधा चित्रित किया जाता रहा है। हरिऔधजी ने भी प्रकृति के इन दोनों रूपों को अपनाया है। जिस संध्याकाल में श्रीकृष्ण ग्वालों एवं गायों के साथ व्रज-प्रदेश में आते हैं, उस समय कितनी रमणीकता एवं भव्यता सर्वत्र व्याप्त हो रही है। संध्याकालीन सूर्य की स्वर्णिम किरणें समस्त वन-प्रदेश में एक सुनहरी आभा फैला रही हैं और गायों के लौटने पर गगन में व्याप्त गोधूलि अत्यन्त मनोहर एवं आकर्षक प्रतीत होती है :—

"अधिक और हुई नभ-लालिमा।
दश-दिशा अनुरंजित हो गई।
सकल-पादप-पुंज हरीतिमा।
अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई॥

× × × ×

गगन के तल गोरज छा गई।
दश दिशा बहुशब्द मयी हुई।
विशद गोकुल के प्रति गेह में
बह चला वर—स्रोत विनोद का।"

किन्तु, यही संध्याकालीन रमणीक प्रकृति श्रीकृष्ण के चले जाने पर कितनी संतप्त दुःखी और शोकाकुल चित्रित की गई है कि पढ़ते ही एक अमिट छाप हृदय पर अंकित हो जाती है:—

क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है।
वह रुधिर रहा है कौनसी कामिनी का।
विहंग विकल हो-हो बोलने क्यों लगे हैं।
सखि, सकल दिशा में आग सी क्यों लगी है।

प्रकृति के इन रमणीक एवं मृदुल रूपों के अतिरिक्त आलम्बन के रूप में भयंकर प्रकृति का भी चित्रिण मिलता है। इस भयंकरता में मानव-हृदय को कँपा देने की शक्ति है और मानव-जीवन को अस्त-व्यस्त करके उसे विचलित एवं व्यथित कर देने की पूर्ण क्षमता है। प्रकृति जितनी कोमल एवं रमणीक है, उतनी ही वह कठोर एवं भयानक भी है। इन दोनों स्वरूपों का चित्रण किये विना प्रकृति की वास्तविकता का ज्ञान नहीं होता। हरिऔधजी ने प्रकृति के सभी रूपों का सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण किया था। यही कारण है कि वे उसके दोनों प्रकार के चित्र अंकित करने में समर्थ हुए हैं। भयानक स्वरूप के चित्र 'प्रियप्रवास' में कितने ही स्थलों पर अंकित किये गये हैं, उनमें से निदाघ एवं वर्षाकालीन चित्र अत्यन्त उत्तम हैं और यथार्थता से ओतप्रोत हैं। निदाघ वर्णन इस प्रकार है:—

"प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगन्त में।
ज्वलन्त था आतप ज्वाल-माल-सा।
पतंग की देख महा-प्रचण्डता।
प्रकम्पिता पादप-पुंज-पंक्ति थी।

इसी तरह वर्षाकाल के भयंकर रूप का चित्रण इस प्रकार मिलता है:—

अशनि पात-समान दिगन्त में।
रव-विभीषण हो उठने लगा।
कर-विदीरण वायु पुनः पुनः।
दमकती नभ में जब दामिनी।

× × ×

जलद-नाद प्रभंजन-गर्जना।
रव-महा जल पात अजस्र का।

× × ×

सवल विज्जु-प्रकोप-प्रमाद से
वहु-विचूर्णित पर्वत शृंग थे।'!

प्रकृति के इन आलम्वन रूपों में हरिऔधजी ने ऋतुओं के चित्र अंकित करने की चेष्टा की है। यह ऋतु-चित्रण प्रणाली अत्यन्त प्राचीन है। संस्कृति-साहित्य के अन्तर्गत महाकवि कालीदास ने अपने "ऋतु संहार" काव्य में इसी प्रणाली को अपनाया है। हरिऔधजी ने भी षट् ऋतु वर्णन न करके केवल चार ऋतुओं—निदाघ, वर्षा, शरद तथा बसंत—का अत्यन्त विस्तृत एवं सफल चित्रण किया है। नीचे इन चारों ऋतुओं के वर्णन का एक एक उदाहरण दिया जाता है:—

(१)—निदाघ-वर्णन:—

"निदाघ काल महा दुरन्त था।
भयावनी थी रवि-राशी हो गई।
तवा समा थी तपती वसुंधरा।
स्फुलिंग वर्षा रेत तप्त व्योम था।
(एकादशसर्ग—५६)

(२)—वर्षा वर्णन:—

"सरस सुंदर सावन मास था
घन रहे नभ में घिर-घूमते।
विलसती वहुधा जिनमें रही।
छविवती उड़ती बक—मालिका।
(द्वादश सर्ग—२)

(३)—शरद वर्णन:—

"भू में रमी शरद की कमनीयता थी।
नीला अनन्त नभ निर्मल हो गया था।
थी छागई ककुम में अमिता सिता भा।
उत्फुल्ल सी प्रकृति थी प्रतिभात होती।"
(चतुर्दश सर्ग—७७)

(४) वसंत वर्णन—"विमुग्धकारी मधुमास मंजु था।
वसुंधरा थी कमनीयता मयी।
विचित्रता-साथ विराजिता रही।
वसंत-वासंतिकता वनान्त में॥
(षोडस सर्ग१-१)

ऊपर जिन चार ऋतुओं के चित्र सांगोपांग एवं विस्तृत रूप में चित्रित किए हैं, वे भारतवर्ष की प्रमुख ऋतुयें हैं। यद्यपि शिशर एवं हेमन्त भी प्रधान ऋतु मानी जाती हैं, परन्तु उक्त चार ऋतुओं की प्रधानता सर्व-साधारण में अधिक प्रचलित है। सम्भवतः यही सोच कर केवल चार ऋतुओं का ही विस्तृत वर्णन हरिऔधजी ने प्रियप्रवास में किया है।

(२) उद्दीपन के रूप में :—इस उदीपन के रूप में हिन्दी-साहित्य के अंतर्गत सर्वाधिक प्रकृति-चित्रण मिलता है। हरिऔधजी के समय में भी अधिकांश आधुनिक कवि प्रकृति को उद्दीपन रूप में लाना ही अधिक उपयुक्त समझते थे। हरिश्चन्द्रयुग के तो लगभग सभी कवियों ने प्रकृति के उद्दीप्त रूप की चर्चा ही अधिक की है। हरिश्चन्द्रजी ने स्वयं "यमुना वर्णन" आदि में जो प्रकृति-चित्रण किया है वह भी प्रकृति का कोई यथार्थ रूप प्रस्तुत नहीं करता। आचार्य शुक्ल ने भारतेन्दु के लिए इसी कारण लिखा है—"वे केवल "नरप्रवृत्ति" के कवि थे, बाह्य प्रकृति की अनंतरूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं पाया जाता। अपने नाटकों में दो एक जगह उन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन रखे हैं (जैसे सत्य हरिश्चन्द्र में गंगा का वर्णन, चंद्रावली में यमुना का वर्णन) वे केवल परंपरा पालन के रूप में हैं। उनके भीतर उनका हृदय नहीं पाया जाता[१]।" हरिऔधजी पर भी इसी परंपरा का पर्याप्त प्रभाव था। उनके प्रकृति चित्रण में संस्कृत काव्यों की अमिट छाप है और संस्कृत में उद्दीपन के रूप में प्रकृति का पर्याप्त मात्रा में चित्रण हुआ है। अतः हरिऔधजी ने भी उद्दीपन रूप का बड़ा सुन्दरता के साथ चित्रण किया है।

(१) हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ५६०।

उद्दीपन के अंतर्गत प्रकृति वहाँ आती है, जब वह हमारी भावनाओं को उद्दीप्त करती हुई हमें अधिक विह्वल एवं बेचैन बना देती है। इस प्रणाली का प्रयोग प्रायः वियोग के अवसर पर सर्वाधिक पाया जाता है। हरिऔधजी ने भी श्रीकृष्ण के चले जाने पर प्रकृति का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त उद्दीपन का ही और बेचैन कराने वाला है। राधा को रात्रि कैसी दिखाई देती है :—

दुःख अनल शिखायें व्योम में फूटती हैं।
यह किस दुखिया का है कलेजा जलाती।
आह ! आह ! देखो टूटता है न तारा।
पतन दिलजले के गात का हो रहा।

इसी प्रकार षोडश सर्ग में जो वसंत का वर्णन कवि ने किया है वह समस्त उद्दीपन के रूप में ही है, क्योंकि वह सारी सुषमा व्रज के लोगों को संताप पहुँचाने वाली तथा वियोग-भावना को उद्दीप्त करने वाली है :—

"वसंत शोभा प्रतिकूल थी बड़ी।
वियोग मग्ना व्रजभूमि के लिये।
बना रही थी उसको व्यथा मयी।
विकास-पाती वन-पादपावली ॥ १६ ॥
दृगों उरों को दहती अतीव थीं।
शिखाग्नि-तुल्या तरु-पुंज कोंपलें।
अनार-शाखा कचनार-डार थीं।
प्रतप्त-अंगार-अपार-पूरिता ॥ १७ ॥

(३) वातावरण निर्माण के रूप में :—आधुनिक काव्यों में प्रकृत्ति का प्रयोग अब वातावरण निर्माण के लिए भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। कवि लोग आगे वाली दुर्घटनाओं एवं भावीजीवन की सुखद घड़ियों के बारे में प्रकृति वर्णय द्वारा सूचना दिया करते हैं। प्रायः देखा जाता है कि जो दुर्घटना होने वाली है उसके लिए पहले से ही कुछ ऐसे चिह्न प्रकट होने लग जाते हैं, जिन्हें देखकर आगामी दुर्घटना का पता चल जाता है। कवि

लोग भी इसीलिए प्रायः प्रकृति चित्रण द्वारा कभी आगामी दुघटनाओं की सूचना देते हैं, कभी वे आनंदोत्सव का वर्णन करने से पहले प्रवृति में भी आनंद-क्रीड़ाओं का चित्रण करते हैं, और कभी किसी विशेष भयानक स्थिति का चित्रण करने से पहले भयानकता सूचक प्रकृति के उपकरणों का वर्णन करते हैं। प्रवृति में दिखाई देने वाले अनिष्टकर या इष्टकर व्यापारों को ही साधारण जनता 'शकुन' के नाम से पुकारती है। इस शकुन की प्रथा भारत में ही नहीं अपितु सारे विश्व में प्रचलित है। कवियों ने इसी प्रचलित प्रवाद को ध्यान में रखकर प्रकृति-चित्रण की इस परिपाटी को अपनाया है। जिसमें एक ऐसा वातावरण बन जाता है, जिससे आगामी घटना का आभास पाठक को अच्छी प्रकार हो जाता है और कथा को भी भली प्रकार समझ लेता है। हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' में 'वातावरण निर्माण' के लिए कई स्थलों पर प्रकृति के रम्य एव भयानक रूप दिये हैं। प्रथम सग का संध्या-वर्णन एक आनददायी स्थिति का द्योतक है, जबकि द्वितीय सर्ग का रात्रि-वर्णन श्रीकृष्ण के वियोग से प्रेमकुल-ग्राम में व्याप्त होजाने वाली वियोगावस्था तथा निराशा का द्योतक है। इसी तरह तृतीय सर्ग के प्रारम्भ का प्रकृति-चित्रण भी व्रज के अंदर निश्चल रूप से व्याप्त होजाने वाली निराशा, वेदना एवं घोर उदासी की सूचना देता है :—

"समय था सुनसान निशीथ का।
अटल भूतल में तम राज्य था।
प्रलय काल समान प्रसूत हो।
प्रकृति निश्चल नीरज, शान्त थी।

इन पंक्तियों में से श्रीकृष्ण के वियोग से उत्पन्न होने वाली अमिट-निराशा की सूचना "अटल तमराज्य" से मिल रही है और घोर विपत्ति, उदासी तथा असह्य वेदना को प्रकृति की निश्चलता, नीरवता तथा शान्ति प्रकट कर रही है।

पंचम सर्ग में हरिऔधजी ने जो प्रकृति-चित्रण किया है, उसमें श्रीकृष्ण के वियोग से उत्पन्न होने वाली व्यथा एवं वेदना के बारे में प्रकृति से ही

पता चल जाता है। इस प्रकृति-चित्रण को पढते ही पाठक के मस्तिष्क में वियोग जन्य वेदना का एक वातावरण सा अंकित हो जाता है और उसे यह आभास मिल जाता है कि सारे गोकुल-वासी अब श्रीकृष्ण के वियोग से विह्वल होकर मारे-मारे फिरेंगे और निरंतर रुदन करते हुए ही अपना जीवन वितायेंगे। क्योंकि आज प्रभातकालीन सौंदर्यमयी सुषमा ही सुन्दर दिखाई नहीं देती थी, पक्षियों का मीठा कलरव भी दुखदायी प्रतीत होता था। यहाँ तक कि प्रभातकाल का समस्त वातावरण गोकुल ग्राम के प्रतिकूल दिखाई देता था। निम्नलिखित पंक्तियों में उसी प्रतिकूल वातावरण का चित्र उपस्थित किया है :—

"प्रातः शोभा ब्रज-अवनि में आज प्यारी नहीं थी।
मीठा-मीठा विहग-रव भी काल को था न भाता।
फूले-फूले कमल दव थे लोचनों को लगाते।
लाली सारे गगन-तल की काल-व्याली समा थी।"

इतना ही नहीं सप्तम सर्ग में तो कवि ने प्रकृति के मार्मिक चित्रण द्वारा स्पष्ट संकेत कर दिया है कि अब ब्रज—प्रदेश से शोक कभी दूर न हो सकेगा, क्योंकि श्रीकृष्ण का मथुरा से लौटकर आना सर्वथा असम्भव है और उनके आये विना ब्रज में पुनः आनंद की लहरें नहीं उठ सकतीं। कवि ने दो ही पंक्तियों में इस समस्त शोकाकुल वातावरण का चित्रण कितनी सफलता के साथ किया है :—

"धीरे-धीरे तरणि निकला काँपता दग्ध होता।
काला-काला ब्रज अवनि में शोक का मेघ छाया॥"

इसी प्रकार अन्य सर्गों में भी वातावरण निर्माण करने के लिए कविवर हरिऔध ने सफल प्रयत्न किया है, परन्तु नवमसर्ग में जो पेड़ों के नाम गिनाये हैं, उनमें से कितने ही ऐसे पेड़ हैं जो ब्रज-प्रदेश में उत्पन्न ही नहीं होते। इनमें लीची, लौंग, ताड़, नारंगी आदि कितने ही पेड़ ऐसे हैं जिनको ब्रज-प्रदेश में कहीं भी नहीं देखा जाता। इतना ही नहीं, जिनका उत्पन्न होना भी वहाँ सर्वथा असम्भव है; परन्तु "करील" जैसे प्रमुख झाड़ का

वर्णन तक नहीं मिलता जो वहाँ सबसे अधिक उत्पन्न होता है। इससे ब्रज-प्रदेश के वातारण निर्माण करने में त्रुटि आगई है। इसी कारण पं० शुक्लजी ने लिखा है कि "परम्परा पालन के लिये जो दृश्य वर्णन हैं वे किसी बगीचे में लगे हुए पेड़-पौधों के नाम गिनाने के समान हैं। इसी से शायद "करील" का नाम छूट गया[1]।"

(४) संवेदनात्मक रूप में :—जब प्रकृति मानव-जीवन से तादात्म्य स्थापित करके सुख-दुख में भाग लेती हुई तथा उसके प्रति अपनी सद्भावना प्रकट करती हुई चित्रित की जाती है, वहाँ संवेदनात्मक प्रकृति चित्रण होता है। 'प्रियप्रवास' के अंतर्गत हरिऔधजी ने १५वाँ सर्ग तो पूर्ण रूप से संवेदनात्मक प्रकृति चित्रण करने के लिए ही लिखा है। वहाँ एक गोप-बाला प्रकृति के नाना पदार्थों से अपने जीवन का संबंध जोड़ती हुई अपनी और उनकी व्यथा एवं वेदना की तुलना करती है। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देखती हुई वह बाला कभी पाटल के मनोमोहक पुष्प में प्रफुल्लता एवं अरुणिमा देखकर श्रीकृष्ण के आगमन की संभावना करके उससे पूँछती है :—

"क्या बातें हैं मधुर इतना आज तू जो बना है।
क्या आते हैं ब्रज अवनि में मेघ सी कान्ति वाले।"

परन्तु जब पुष्प कुछ भी उत्तर नहीं देता ; तो वह झुँझलाती हुई कह उठती है :—

'मैं होती हूँ विकल पर तू बोलता भी नहीं है।
क्या एक तेरी विपुल-रसना कुंठिता होगई है।"

भला बिचारा पुष्प क्या बोलेगा ? परन्तु जब वह यह समझती है कि यह पाटल का पुष्प है और यह पुरुष वर्ग से संबंध रखने वाला होने के कारण निष्ठुर है, तो वह तुरन्त जूही के समीप आती है। जूही स्त्री वर्ग की है, अतः उससे उसे पूरी-पूरी आशा है वह उस बाला के साथ सद्भावना प्रकट करेगी। परन्तु वहाँ आकर भी उसे शान्ति नहीं मिलती और जूही भी सरस छवि से वंचिता सी प्रतीत होती है।

(१) हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पृ० ६०८।

"छोटी छोटी रुचिर अपनी श्याम-पत्रावली में।
तू शोभा से विकच जब थी भूरिता-साथ होती।
तो ताराओं-खचित नभलौं भव्य तू थी दिखाती।
हा! क्या वैसी सरस छवि से वंचिता आज तू है।"

इसी जूही के समान उसे चम्पा भी दिखाई देती है, क्योंकि इस पुष्प के समीप तो इसका प्रिय भ्रमर आता ही नहीं। यह चम्पा पूर्णतया उस बाला समान ही वेदना युक्त है। अतः वह उसके प्रति अपनी सद्भावना प्रकट करती हुई कहती है :—

"चम्पा तू है विकसित-मुखी रूप औ गंध वाली।
पाई जाती सुरभि तुझमें एक सपुष्प-सी है।
तो भी तेरे निकट न कभी भूल है भृंग आता।
क्या है ऐसी कँसर तुझमें न्यूनता कौनसी है।"

इसी तरह यमुना, कोकिल आदि का वर्णन करते हुए भी कवि ने सम्वेदनात्मक चित्रण करने का प्रयास किया है, जो सर्वथा सुन्दर और सजीव है; परन्तु जायसी आदि 'प्रेमाख्यानक कवियों की भाँति प्रकृति सम्वेदना प्रकट नहीं करती और न उनके समान कवि ने तन्मयता एवं वेदना के आन्तरिक सौंदर्य का ही चित्रण किया है। इतना अवश्य है कि पाँचवें सर्ग में प्रकृति भी श्रीकृष्ण के वियोग में आँसू बहाती हुई एवं खिन्न तथा दीन चित्रित की गई है, वहाँ प्रकृति के अन्दर भी मानवोचित वेदना तथा वियोग-विह्वल दशा का स्वरूप देखा जा सकता है क्योंकि यमुना, फूल-पत्तों, लताओं आदि के चित्रण में हरिऔधजी ने संवेदनात्मक रूप की झाँकी सफलता के साथ प्रस्तुत की है :—

"चिन्ता की सी कुटिल उठतीं अंक में जो तरंगें।
वे थीं मानों प्रकट करतीं भानुजा की व्यथायें।
धीरे धीरे मृदु पवन में चाव से थीं न डोली।
शाखायें भी सहित लतिका शोक से कंपिता थीं।

फूलों पत्तों सकल पर हैं वारि बूंदें लखातीं।
रोते हैं या विटप सब यों आँसुओं को दिखा के।
रोई थी जो रजनि दुख से नंद की कामिनी के।
ये बूँदें हैं निपतित हुईं या उसी के दृगों से।"

(५) लोक-शिक्षा के रूप में :—लोक-शिक्षा के लिए प्रकृति चित्रण करने की प्रणाली का प्रारंभ संस्कृत के कवियों ने ही कर दिया था। जो तुलसीदास जी ने भी अपने वर्षा वर्णन में इसी लोक-शिक्षात्मक रूप को अपनाते हुए लिखा है :—

दामिनी दमकि रही घन माँहीं।
खल की प्रीति यथा थिर नाहीं॥

तथा

क्षुद्र नदी भरि चलि उतराई।
जस थोरेऊ धन खल बौराई॥

उक्त प्रणाली को अपनाते हुए हरिऔधजी ने भी अपने प्रियप्रवास में कितने ही स्थलों पर प्रकृति के उपदेशात्मक अथवा लोकशिक्षात्मक रूप का चित्रण किया है। इस चित्रण में यह विशेषता रहती है कि प्रकृति के सौम्य एवं विराट रूपों में से कितनी ही ऐसी बातें कवियों की कल्पना निकाल कर उपस्थित करती हैं कि जो शिक्षाप्रद होती हैं और जिनसे सर्वसाधारण का हित-साधन होता है। हरिऔधजी ने भी उक्त शिक्षाप्रद बातों को निम्न-लिखित ढंग से प्रस्तुत किया है :—

"कु-अंगजों की बहुकष्टदायिका।
बता रही थी जन-नेत्र-वान को॥
स्वकंटकों से स्वयमेव सर्वदा।
विदारिता हो बदरी-द्रुमावली॥"

यहाँ पर बेर का वृक्ष अपने कण्टकों से स्वयं विद्ध होता हुआ यह प्रकट कर रहा था कि कुपुत्रों से सदैव कष्ट ही कष्ट मिला करते हैं।

"सु-लालिमा में फल की लगी लखा।

विलोकनीया–कमनीय–श्यामता ॥
कहीं भली है बनती कु-वस्तु भी।
बता रही थी यह मंजु-गुंजिका ॥"

लाल-लाल घुंघचो के अन्दर काला-विन्दु अत्यंत सुन्दर दिखाई देता है। अतः यह घुंघची यह प्रकट कर रही थी कि कहीं-कहीं काले-विन्दु जैसी बुरी वस्तुयें भी अच्छी बन जाया करती हैं।

"न कालिमा है मिटती कपाल की।
न बाप को है पड़ती कुमारिका ॥
प्रतीति होती महती विलोक के।
तमोमयी सी तनया-तमारि को.॥"

सूर्य-पुत्री यमुना के काले अथवा नील वर्ण के जल को देखकर यह पता चलता था कि भाग्य में लिखी हुई कालिमा दूर नहीं होती और न कभी पुत्री में पिता के गुण ही आते हैं।

इस प्रकार के प्रकृति के शिक्षात्मक चित्र हरिऔध जी ने कितने ही स्थलों पर अंकित किए हैं जो सर्व-साधारण के लिए अत्यन्त अनुभव की बातें उपस्थित करते हैं और उन्हें कल्याण-मार्ग की ओर उन्मुख करते हैं। इन चित्रणों में हरिऔधजी की उर्वरा कल्पना एवं लौकिक ज्ञान के दर्शन होते हैं।

(६) अलंकार-योजना के रूप में—अलंकारों के लिए प्रकृति का प्रयोग आदि काल से ही होता आया है। प्रत्येक कवि ने अपने-अपने नायक-नायिकाओं के सौंदर्य चित्रण में उपमानों के लिए प्रकृति की ही शरण ली है। प्रकृति से उपलब्ध उपमान इतने रूढ़ि येवं परम्परा ग्रस्त हैं कि आजतक उनका ही प्रयोग सर्वत्र पाया जाता है॥ इतना अवश्य है कि प्रत्येक देश की प्रकृति प्रदत्त वस्तुयें पृथक्-पृथक् होती हैं और कवि लोग उन वस्तुओं को ही उपमानों के लिए अपनाया करते हैं जो उनके यहाँ अधिक मात्रा में पाई जाती हैं तथा जिनका प्रचार सर्व साधारण की बोल चाल में अधिक देखा जाता जैसे भारतवर्ष में "कमल" एक ऐसा पुष्प है जिसको शरीर के प्रत्येक

अव्यव का उपमान बताया गया है गोस्वामी तुलसीदास जी ने ही श्रीराम के सौंदर्य का चित्रण करते हुए 'कमल' से ही समस्त अंगों की समता दी है :—

"नव-कंज-लोचन, कंज-मुख, कर-कंज, पद-कंजारुम्।"

परन्तु कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं, जिनको कवियों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उपमान के रूप में अंगीकार किया है इतना अवश्य है कि वे उपमान या तो आकृति या धर्म में समता रखते या गुण-साम्य वाले हैं। हरिऔधजी ने भी अलंकारों के लिए प्रकृति के ऐसे ही पदार्थों का उपयोग अनेक स्थलों पर किया है श्रीकृष्ण का रूप सौंदर्य चित्रित करते हुए कभी "मुग्ध प्रफुल्लित पद्म समान था" कहा है, तो कभी उन्हें "कल कुवलय कैसे नेत्र वाले सजीले" कह कर पुकारा है। इसी तरह कहीं उनके समस्त शारीरिक सौंदर्य को चित्रित करते हुए प्रकृति के परमपरागत उपमानों की झड़ी लगादी है :—

"साँचे ढाला सकल वपु है दिव्य सौंदर्य वाला।
सत्पुष्पों-सी सुरभि उसकी प्राण संपोषिका है।
दोनों कंधे वृषभ-वर से हैं बड़े ही सजीले।
लम्बी बाँहें कलभ-कर सी शक्ति की पेटिका हैं।"

इसी प्रकार राधा का सौंदर्य-चित्र उपस्थित करते हुए प्रकृति से ही अनेक उपमान लेकर उसकी साज-सज्जा की है :—

"फूले कंज-समान मंजु दृगता थी मत्तता-कारिणी।
सोने सी कमनीय कान्ति तन की थी दृष्टि उन्मेपिनी।

× × × ×

लाली थी करती सरोज-पग की भूपृष्ठ को भूपिता।
बिम्बा विद्रुम आदि को निदरती थी रक्तता ओष्ठ की।

(७) दूती या दूत के रूप में—प्रकृति-चित्रण की यह परिपाटी भी अत्यंत प्राचीन है, परन्तु कवि कुल सम्राट कालिदास ने जितनी सफलता के साथ इसको अपनाया है, उतनी सफलता अन्यत्र नहीं दिखाई देती। वैसे उनके अनुकरण पर कितने ही ऐसे काव्य लिखे गये जिनमें प्रकृति के पदार्थों

को दूत या दूती बनाकर भेजा गया। उनमें से १२ वीं शताब्दी के अंतर्गत धोइक नामक कवि ने 'पवनदूत' लिखा, जो कालिदास के ही अनुकरण पर है। इसके अतिरिक्त 'नेमिदूत', 'उद्धवदूत' तथा 'हंसदूत" भी प्रसिद्ध हैं, परन्तु किसी में भी मौलिकता नहीं दिखाई देती। इस दूत-प्रणाली का श्रीगणेश कब हुआ इसका बताना अत्यंत कठिन है मल्लिनाथ ने 'मेघदूत' की व्याख्या करते हुए बतलाया है :—

"सीतां प्रति रामस्य हनूमत्संदेश मनसि विधाय मेघ संदेश कविः कृतवानित्याहुः।" (मेघदूत पूर्वमेघ १ श्लोक की व्याख्या)

जो भी हो, यह प्रणाली सर्वप्रथम कालिदास के मेघदूत' में ही पायी जाती है। हरिऔधजी ने भी इस प्रणाली को अपनाते हुए 'राधा का संदेश पवन द्वारा श्रीकृष्ण के पास भेजा है। हिन्दी-साहित्य में भी यह दूत-प्रणाली कोई नवीन नहीं है, क्योंकि जायसी ने अपने 'पद्मावत' प्रबंधकाव्य में नागमती का संदेश एक पक्षी से भिजवाया है और वियोग वर्णन करते हुए नागमती से कहलवाया है :—

"पिय सौं कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सोधनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुँआ हम लाग॥"

हरिऔधजी ने अपने पवन-संदेश में जो नवीनता प्रस्तुत की है वह केवल भाषा एवं छंद संबंधी है, शेष भावों एवं उद्गारों में तो वे पूर्ण रूप से कालिदास के ही ऋणी हैं। 'मेघदूत' में जिन भावों एवं उद्गारों को कवि ने मेघ के प्रति व्यक्त किया है, वहाँ हरिऔधजी ने उन्हीं को पवन के सम्मुख प्रकट कराया है। निम्नलिखित श्लोकों को देखने पर यह बात और भी भली प्रकार समझ में आ सकती है। कालिदास ने लिखा है :—

उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं पियासोः
　　काल क्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापांगैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
　　प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत्॥

अर्थात्, हे मेघ ! मेरे प्रिय कार्य को शीघ्र सम्पादन करने की उत्कट लालसा तुम्हारे अन्दर विद्यमान है, फिर भी मैं देखता हूँ कि विकसित कुटज के पुष्पों से परिपूर्ण सुगन्धवाला प्रत्येक पर्वत आपके विलम्ब का कारण होगा । अतः आँसुओं से परिपूर्ण नयनवाले मोरों की वाणियों का स्वागत करके आप किसी भी रीति से शीघ्र ही गमन करने का प्रयत्न करना।

इसी भाव को हरिऔधजी ने भी अपने प्रियप्रवास में इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"ज्योंही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी ।
शोभावाली अमित कितनी कुंज-पुंजें मिलेंगी ।
प्यारी छाया मृदुल स्वर से मोल लेंगी तुझे वे ।
तो भी मेरा दुख लख वहाँ तू न विश्राम लेना ॥

इसी प्रकार कालिदास ने निम्नलिखित पंक्तियों में कृषक-ललना का वर्णन किया है :—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रू विलासानभिज्ञैः
प्रीति स्निग्धैर्जनपद वधूलोचनैः पीयमानः ।"

अर्थात् हे मेघ ! कृषिकार्य का फल तुम्हारे ही आधीन है । इसलिए प्रेमपूर्वक तथा भ्रकुटियों के विलासों से अनभिज्ञ कृषकों की रमणियाँ तुम्हें आँखों से पान करती हुई सी देखेंगी ।" इसी भाव को हरिऔधजी ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"कोई क्लांता कृषक-ललना खेत में जो दिखावे।
धीरे-धीरे परस उसको क्लान्ति सर्वाङ्ग खोना ॥"

इसी तरह कालिदास ने उज्जयिनी के अन्दर मेघ को पहुँचाते हुए वहाँ के भव्य प्रासादों को देखने का आग्रह किया है :—

"वक्रः पन्था यद्यपि भवतः प्रस्थित स्योत्तराशां
सौधोत्संग प्रणय विमुखो मास्म भूरुज्जयिन्याः ॥"

अर्थात् हे मेघ! उत्तर दिशा में अलकापुरी को जाते हुए यद्यपि यह मार्ग तुम्हारे लिए कुछ टेढ़ा है, परन्तु उज्जयिनी की ओर से जाते हुए उसके राज-प्रासादों के देखने से आप पराङ्मुख न होना।" यही भाव हरिऔधजी ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

"जाते जाते पहुँच मथुरा-धाम में उत्सुका हो।
न्यारी शोभा वर नगर की देखना मुग्ध होना।
× × × ×
प्रासादों में अटन करना घूमना प्रांगणों में।
उद्युक्ता हो सकल सुर से सद्म को देख जाना॥"

उज्जयिनी में पहुँचकर कालिदास ने मेघ को महाकाल के मंदिर में भेजा है और वहाँ पर पूजा के समय अपनी मन्द्र ध्वनि से नगाड़े का कार्य करने के लिए इस प्रकार आग्रह किया है :—

अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले,
स्थातव्यं ते नयन विषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्संध्या बलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्॥

"अर्थात् हे मेघ! यदि आप महाकाल के मन्दिर में सायंकाल के समय न पहुँचकर अन्य किसी समय पहुँचते तो कम से कम सायंकाल तक वहाँ अवश्य ठहरना, क्योंकि प्रदोष काल में प्रशंसनीय पवित्र पूजा के समय नगाड़े की ध्वनि का कार्य अपनी गर्जन ध्वनि द्वारा पूर्ण करने के कारण आपको अपनी गंभीर गर्जना का अखंड फल प्राप्त होगा।" लगभग इसी भाव को हरिऔधजी ने इस प्रकार प्रकट किया है :—

"तू पूजा के समय मथुरा मन्दिरों मध्य जाना।
नाना वाद्यों मधुर-स्वर की मुग्धता को बढ़ाना।
किम्वा लेके कियत तरु के शब्दकारी फलों को।
धीरे-धीरे रुचिर-रव से मुग्ध हो हो बजाना॥

उपर्युक्त विवेचन से अब यह पूर्णरूप से पता चल गया होगा कि

हरिऔधजी ने पवन-दूत की कल्पना में कालिदास के मेघदूत से कितना क्या लिया है, परन्तु हरिऔधजी का वर्णन भी सजीवता एवं सरसता से ओत-प्रोत है। कवि ने दूती के रूप में पवन को भेजकर और पवन संबंधी क्रियाओं का वर्णन करके कालिदास से मौलिक भेद स्थापित कर लिया है। कालिदास ने तो मेघोचित कार्यकलापों का ही दिग्दर्शन कराया है और अंत में यक्ष-पत्नी के सौंदर्य की छटा अंकित की है; यहाँ पर हरिऔधजी ने पवनोचित क्रियाचातुरी को दिखाते हुए श्रीकृष्ण के रूप-सौंदर्य की झाँकी दिखाई है। अंत में हरिऔधजी ने राधा के हृदय की श्रद्धा-भक्ति का जो चित्रण किया है वह सर्वथा अनूठा और भव्य है। राधा कृष्ण की सच्ची प्रेमिका, सेविका और अपार श्रद्धा रखने वाली है। अतः वह पवन से केवल यही आग्रह अंत में करती है कि:—

"पूरी होवें न यदि तुझसे अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मानले औ चली जा।
छूके प्यारे कमल-पग को प्यार से साथ आजा।
जी जाऊँगी हृदय-तल में मैं तुझी को लगा के।"

उक्त, पंक्तियों में कितनी मर्म-वेदना भरी हुई है। ये पंक्तियाँ एक ओर तो राधा के हृदय की सच्ची अनुराग-भावना की द्योतक हैं और दूसरी ओर वियोग-भावना को भली प्रकार सुसज्जित करने वाली हैं। ऐसी ही कल्पना द्वारा हरिऔधजी ने यह दूती के रूप में प्रकृति-चित्रण किया है।

(८ मानवीकरण के रूप में:—प्रकृति चित्रण की यह प्रणाली अत्यंत नवीन है। इसमें कवि लोग प्रकृति के अवयवों को मानवोचित क्रिया-कलाप करते हुए अंकित किया करते हैं और प्रकृति भी उसी प्रकार सांसारिक क्रिया-कलापों में व्यस्त चित्रित की जाती हैं, जिस प्रकार कि अन्य मानव समाज व्यस्त रहता है। प्रकृति-चित्रण की इस प्रणाली में प्रकृति के अन्दर मानव-व्यापारों का आरोप किया जाता है और समस्त प्रकृति में चेतन-शक्ति का एक अखण्ड स्वरूप स्वीकार करके पुनः उसकी गति:विधियों का उल्लेख किया जाता है। अंग्रेजी साहित्य में मानवीकरण (Personification)

एक अलंकार माना गया है। आधुनिक साहित्य के अंतर्गत इसका प्रचार अत्यधिक पाया जाता है; वैसे प्राचीन साहित्य में भी इसके उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, परन्तु जितनी मधुरता एवं स्निग्धता के साथ आधुनिक साहित्य में इसका प्रयोग मिलता है, उतना प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता। हरिऔधजी ने भी इस प्रणाली को अपनाया है, परन्तु उस काल तक मानवीकरण का प्रयोग इतना अधिक नहीं होता था। यही कारण है कि 'प्रियप्रवास' में थोड़े से ही उदाहरण देखने को मिलते हैं। चतुर्थ सर्ग में विरह से व्याकुल राधा के तारों के अन्दर भी व्याकुलता दिखाई देती है। यह व्याकुलता व्यक्ति के हृदय की भावना है, कवि ने उस भावना को तारों के अन्दर भी दिखलाया है:—

"उडुगण थिर से क्यों होगये दीखते हैं।
यह विनय हमारी कान में क्या पड़ी है
रह-रह इनमें क्यों रंग आ जा रहा है।
कुछ सखि, इनको भी हो रही बेकली है।"

इससे सुन्दर मानवीकरण हरिऔधजी ने गोवर्द्धन-शैल के वर्णन में उपस्थित किया है, क्योंकि वहाँ पर पर्वत को पूर्णतय एक दर्पपूर्ण उन्नतग्रीवा वाले व्यक्ति की भाँति चित्रित किया है:—

"ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
या होता अति ही सगर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार में।
मैं हूँ सुन्दर मान दण्ड ब्रज की शोभामयी भूमिका॥"

इसके अतिरिक्त पवन को दूत बनाकर भेजने में भी कवि ने मानवीकरण का ही प्रयोग किया है; क्योंकि पवन भी एक व्यक्ति की तरह ही समस्त क्रियायें करने के लिए बाध्य की गई है और उनको कभी 'भगिनि', कभी 'मर्म्मज्ञे' आदि शब्दों से सम्बोधित किया है।

उपर्युक्त प्रकृति-चित्रण की प्रणालियों के अतिरिक्त आधुनिक कविता में प्रतीकात्मक तथा रहस्यात्मक रूप में और प्रकृति-चित्रण मिलता है परन्तु

हरिऔधजी ने इन दोनों रूपों को 'प्रियप्रवास' में स्थान नहीं दिया। उनके ऊपर द्विवेदी कालीन इतिवृत्तात्मकता का प्रभाव अधिक मात्रा में था। अतः सीधे-सीधे चित्रणों में ही उनकी प्रवृत्ति अधिक रही। वे लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता तथा रहस्यात्मकता के चक्कर में नहीं पड़े, क्योंकि ये सभी बातें उनकी भावनाओं के प्रतिकूल थीं और इन्हें वे काव्य के लिये ही नहीं, अपितु जीवन के लिए भी व्यर्थ समझते थे। उन्हें प्रकृति के प्रत्यक्ष रूप ही अधिक प्रभावित करते थे। और उनको देखकर ही वे एक मधुर एवं स्वर्गीय आनंद का अनुभव किया करते थे। पं० गिरजादत्त शुक्ल ने लिखा है :—"ताज़े खिले फूल में, गुन गुन करने वाले भौंरे में, संध्या और प्रभात में, तारागण तथा चन्द्रमा में, पक्षियों के कलरव में, नदियों के कल-कल गान में, सांसारिक संघर्ष से थके हारे मानव-हृदय को वहलाने की शक्ति पायी जाती है। 'प्रियप्रवास' में प्रकृति के इस रूप का चित्रण अधिकता के साथ में किया गया है। वास्तव में कहा जा सकता है कि हरिऔधजी के प्रकृति-प्रेमिक हृदय ने बड़ी ही खूबी के साथ इस महाकाव्य में इस विशेषता का प्रदर्शन किया है :—

(घ) प्रियप्रवास की रचना-शैली

काव्य के लिए विद्वानों ने चार तत्व आवश्यक बतलाये हैं जिनको क्रमशः बुद्धितत्व, कल्पनातत्व, रागतत्व तथा शैली-तत्व की संज्ञा दी है। इस तत्वों में प्रथम तीन तत्वों का सम्बन्ध काव्य की आन्तरिक स्थिति से है अर्थात् आन्तरिक सौंदर्य को प्रकट करने के लिए प्रथम तीन-तत्वों का होना अनिवार्य है; किन्तु चौथा तत्व बाहरी सौंदर्य-विधान में सर्वाधिक सहायक होता है, इसके बिना काव्य का बाह्य स्वरूप न तो अभिव्यक्त होता है और न उसमें रमणीकता आती है। इस चतुर्थ शैलीतत्व के लिए भाषा, शब्द शक्तियाँ, गुण, अलंकार और वृत्त सहायक उपकरण माने गये हैं। इन समस्त उपकरणों से संयुक्त होकर ही शैली तत्व काव्य का सरस विधान करता है और पाठकों को आकर्पित करता हुआ काव्य के उद्देश्य से उन्हें अवगत कराता है। अब हम क्रमशः इन सभी उपकरणों पर विचार करेंगे

और देखेंगे कि महाकाव्य प्रियप्रवास में उनका कैसा और कहाँ तक प्रयोग हुआ है ?

(१) भाषा—प्रियप्रवास की भाषा खड़ी बोली हिन्दी है। जैसाकि हम पहले कह चुके हैं यह संस्कृत-गर्भित तथा समास-युक्त है। ऐसी भाषा हरिऔधजी ने एक विशेष उद्देश्य से ही लिखी है। उनका मत था कि यहाँ की बोलचाल की भाषा में यदि काव्य लिखा जायगा तो उसका आदर अपने प्रान्त में भले ही हो, परन्तु अन्य प्रान्तों में उसे कोई भी नहीं समझेगा, अतः वह ग्रंथ उनके आदर का पात्र नहीं बन सकेगा; परन्तु संस्कृत-शब्दों को सभी प्रान्त वाले समझ सकते हैं। अतः इसी धारणा से प्रभावित होकर उन्होंने 'प्रियप्रवास' की भाषा को पूर्णतया संस्कृत पदावली से युक्त करने की चेष्टा की। उनके इस प्रयत्न में कहीं-कहीं तो काव्य की भाषा इतनी संस्कृत-मय हो गई कि उसे खड़ी बोली कहना भी असंगत सा दिखाई देता है। चतुर्थ सर्ग में राधा का सौंदर्य-वर्णन इसी क्लिष्टतम संस्कृत-गर्भित भाषा का उदाहरण है, जहाँ केवल 'थीं' या 'थी' से ही खड़ी बोली हिन्दी का होना ज्ञात होता है :—

नाना-भाव-विभाव-हाव कुशला आमोद-आपूरिता ।
लीला-लोल कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रू भंगिमा-पंडिता ।
वादित्रादि समोद-वादन-परा आभूषणा-भूषिता ।
राधा थीं सुमुखी विशाल-नयना आनंद-आन्दोलिता ।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सारे महाकाव्य में संस्कृत गर्भित भाषा का ही प्रयोग किया हो। कितने ही स्थल सरल, सुबोध और व्यास-युक्त भाषा में भी लिखे गये हैं, जिनमें संस्कृतवर्णों की सी कर्ण-कटुता एवं कठोरता लेश मात्र भी नहीं है, अपितु अत्यन्त सरस पदावली में सरस भावों की अभिव्यक्ति मिलती है। अकेले नन्द के मथुरा से लौट आने पर यशोदा ने जो हार्दिक भाव प्रकट किये हैं, वे सरस और सरल भाषा में सफलता के साथ अंकित किये गये हैं :—

"प्रियपति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है।
दुख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है।
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र-तारा कहाँ है।"

हरिऔधजी मुहावरेदार भाषा लिखने में बड़े सिद्ध हस्त हैं। उनके 'बोलचाल' 'चोखे-चौपदे' तथा 'चुभते-चौपदे' तो बोलचाल की मुहावरेदार भाषा में ही लिखे गये हैं। प्रियप्रवास में भी आपने कितने ही स्थलों पर मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग किया है, जो सर्वथा सुन्दर एवं सफल हैं। निम्नलिखित कतिपय उदाहरणों में हरिऔधजी की मुहावरेदानी का पता 'प्रियप्रवास' में भी अच्छी प्रकार चल जायगा :—

(१) "मैं आऊँगा कुछ दिन गये बाल होगा न बाँका।"
(२) "हो जाती थी निरख जिसको भग्न छाती शिला की।"
(३) "जो होता है विकल मुँह को आरहा है कलेजा।"
(४) "तुम सब मिलके क्या कान को फोड़ दोगी।"
(५) "प्रियतक ! अब मेरा कंठ में प्राण आया।"
(६) "क्यों होजाता न डर-शतधा आज खो के उन्हीं को।"
(७) "हा ! हा ! मेरे हृदय पर यों साँप क्यों लोटता है।"
(८) "लूटे लेती सकल निधियाँ श्यामली-मूर्ति देखे।"
(९) "ऊधो मेरे हृदय पर तो साँप है लोट जाता।"
(१०) "आके प्यारे कुँवर उजड़ा गेह मेरा बसावें।"
(११) "होके सु-रजित सुधानिधि की कला से, फूले नहीं नवल-पादप हैं समाते।"

उपर्युक्त मुहावरों के द्वारा हरिऔधजी ने काव्य में सजीवता सी उत्पन्न करदी है। इसी प्रकार—लोकोक्तियों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में किया है। इन लोकोक्तियों की इतनी सफलता के साथ चित्रित किया है कि वे सभी सूक्तियों या सुभाषित पदावली का रूप धारण कर गई हैं :—

(१) "वह कब टलता है भाग में जो लिखा है।"

(२) " पीड़ा खो के प्रणतजन की पुण्य होता बड़ा है ।"
(३) " प्यारे सर्व-विधान ही नियति का व्था मोह से है भरा।"
(४) " प्यासा-प्राणी श्रवण करके वरि के नाम ही को ।
क्या होता है पुलकित कभी जो उसे पी न पावे ॥"
(५) " स्वामी विना सब तमोमय है दिखाता ।"
(६) "पीड़ा नारी हृदय-तल की नारि ही जानती है ।"
(७) " जो होता है सुखित उसको वेदना दूसरों की।।
क्या होती है विदित जबलौं मुक्त-भोगी न होवे ।"
(८) " खोटे होते दिवस जब हैं भाग्य जो फूटता है ।
कोई साथी अवनि-तल में है किसी का न होता ।"
(९) " कुछ दुख नहिं कोई बाँट लेता किसी का ।
सब परिचय वाले प्यार ही हैं दिखाते ।"
(१०) " भावोन्मेषी प्रणय करता सर्व सद्वृत्ति को है ।"
(११) " भावों ही से अवनि-तल है स्वर्ग के तुल्य होता ।"
(१२) " छाई व्यापी तिमिर उर-भू सी निराशा जहाँ है ।
होजाती है उदित मलिना-ज्योति-आशा वहाँ भी ।"

खड़ी बोली के जिन दो रूपों की चर्चा ऊपर की गई है उन दोनों में ही हरिऔधजी की अबाध गति दिखाई देती है । ऐसा प्रतीत होता है कि वे खड़ी बोली के इन दोनों रूपों का प्रयोग कर रहे थे कि जो रूप भी अधिक प्रचलित हो जाय उसी में वे आगामी रचना करें । आगे चलकर जब संस्कृत-गर्भित रूप के लिए लोगों ने नाक-भौं सिकोड़ना प्रारम्भ किया तो हरिऔधजी ने उसे सदा के लिए छोड़ दिया और यह आश्वासन भी दिलाया कि " जो सज्जन मेरे इतना निवेदन करने पर भी भौंह की वंक्रता निवारण न कर सकें, उनसे मेरी यह प्रार्थना है कि वे "वैदेही बनवास" के कर कमलों में पहुँचने तक मुझे क्षमा करें, इस ग्रंथ को मैं अत्यन्त सरल हिन्दी और प्रचलित छन्दों में लिख रहा हूँ ।" वैसे संस्कृत गर्भित पदावली के अंतर्गत गोस्वामीजी की विनयपत्रिका तथा केशवदासजी की 'रामचन्द्रिका'

भी मिलती है और दोनों ग्रन्थ हिन्दी जगत में प्रर्याप्त आदर का स्थान प्राप्त किये हुए हैं। अतः हरिऔधजी ने भी उक्त 'प्रियप्रवास' में इसका प्रयोग किया। वैसे खड़ी बोली के अतिरिक्त कितने ही शब्द लोक प्रचलित व्रज-भाषा के भी आगये हैं, जो कहीं-कहीं तो खड़ी बोली के बीच में अत्यन्त भद्दे और कुरूप से जान पड़ते हैं और कविता की रसधारा में व्यवधान सा उपस्थित कर देते हैं। इन शब्दों में से कढ़ी, बिसूरना, लखना, भाखना, जँचना, वलना आदि क्रियायें हैं जो प्रियप्रवास के पदों में जहाँ-तहाँ आई हैं; साथही ढोटा, पखेरू, लोने-लोने, सिगरी, उपढौकन, सुअन, अवलौं, लौं, जतन वगर, चिहुँक, लैरू आदि कितने ही ऐसे शब्द हैं जो व्रजभाषा से लिये गये हैं। हरिऔधजी पहले व्रजभाषा के ही सफल कवि थे। अतः व्रजभाषा के शब्दों का उनकी कविता के अन्तर्गत आजाना अत्यन्त स्वाभाविक है। परन्तु कुछ प्रचलित उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का भी प्रयोग आपने प्रियप्रवास में किया है, जिनमें से गरीबिन, जुदा, ताब आदि शब्द अधिक आये हैं। जुदा शब्द तो कई बार आया है और खड़ी बोली के धार्मिक वातावरण में विधर्मी जैसा दिखाई देता है।

हरिऔध जी ने छन्दों के आग्रह से कुछ नये-नये शब्दों का प्रयोग भी अपने "प्रियप्रवास" में किया है। ये प्रयोग एक ओर तो नवीनता के सूचक हैं और दूसरी ओर इनके कवि-कर्म की दुरुहता का भी पता चलता है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित पंक्तियों में रेखांकित शब्दों के अंतर्गत हरिऔधजी की भाषा के नये प्रयोग देखे जा सकते हैं:—

(१) 'कर जनैक लिये इस वाद्य को।' यहाँ एक जन के लिये 'जनैक' का प्रयोग किया है।

(२) "झनकता यक झींगुर भी न था।" यहाँ एक के लिये छंद के आग्रह से 'यक' का प्रयोग किया है जो सर्वथा अप्रचलित है।

(३) "हाँ! भूलेंगी जल्द-तन की श्यामली-मूर्ति कैसे।" यहां पर एक मात्रा कम करने के लिये प्रचलित 'जलद' शब्द को 'जल्द' बना दिया है।

(४) "तेरी तीखी महँक मुझको कष्टिता है बनाती।" यहाँ कष्टिता का प्रयोग कष्ट के लिये ही हुआ है। जो सर्वथा अप्रचलित है।

(५) "उर विच बलती है आग देखे दुखों की।" यहाँ 'बीच' के लिये 'बिच' का प्रयोग छंद के आग्रह से है। वैसे पंजाबी भाषा में भी बीच के लिये विच ही बोला जाता है।

इसी प्रकार संस्कृत के भी कुछ ऐसे अप्रचलित शब्द 'प्रियप्रवास' में प्रयोग किये गये हैं, जिनको हिन्दी-कविता में और कवियों ने नहीं अपनाया। इनमें से क्वणित, कियत, कदन, व्यादन, तल्प पृथुल, पेशलता, विवि, मुह्यमाना, आदौ, समवेत आदि प्रमुख हैं। 'कियत' शब्द का तो प्रयोग सबसे अधिक किया गया है।

अंत में यह मानना पड़ेगा कि भाषा विषय के अनुकूल ही रहा करती है, जब हरिऔध जी ने संस्कृत वृत्तों में रचना करने का निश्चय किया तो उनके लिये यह आवश्यक हो गया कि संस्कृत की पदावली को न्यूनाधिक मात्रा में अपनाया जाय क्योंकि अन्त्यानुप्रास हीन संस्कृत वृत्तों में लिखी जाने वाली कविता के लिये कितनी ही कठिनाइयाँ थीं उनसे छुटकारा पाने के लिये संस्कृत पदावली एवम् अन्य भाषाओं के शब्दों को बिना अपनाये काम नहीं चल सकता था। दूसरे श्रीकृष्ण के जीवन चरित्र से तो सभी लोग परिचित थे, हरिऔध जी को खड़ी बोली के अंतर्गत संस्कृत वार्णिकवृत्तों में एक महाकाव्य का अभाव खटक रहा था। उसकी पूर्ति के लिये ही यह सारा प्रयास किया था। अतः प्रथम प्रयास में क्लिष्ठता एवम् दुरुहता आ जाना स्वभाविक ही है, फिर भी सारे महाकाव्य को पढ़ जाने पर पता चलता है कि भाषा अपेक्षाकृत क्लिष्ट नहीं है। मधुर एवम् सरस पदावली भी अधिक मात्रा में विद्यमान है।

(२) शब्द शक्तियाँ:—किसी भी काव्य का निर्माण करने एवम् उसे समझने के लिये विद्वानों ने शब्द-शक्ति का ज्ञान परमावश्यक बतलाया है। जिनको शब्द-शक्ति का ही ज्ञान नहीं होता वे न तो काव्य की रचना कर सकते हैं और न उसे समझ ही सकते हैं। शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं।

अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना। अभिधा शब्द की प्रथम शक्ति है इससे केवल अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण होता है। यह मुख्यार्थ को बतलाया करती है इस शक्ति द्वारा अर्थ की जानकारी संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध अर्थ-प्रकरण, प्रसंग, चिन्ह, सामर्थ्य औचित्य, देश-काल, काल-भेद और स्वर-भेद द्वारा की जाती है जैसे 'मरु' में जीवन दूरि है, कहने से मरुभूमि के कारण यहाँ 'जीवन का अर्थ केवल 'पानी' ही से लिया जा सकता है दूसरा नहीं। अतः प्रकरण द्वारा यहाँ 'जीवन' का अर्थ 'पानी' अभिधा शक्ति से लगाया गया है। जिस समय मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होती है तो उस मुख्य अर्थ को छोड़कर उससे सम्बद्ध किसी दूसरे अर्थ की कल्पना जिस शक्ति द्वारा की जाती है उसे लक्षणा शक्ति कहते हैं। इस लक्षणा के कितने ही भेद विद्वानों ने किये हैं परन्तु उनमें से ६ प्रमुख माने गये हैं :—

(१) उपादान लक्षण।, (२) लक्षण-लक्षणा, (३) गौणी सारोपा लक्षणा (४) गौणी साध्यवसाना लक्षणा, (५) शुद्धा सारोपा लक्षण (६) शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा। जैसे पगड़ी की लाज रखना, यहाँ पगड़ी में पगड़ी वाले का आरोप करके पगड़ी वाले की लाज रखना अर्थ होता है। अतः यहाँ उपादान लक्षण है। इसी प्रकार जिस शब्द शक्ति द्वारा शब्द या शब्द-समूह के वाक्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है। अर्थात् जिससे साधारण अर्थ को छोड़कर किसी विशेष अर्थ का बोध होता है, उसे व्यंजना शक्ति कहते हैं। जैसे यदि कोई मनुष्य किसी से कहे कि 'सूर्यस्त हो गया' तो इसको अर्थ भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न लगायेंगे। एक वैश्य 'दुकान बढ़ाने' का अर्थ लगायेगा, एक शत्रु को चढ़ाई करने के अर्थ की प्रतीति होगी एक अभिसारिका पति-समीप जाने का अर्थ लगायेगी, एक संध्यावंदन करने वाला संध्या-वन्दन करने का अर्थ लगायेगा; एक गृहस्थी गाय आदि दुहने का अर्थ लगायेगा। इस प्रकार ये समस्त अर्थ व्यंजना शक्ति द्वारा ही प्रतीति होते है। यह व्यंजना शक्ति दो प्रकार होती है। (१) शाब्दी और (२) आर्थी। इनके पुनः कितने हो उपभेद किये गये हैं। इस प्रकार इन तीन शब्द शक्तियों का जानना काव्य के लिये अत्यावश्यक है।

उपर्युक्त तीन शब्द शक्तियों के तीन अर्थ भी होते हैं जो क्रमशः वाच्यार्थ लक्षणार्थ तथा व्यङ्गार्थ कहलाते हैं। यह हम पहले कह चुके हैं कि प्रियप्रवास में अभिधा शक्ति का ही प्राधान्य है। अतः वाच्यार्थ ही सर्वत्र अधिक मात्रा मिलता है। यहाँ हमारे वाच्यार्थ कहने से तात्पर्य यह है, कि 'प्रियप्रवास' की कविता में सर्वत्र एक ही सीधे-सीधे अर्थ की प्रधानता है। अतः इस काव्य को अभिधा प्रधान काव्य कह सकते हैं। परन्तु जहाँ तहाँ लक्षणा-शक्ति का भी प्रयोग दिखाई देता है; जैसे यशोदा-विलाप के समय कवि ने लक्ष्मण शक्ति द्वारा वियोग वर्णन में एक सजीवता उत्पन्न करदी है :—

"प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
दुःख-जल निधि डूबी का सहारा कहाँ है।
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकूँ हूँ,
वह हृदय हमारा नेत्र तारा कहां है।"

उपर्युक्त पद में 'सहारा' 'हृदय' तथा 'नेत्र तारा' शब्दों में लाक्षणिक अर्थ की ही प्रधानता है। लक्षणा से इनका अर्थ क्रमशः 'सहारा देने वाला' हृदय के समान 'अत्यन्त प्रिय" तथा नेत्र तारा के समान 'अत्यन्त लाड़ला' होगा। इस प्रकार प्रथम 'सहारा' शब्द के अन्तर्गत उपादान लक्षणा है क्योंकि यहाँ अभिप्रेत अर्थ के लिये शब्द ने अपनी पूर्ण परित्याग नहीं किया है। जबकि हृदय' तथा 'नेत्र तारा' का अर्थ क्रमशः 'अत्यन्त प्रिय' तथा 'लाड़ला' होने के कारण यहाँ लक्षण लक्षणा है। इसी प्रकार निम्नलिखित रेखांकित शब्दों में भी उपादन लक्षणा का प्रयोग मिलता है :—

हा! वृद्धा के अतुलधन हा! वृद्धता के सहारे।
× × × ×
हा! बेटा हा! हृदय-धन हा! नेत्र-तारे हमारे।

व्यंजना-शक्ति का प्रयोग भी जहाँ-तहाँ थोड़ी बहुत मात्रा में मिलता है। जहाँ व्यंजना शक्ति से उत्पन्न व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है वह ध्वनि-काव्य कहलाता है और आनन्द-वर्धनाचार्य तथा मम्मटाचार्य के मत से ध्वनि-काव्य ही सर्व श्रेष्ठ माना गया है। 'प्रियप्रवास' में ध्वन्यार्थ की प्रधानता तो नहीं है,

परन्तु निम्नलिखित पंक्तियों में व्यंग्यार्थ अथवा ध्वन्यार्थ का भी आभास मिलता है :—

हा ! हा ! आँखों मम-दुख दशा देखली औ न सोची ।
बातें मेरी कमलिनिपते कान की भी न तू ने ।
जो देवेगा अवनितल को नित्य का सा उँजाला ।
तेरा होना उदय व्रज में तो अंधेरा करेगा ।

इन पंक्तियों मे सूर्योदय होने पर भी अन्धकार के होने का जो कथन किया गया है उसका व्यंग्यार्थ यह है । कि व्रजभूमि में सवेरे सर्वत्र वियोग जन्य विपत्ति छा जायेगी, क्योंकि प्रभात होते ही श्री कृष्ण मथुरा चले जायेंगे और उसके अभाव में सभी गोप गोपी नित्य तड़पते ही रहेंगे । इसी प्रकार कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में भी व्यंजना शक्ति द्वारा वियोग की अधिकता को बतलाया है । क्योंकि पत्ते-पत्ते एवं व्रज के कोने-कोने में कृष्ण के वियोग की ध्वनि व्याप्त हो गई थी :—

पत्ते-पत्ते सकल तरु से औ लता वेलियों से ।
कोने-कोने व्रज सदन से पंथ की रेणुओं से ।
होती सी थी यह ध्वनि सदा कुंज से काननों से ।
लौने-लौने कुँवर अबलौं क्यों नहीं सद्म आये ।

इसके अतिरिक्त वियोगावस्था का जितना भी वर्णन 'प्रियप्रवास' में मिलता है । वह सभी व्यंजना प्रधान है क्योंकि रस सदैव व्यंग्य रहता है । और इन वर्णनों से विप्रलंभ शृंगार अथवा करुणा रस की प्रतीति होती है ।

(३) गुण :—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र तथा अग्निपुराण और भामह दंडी, आदि प्राचीन आचार्यों के मतानुसार वामन ने पहले गुणों की संख्या १० स्थिर की थी । परन्तु मम्मटाचार्य ने अपने 'काव्यप्रकाश' में तीन गुणों के अन्तर-गत ही इन सभी गुणों को अन्तरभूत कर लिया है । वे तीन गुण क्रमशः माधुर्य, ओज, और प्रसाद, कहलाते हैं । तीनों गुणों के स्वरूप का वर्णन करते हुए मम्मटाचार्य ने इन के निम्नलिखित लक्षण बतलाये हैं :—

१—"आह्लादकँत्वं माधुर्य्यं शृंगारे द्रुति कारणम् ।" अर्थात् जो अत्यंत

आह्लादकारी होता है। वह माधुर्य गुण कहलाता है। यह गुण शृंगार रस में अधिक तीव्रता को प्राप्त होता है।

२—"दीप्त्यात्मविस्तृतेतुर्हेरोजो वीररसस्थिति।" अर्थात् जिसके कारण चित्त का विस्तार होना है। और जो उस विस्तार करने वाली दीप्ति को उत्पन्न करता है वह ओज गुण है। यह वीर रस में पाया जाता है।

३—"शुष्केन्धना ग्निवत् स्वच्छजल वत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्य न्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहित स्थितिः।" अर्थात् जो सूखे ईंधन में अग्नि के समान तथा स्वच्छ जल की तरह सर्वत्र व्याप्त रहता है वह प्रसाद गुण कहलाता है। यह सभी रसों में पाया जाता है।

उपर्युक्त तीनों गुणों की स्थिति का यदि पता चलाया जाय तो 'प्रिय-प्रवास' महाकव्य में ये तीनों गुण सर्वत्र व्याप्त मिलेंगे। माधुर्य गुण की छटा निम्नलिखित पंक्तियों में अत्यन्त भव्य रूप में विद्यमान है :—

"यह विचित्र-सुता वृषभानु की
ब्रज-विभूषण में अनुरक्त थी।
सहृदया यह सुन्दर,बालिका।
परम-कृष्ण-समर्पित-चित्त थी।"

इसी प्रकार ओज गुण की छटा दावाग्नि के समय श्री कृष्ण के इस कथन में सफलता के साथ अंकित की गई है :—

"बढ़ो करो वीर स्व-जाति का भला।
अपार दोनों विध लाभ है हमें।
किया स्व-कर्त्तव्य उबार जो किया।
सु-कीर्ति पाई यदि भस्म होगये।"

प्रसाद गुण तो सभी स्थलों पर विद्यमान है। विशेष रूप से यशोदा-विलाप, राधा का पवन द्वारा संदेश तथा श्रीकृष्ण के जीवन की सभी घटनाओं के वर्णन में यह प्रसाद-गुण पाया जाता है। उदाहरण के लिए प्रसाद गुण सम्पन्न निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए :—

"प्रियतम ! अब मेरा कंठ में प्राण आया।
सच सच बतलादो प्राण प्यारा कहाँ है।
यदि मिल न सकेगा जीवनाधार मेरा।
तब फिर निज पापी प्राण में क्यों रखूँगी॥"

(४ अलंकार :—अलंकारों की व्याख्या करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है :—

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हाराणदिवत अलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

अर्थात् जो अपने अंगों द्वारा विद्यमान रहते हुए कदाचित् इसका उपकार करते हैं ऐसे हारादि के समान अनुप्रास, उपमा आदि अलंकार कहलाते हैं। इस प्रकार अलंकार उपकार करने वाले अथवा शोभा बढ़ाने वाले होते हैं ; उन्हीं को सब कुछ मान बैठना भूल है। आचार्यों ने गुण को शब्द और अर्थ का स्थिर धर्म तथा अलंकार को इनका अस्थिर धर्म माना है। बा० श्यामसुन्दरदास की राय में भाव विचार तथा कल्पनायें तो काव्य-राज्य के अधिकारी हैं और अलंकार उसके परिपार्श्वक हैं।[१] इस समस्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि कविता के लिए अलंकारों का होना कोई अत्यावश्यक नहीं ; केवल काव्य-सौंदर्य को अधिक चमत्कृत एवं आकर्षक बनाने के लिए ही अलंकारों का प्रयोग वांछनीय है। अलंकार दो प्रकार के होते हैं—(१) शब्दालंकार, और (२) अर्थालंकार। यदि कहीं-कहीं एक ही साथ दोनों प्रकार के अलंकारों का वर्णन होता है तो उनको उभयालंकार कहते हैं। शब्दालंकारों में केवल शब्दक्रम को ऐसा आकर्षकपूर्ण ढंग से उपस्थित किया जाता है कि पाठक को रचना के पढ़ने में चमत्कार के साथ-साथ आनंद की उपलब्धि होती है और अर्थालंकारों में साम्य, विरोध तथा सान्निध्य पर ध्यान रखा जाता है।

(१) साहित्यालोचन पृ० ३१६।

आधुनिक युग में अलंकारों के प्रति उतना ध्यान नहीं दिया जात, जितना कि रीतिकाल आदि पहले समयों में दिया जाता था। आजकल स्वाभाविक ढंग से जो अलंकार आ जायें उनको ही काव्य के लिए उपयोगी माना जाता है, परन्तु परिश्रम करके अलंकारों को कविता में भरने से वह कविता श्रमसाध्य कविता (laboured poetry) हो जाती है और उसे अब पसंद नहीं किया जाता। यही कारण है कि शुक्लजी ने अलंकार की परिभाषा इस प्रकार की है—"भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं का रूप, गुण, और क्रिया का अधिक अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलंकार है।"[1] यह परिभाषा मम्मटाचार्य की काव्य परिभाषा से मिलती जुलती है। उन्होंने 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" कहकर काव्य को दोष-रहित, गुणयुक्त तथा कभी-कभी अलंकार न भी रहनेवाला बतलाया है। अतएव यह स्पष्ट पता चल जाता है कि आधुनिक कविता के लिए कल्पना, भाव, विचार की अपेक्षा अलंकार उतने आवश्यक नहीं, परन्तु जिस युग में हरिऔधजी ने कविता करना आरम्भ किया था उस समय अलंकारों को काव्य के लिए अत्यंत उपयोगी और आवश्यक सा माना जाता था। उन्होंने पहले व्रजभाषा में रचना करना प्रारम्भ किया और व्रजभाषा-साहित्य में सौंदर्य उत्पन्न करने के लिए अलंकारों को पहले से ही अत्यधिक अपनाया जाता था। अतः हरिऔधजी भी अलंकारों के व्यामोह से वंचित न रह सके। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी इस अलंकार-प्रियता को 'रसकलस' में अच्छी प्रकार प्रकट किया है। अब हम 'प्रियप्रवास' में अलंकारों के देखने की चेष्टा करेंगे। सर्वप्रथम शब्दालंकारों को लेते हैं।

(१) वृत्त्यनुप्रास :—"खिन्ना दीना परम-मलिना उन्मना राधिका थीं।

(२) छेकानुप्रास :—"बहु विनोदित थी व्रज-बालिका।"

(३) श्रुत्यनुप्रास :—"कल मुरलि निनादी लोभनीयांग शोभी।
अलि कुल मति लोपी कुन्तली कान्ति शाली।

(१) चिन्तामणि।

(४) यमक :—(क) मृदुरव जिसका है रक्त सूखी नसों का।
वह मधुमय कारी मानसों का कहाँ है।
(ख) फिर सु-जीवन जीवन को मिला।
वुध न जीवन क्यों उसको कहें।"

अर्थालंकार :—

(१) उपमा :—(क) "कल कुवलय के से नेत्र वाले रसीले।"
(ख) "गगन सांध्य समान सुओष्ठ थे।
दसन थे युगतारक से लसे।
मृदु हंसी वर ज्योति समान थी।
जननि मानस की अभिनन्दिनी।"

(२) पूर्णोपमा :—"ककुभ-शोभित गोरज वीच से।
निकलते व्रज-वल्लभ वों लसे।
कदन ज्यों करके दिशि कालिमा।
विलसता नभ में नलिनीश है।

(यहाँ पर व्रजल्वलभ उपमेय, नलिनीश उपमान, लसे और विलसता धर्म तथा यों तथा ज्यों वाचक शब्द हैं।)

(३) मालोपमा :—"चिन्तारूपी मलिन निशि की कौमुदी है अनूठी।
मेरी जैसी मृतक बनती हेतु संजीवनी है।
नाना पीड़ा मथित-मन के अर्थ है शान्तिधारा।
आशा मेरे हृदय मस की मंजु मंदाकिनी है॥"

(यहाँ पर एक आशा की समानता कौमुदी, संजीवनी, शान्तिधारा और मन्दाकिनी के साथ की गई है, अतः मालोपमा है।)

(४) रूपक :—"जननि मानस-पुण्य पयोधि में।
लहर एक उठी सुख-मूल थी।

(५) सांगरूपक :—ऊधो मेरा हृदय-तल था एक उद्यान न्यारा।
शोभा देती अमित उसमें कल्पना-क्यारियाँ थीं।

प्यारे-प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के विपुल-विटपी मुग्धकारी महा थे।

(यहाँ पर हृदय में उद्यान का पूर्ण रूप से आरोप किया गया है और कल्पना, भाव एवं उत्साह को क्रमशः क्यारियाँ, कुसुम तथा विटप कहा है।)

(६) परंपरितरूपक :—व्रजधरा यक बार इन्हीं दिनों।
पतित थी दुःख-वारिध में हुई।
पर उसे अवलम्बन था मिला।
व्रज-विभूषण के भुज-पोत का।

(यहाँ पर दुःख में वारिध का आरोप करने के कारण भुजा में पोत का आरोप किया है।)

(७) सन्देह :—ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
या होता अति ही सगर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या वार्त्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार में।
मैं हूँ सुन्दर मानदण्ड व्रज की शोभामयी भूमिका।

(यहाँ प्रत्येक 'या', 'या' के द्वारा कितनी ही सादृश्य कल्पनाएँ करने के कारण बराबर सदेह ही बना हुआ है और कोई निश्चित मत नहीं दिया गया है।)

(८ भ्रान्ति :—यदि वह पपिहा की शारिका या शुकी की।
श्रुति-सुखकर-बोली प्यार से बोलते थे।
कलरव करते थे तो भूरि-जातीय-पक्षी।
ढिग तरु पर आ के मत्त हो बैठते थे।

यहाँ पर कृष्ण की बोली में पपीहा, शारिका या शुक की बोली का भ्रम होने के कारण भ्रान्तिमान अलंकार है।)

(९) काव्यलिंग :—तदपि दर्शक-लोचन लालसा।
फलवती न हुई तिलमात्र भी।

नयन की लख के यह दीनता।
सकुचने सरसीरूह भी लगे।

(यहाँ पर कमलों के संकोच को सिद्ध करने के लिए कारण दिया गया है।)

(१०) अपह्नुति :—"अहह! अहह! देखो टूटता है न तारा।
पतन दिलजले के गात का हो रहा है।

(यहाँ पर तारे के टूटने का निषेध करके किसी दिलजले के शरीर का पतन होना बतलाने के कारण अपह्नुति अलंकार है)

(११) कैतवापह्नुति—"रह रह किरणें जो फूटती हैं दिखाती।
वह मिस इनके क्या बोध देते हमें हैं।"

(यहाँ मिस (बहाना) के प्रयोग के कारण। कैतवापह्नुति है)

(१२) व्यतिरेक:—सरोज है दिव्य सुगंध से भरा।
नृलोक में सौरभवास स्वर्ण है।
सुपुष्प से सज्जित पारिजात है।
मयंक है श्याम बिना कलंक का।"

(यहाँ पर श्रीकृष्ण को दिव्य सुगंधि वाला सरोज, सुगंधि-पूर्ण स्वर्ण, सुपुष्पयुक्त पारिजात पथा बिना कलंक का चन्द्रमा कहकर सरोज स्वर्ण पारिजात तथा चन्द्रमा से अधिक सौन्दर्य वाला वर्णन किया है।)

(१३) अतिशयोक्ति:—लख अलौकिक-स्फूर्ति सुदक्षता।
चकित-स्तंभित लोक समस्त थे।
अधिकतः बंधता यह ध्यान था।
ब्रज-विभूषण हैं शतशः बने।"

(यहाँ श्रीकृष्ण का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया गया है।)

(१४) समासोक्ति:—"नव प्रभा परमोज्वल-लीक-सी।
गतिमती-कुटिला-फणिनी समा।
दमकती दुरती घन-अंक में।
विपुल केलि-कला खनि दामिनी।

(यहाँ पर दामिनी के वर्णन में सर्पिणी के स्वरूप का स्फुरण हो रहा है।)

(१५) अर्थान्तरन्यास :—"हृदयचरण में तो मैं चढ़ा ही चुकी हूँ।
सविधि वरण की थी कामना और मेरी।
पर सफल हमें सो है न होती दिखाती।
वह कब टलता है भाग में जो लिखा है।

(यहाँ ऊपर के तीन चरणों में राधा की असफलता का जो वर्णन मिलता है उसका समर्थन चौथे चरण की सामान्य बात से किया गया है।)

(१६) अप्रस्तुत प्रशंसा:—"मृदुल सारंग-शावक से कभी।
पतन हो सकता नहिं शैल का।

(यहाँ पर श्रीकृष्ण की सुकुमारता का वर्णन करने के लिए हरिण-शावक का वर्णन होने से अप्रस्तुत प्रशंसा है।)

(१७) स्मरण: – "कालिंदी का पुलिन मुझको उन्मनः है बनाता।
प्यारी डूबी जलद-तन की मूर्ति है याद आती।"

(यहाँ पर यमुना के श्याम जल को देखकर कृष्ण की श्याम मूर्ति का स्मरण होना बतलाया गया है।)

(१८) यथासंख्य या क्रमः—निसर्ग ने, सौरभ ने पराग ने,।
प्रदान की थी अति कान्त भाव से ।
वसुन्धरा को, पिक को, मिलिन्द को।
मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता ।

(यहाँ पर निसर्ग, सौरभ तथा पराग का संबंध पहले क्रमशः वसुंधरा, पिक तथा मिलिन्द से जोड़ा गया है और पुनः वसुंधरा, पिक और मिलिन्द का संबंध क्रमशः मनोज्ञता, मादकता, और मदान्धता से दिखाया गया है।)

(१९) प्रतीप:—है दाँतों की झलक मुझको दीखती दाड़ियों में।
बिंबाओं में वर अधर की राजती लालिमा है।

(यहाँ पर दाँतों की झलक सी दाड़िम में तथा आधार की लालिमा को बिम्बाओं में दिखाने के कारण विपरीत कल्पना की गई है।)

(२०) परिकरः—"स्वसुत रक्षण औ पर-पुत्र के दलन की यह निर्मम प्रार्थना ।
बहुत संभव है यदि यों कहें सुन नहीं सकती जगदंबिका ॥"

(यहाँ 'जगदम्बिका' शब्द में साभिप्राय विशेषण है ।)

(२१) परिकरांकुरः—रसमयी लख वस्तु अनेक की सरसता अति भूतल व्यापिनी ।
समझ था पड़ता बरसात में उदक का रस नाम व्यर्थ है ।

(यहाँ पर 'रस' शब्द द्वारा साभिप्राय विशेष्य का कथन है ।)

(२२) विभावनाः—"फूले-फूले कमल दव थे लोचनों में लगाते ।
लाली सारे गगन-तल की काल-व्याली समा थी।"

(यहाँ पर वियोग में आग के न होने पर भी फूलों से आँखों में आग सी लगना तथा आकाश की लालिमा बिना सर्पिणी के काल-सर्पिणी सी दिखाई देने के कारण विभावना है ।)

उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त और भी कितने ही अलंकार प्रियप्रवास में खोजने पर मिल सकते हैं ; परन्तु इन कतिपय उदाहरणों से ही हरिऔध जी की अलंकार-योजना का पता चल सकता है । यहाँ अलकार सभी अत्यंत स्वाभाविक रूप से आये हैं और हरिऔध जी की शास्त्र-मर्मज्ञता, रचना-चातुरी तथा कलागत स्वाभाविकता के परिचायक हैं ।

(५) **वृत्त**—वृत्तों के बारे में हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं कि हरिऔधजी ने समस्त प्रियप्रवास वर्णिक वृत्तों में लिखा है और कुल सात-वंशस्थ द्रुतविलम्बित, वसंततिलका, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, शिखरिणी और शार्दूल विक्रीड़ित—छन्दों को अपनाया है । इन सभी छंदों के नाम हरिऔधजी ने स्वयं काव्य में दिये हैं अतः उदाहरण वहीं से देखे जा सकते हैं। हम विस्तार भय से यहाँ सभी छन्दों का उदाहरण देना उचित नहीं समझते, केवल सुविधा के लिए नीचे सभी छन्दों के लक्षण दिये देते हैं:—

१—वंशस्थ—"जतौ जरौ वंशस्थों" अर्थात् वंशस्थ मे क्रमशः एक जगण एक तगण, एक जगण और एक रगण होता है । कुल १२ अक्षर होते हैं।

२—द्रुत-विलम्बित—"नभऊ भरऊ द्रुतविलम्बितऊ" अर्थात् द्रुत विलम्बित में क्रमशः एक नगण, भगण, और एक रगण होता है। कुल १२ अक्षर होते हैं।

३—वसंततिलका—"वसंत तिलका तभजाजगौगा" अर्थात् वसंत-तिलका में क्रमशः एक तगण, एक भगण, दो जगण, और दो गुरू होते हैं। कुल १४ अक्षर का यह छंद होता है।

४—मन्दाक्रान्ता—"मभनततगागा मन्दाक्रान्ता" अर्थात् मन्दाक्रान्ता छंद में एक मगण, एक भगण एक नगण, दो तगण, और दो गुरु होते हैं। इस प्रकार कुल १६ अक्षर का यह छंद होता है।

५—मालिनी:—"ननमयय मालिनी छंद" अर्थात् मालिनी छंद में क्रमशः दो नगण, एक भगण और दो मगण होते हैं। इस प्रकार यह कुल १५ अक्षर का यह छंद होता है।

६—शिखरिणी:—"यमनसभलागा शिखरिणी" अर्थात् शिखरिणी छंद में क्रमशः एक यगण एक मगण, एक नगण, एक सगण, एक भगण, एक लघु तथा एक गुरु अक्षर होता है। कुल अक्षर १७ होते हैं।

७—शार्दूल विक्रीड़ितः—"मसौ जसौ ततगौ शार्दूल विक्रीड़ितौ।" एक मगण, एक सगण, दो तगण तथा एक गुरु अक्षर होता है। इस प्रकार कुल १६ अक्षरों का यह छंद होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि हरिऔधजी ने संस्कृत वृत्तों में अतुकान्त कविता प्रस्तुत करके एक ओर खड़ी बोली के अंतर्गत महाकाव्य के अभाव की पूर्ति की, दूसरी ओर इतने दुरूह कार्य को भी सुगमता से सम्पन्न करके दिखा दिया। उनके उपरान्त कोई भी कवि ऐसा नहीं हुआ जो पुनः संस्कृत वृत्तों में अतुकान्त कविता के अंतर्गत कोई महाकाव्य लिखता। अतः काव्य रचना

की दृष्टि से हरिऔधजी का स्थान महाकाव्यकारों में सर्वप्रथम आता है। ये खड़ी बोली के काव्य निर्माताओं के लिए ऐसा मार्ग प्रशस्त कर गये थे कि आगामी कलाकारों ने उनकी रचना शैली को चाहे पूर्णतया स्वीकार न किया हो परन्तु अधिकांश कवि उनकी पद योजना के ऋणी हैं। हरिऔधजी की रचना-कुशलता का श्रेय उनके सतत परिश्रम एवं गहन अध्ययन को है। प्रतिभा-सम्पन्न तो थे ही, शास्त्रावलोकन एवं हृदय की उत्कट अभिलाषा ने उन्हें काव्य रचना के लिए सदैव प्रेरणा दी और अपने अदम्य उत्साह के साथ आप दुरूह से दुरूह और सरल से सरल रचना करने में सफल हुए। आपकी इसी रचना-चातुरी, प्रतिभा एवं गहन अध्ययन शीलता के कारण आपको 'कवि सम्राट्' की उपाधि से विभूषित किया गया था, जो उपाधि आपके लिए सर्वथा उपयुक्त एवं उचित थी।

(ङ) प्रिय-प्रवास में श्रीकृष्ण एवं राधा का स्वरूप :—

हिन्दी-साहित्य के अंतर्गत श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रखने वाले साहित्य की रचना १४ वीं शताब्दि से प्रारम्भ होती है। इसका श्रीगणेश विद्यापति की पदावली से माना जाता है विद्यापति ने अपनी पदावली में श्रीकृष्ण का जो स्वरूप अंकित किया गया है उसमें श्रीकृष्ण एक प्रेमी और कला-पटु नायक के रूप में चित्रित किए गए हैं। वे वहाँ कंसारि या योगेश्वर कृष्ण नहीं हैं। विद्यापति के उपरान्त श्रीकृष्ण के जीवन की विस्तृत झाँकी सूरदास ने प्रस्तुत की है। सूर के कृष्ण में विद्यापति की अपेक्षा कई विशेषताएँ आ गई है। यद्यपि सूर ने भी कंस का वध करने वाले अथवा महाभारत के कूट-नितिज्ञ या योगेश्वर श्रीकृष्ण का चित्रण नहीं किया परन्तु सूर के कृष्ण नन्द- यशोदा के दुलारे, माखन चोर, रास-विहारी और गोपी-वल्लभ हैं। उनकी बाल-लीलायें हृदय-हारी हैं, उनमें अप्रतिम सौंदर्य है ; उनकी वाणी से अमृत और उनकी मुरली में जादू है। वे गोपियों से छेड़-छाड़ करते हैं, उनके दूध-दही की नित्य हानि करते हैं, फिर भी उनके चित, चोर हैं। 'खरो अचगरो' होते हुए भी गोपियाँ उन्हें आँखों से ओझल नहीं करतीं।[1]

(१) हरिऔध अभिनन्दन ग्रंथ पृ० ४७१।

इस प्रकार सूरदास जी कृष्ण के बालरूप में साथ-साथ उनके किशोर जीवन की समस्त क्रीड़ाओं को अत्यंत सरसता के साथ चित्रित किया है। उनके 'सूर-सागर' में कृष्ण के बाल-स्वभाव, माखन चोरी, मुरली, रास आदि का अत्यंत सरसता एवं स्निग्धता के साथ वर्णन मिलता है। सूर के श्रीकृष्ण की जिन क्रीड़ाओं पर अपनी वीणा के मधुर तान छेड़ी, शेष समस्त कृष्णात्मक कवियों ने भी सूर के स्वर से ही अपना स्वर मिलाया—अर्थात् अन्य कृष्णभक्त कवियों ने भी सूर द्वारा वर्णित कृष्ण के जीवन का वैसा ही चित्रण अपने-अपने गीतों एवं पदावलियों में किया। इसके उपरान्त रीतिकाल के कवियों ने कविता, सवैयों और दोहों में कृष्ण की केवल शृंगारिक क्रियाओं पर अपनी कल्पना दौड़ाई और कृष्ण को एक कामुक नायक बना दिया। उनके चित्रण में श्रीकृष्ण का न तो वह सौन्दर्यशाली बाल-रूप है, जिसको सूर अपना आराध्य मानते थे और न गोपियों के साथ विहार करने वाले योगेश्वर का स्वरूप है, जिसे सूर ने सर्वात्मा एवं सर्वान्तरयामी बताया था। रीतकाल में आते-आते श्रीकृष्ण के जीवन चित्रण में इतना परिवर्तन हुआ, कि वे विलासी, विनोदी एवं छैल-छबीले से अधिक और कुछ न रहे।

हरिऔधजी के समय में इस प्रकार श्री कृष्ण के दो स्पष्ट रूप प्रचलित थे। कुछ कवि सूर का अनुकरण करके उन्हें माखन चोर, मुरलीधर एवं रास-विहारी के रूप में चित्रित करते थे और कुछ रीतिकाल की परम्परा के अनुसार उन्हें विनोद-प्रिय, विलासी एवं कामुक के रूप में चित्रित करके अपने हृदय की विलास-भावना को व्यक्त करते थे। हरिऔधजी को इन दोनों चित्रणों में सबसे अधिक खटकने वाली बात यह दिखाई दी कि दोनों खेवे के कवियों ने कृष्ण के लोक-रक्षक एवं लोक-संग्रही रूप की अपेक्षा की थी। अतः उन्होंने इसी अभाव की पूर्ति करने के लिए 'प्रिय प्रवास' में श्रीकृष्ण के इन दोनों रूपों पर अधिक जोर दिया। वैसे 'प्रिय प्रवास' में भी श्रीकृष्ण के माखन चोर, मुरलीधर एवं रास-विहारी रूप के साथ-साथ कुछ कुछ विनोदी एवं क्रीड़ा-कौतुक रूप की भी चर्चा मिलती है, परन्तु

हरिऔधजी ने उनके लोक-संग्रही रूप पर अधिक जोर दिया है। 'प्रिय प्रवास' के श्रीकृष्ण की दूसरी विशेषता यह है वे मनोप्येतर विशिष्ट कोई देवता या अवतार के रूप में चित्रित नहीं किए गये, अपितु वे जनता की रक्षा में सदैव तत्पर रहने वाले सबसे मृदुल एवं मीठा बोलने वाले, अपने कर्त्तव्य का सदैव तत्परता के साथ पालन करने वाले, अपनी जननी-जन्मभूमि की रक्षा में सदैव भारी से भारी विपत्ति को भी तुच्छ समझने वाले, गोप-गोपी तथा गायों के हृदयेश्वर, यशोदा के लाडले तथा नन्द के सुपुत्र एवं व्रज-धारा के एक मात्र संरक्षक हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण के चरित्र में मानवीय गुणों का चरमोत्कर्ष दिखाया गया है। उनमें केवल स्वजाति एवं स्व-समाज की रक्षा करने की तत्परता ही नहीं हैं, अपितु वे लोक-सेवा में अनुरंजित होकर विश्व-प्रेम के रंग में रँगे हुए चित्रित किए हैं :—

"वे जी से हैं जगत जन के सर्वथा श्रेय कामी।
प्राणों से हैं अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा।
स्वार्थों को औ विपुल सुख को तुच्छ देते बना हैं।
जो आजाता जगत-हित है सामने लोचनों के।
हैं योगी लों दमन करते लोक-सेवा निमित्त।
प्यारी-प्यारी हृदय-तल की सैकड़ों लालसायें।

इस प्रकार श्रीकृष्ण के अलौकिक, असाधारण एवं असम्भाव्य चरित्र का परित्याग करके हरिऔधजी ने एक मानवता-सम्पन्न ऐसे आदर्श व्यक्ति के रूप में उन्हें चित्रित किया है, "जो अतीन्द्रिय जगत् का न होकर इसी पृथ्वी का प्राणी हो और जो साधारण शक्तियों वाला होते हुए भी अपनी विशाल हृदयता और परोपकार वृत्ति से जगत् में मंगल का विधायक हो और ऐसा सुगम मार्ग दिखला दे, जिसपर चलना प्रत्येक मनुष्य के लिए सम्भव और सरल हो। कृष्ण का ऐसा ही मानवीय चरित्र 'प्रियप्रवास' में विकासित हुआ। [१]

(१) हरिऔध अभिनन्दन ग्रंथ पृ० ४६४।

राधा के बारे में अभीतक यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि राधा का विकास कब और कैसे हुआ। भागवत में श्रीकृष्ण के वर्णन के साथ राधा का नाम नहीं मिलता। कुछ विद्वान इन्हें मध्य एशिया से चल कर आये हुए घुमक्कड़ आभीरों की प्रेम-देवी बतलाते हैं। दूसरे इन्हें आभीर नामक द्रविड़ जाति की उपास्य देवी कहते हैं और इनका अस्तित्व वेदों से भी पुराना बतलाते हैं। कुछ विद्वानों की राय में ये किसी अज्ञात नामक कवि की मधुर कल्पना है। जो कवि को लोप करके स्वयं अमर हो गई हैं।[1] कुछ भी हो राधा का नाम सर्व प्रथम नवीं शताब्दी के अन्तर्गत रचे गये ध्वन्यालोक में मिलता। वहाँ एक उद्धारण के अंतर्गत राधा का नाम इस प्रकार आया है :—

"तेषां गोप वधू विलास सुहृदां राधा रह : साक्षिणां।
क्षेमं भद्र. कलिन्द शैल तन्या तीरे-लता वेश्यनाम्।"

इसके अतिरिक्त गाथा सप्तशती, पंचतंत्र, ब्रह्मवैवर्त पुराण आदि में भी राधा का चित्रण मिलता है; परन्तु सर्व प्रथम जयदेव के 'गीत-गोविंद' में ही राधा अपने अपूर्व सौंदर्य के साथ श्रीकृष्ण की प्रेमिका तथा वियोग विधुरा के रूप में चित्रित की गई हैं। यहाँ राधा वासन्ती कुसुम के समान सुकुमार अवयवों से सुसज्जित होकर एक विक्षिप्त की भाँति श्रीकृष्ण को खोजती फिरती हैं। यहीं पर राधा विलास प्रियता, वियोग कातरता तथा सच्ची प्रेमिका के दर्शन होते हैं। इसके उपरान्त चण्डीदास की राधा का स्वरूप हमारे सामने आता है। चण्डीदास ने परकीया नायिका की भाँति राधा का चित्रण किया है। यहाँ आकर राधा कृष्ण के साथ विहार करने वाली, संकेतास्थल पर मिलने वाली, कृष्ण के समीप अभिसार के लिए जाने वाली तथा मान करने वाली और प्रेम की मधुर टीस से विह्वल रहने वाली है। चण्डीदास के उपरान्त विद्यापति की राधा हमारे सम्मुख आती है, जिसमें विरह की वेदना की अपेक्षा काम-वासना-जन्य पीड़ा अधिक है, जो कौतुहल एवं नवीनता की पुतली है तथा चांचल्य एवं अनुराग की उद्भ्रान्त

(१) वही, पृष्ठ ४५७।

लीला से परिव्याप्त रहती है। वह कृष्ण के साथ रात-दिन विहार करने में मग्न रहने वाली, रास-लीला में साथ-साथ नृत्य करने वाली एक परकीया नायिका है। उसमें क्रिया चातुरी तथा वाग्वैदग्ध्य अपेक्षाकृत अधिक हैं तथा वह काम क्रीड़ा में अत्यंत प्रवीण और अपूर्व सौंदर्य शाली चित्रत की गई है।

विद्यापति के उपरान्त सूर तथा अन्य कृष्ण भक्त कवियों की राधा के दर्शन हिन्दी-साहित्य में होते हैं। यहाँ राधा का स्वरूप अत्यंत मर्यादा के साथ चित्रत किया गया है। वह संयोग के समय कृष्ण के साथ आनन्द-क्रीड़ा करने वाली और वियोग के समय अत्यंत शोक एवं वेदना में विह्वल रहते हुए भी तपस्विनी जैसी चित्रित की गई है। यहाँ राधा का रूप एक उपास्य देवी के समान भव्य एवं उज्वल अंकित किया गया है। "जयदेव की राधिका के समान उनके प्रगल्भ व्याकुलता नहीं हैं, विद्यापति की राधिका के सान उनमें मुग्ध कौतुहल और अनभिज्ञ प्रेम-लालसा नहीं है, चण्डी-दास की राधिका के समान उनमें अधीर कर देने वाली गलद्वाष्पा भावुकता भी नहीं है, पर कोई सहृदय इन सभी बातों का उनमें एक विचित्र मिश्रण के रूप में अनुभव कर सकता है।"[१]

सूर के उपरन्त रीतकालीन कवियों ने राधा का विलास-पूर्ण चित्र उपस्थित किया है यहाँ आकर कृष्ण की तरह राधा भी अत्यंत रूप-सुन्दरी, काम-क्रीड़ा-प्रवीण तथा नाना कलाओं में निपुण हो गई हैं; उसके चरित्र चित्रण में पवित्रता एवं प्रेम की विशुद्धता के स्थान पर अल्हड़ता एवं कामुकता का रंग अधिक गहरा होगया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में रीतकालीन राधा 'कुछ रसिका, कुछ मुखरा, कुछ विलासिनी, कुछ चंचल, कुछ निःशंका, और कुछ-कुछ बाल-तरुणी हैं। ये कृष्ण के साथ गलबाहियाँ डाले गली से निकल जाती हैं, कृष्ण के बतरस के लिए तरह-तरह का उत्पात करती हैं, पनघट पर हाथापाई करती हैं, कभी हँसती हैं, कभी मचलती हैं, कभी छिपती हैं कभी बाहर निकल आती हैं—

(१) हरिऔध अभिनन्दन ग्रन्थ—पृ० ४६१।

अर्थात् कैशोर प्रेम के साक्षात् रूप हैं, उनमें न लोक के उत्तरदायित्व की चिन्ता है, न परलोक बनाने की परवा—वे अल्हड़ किशोरी हैं। यही उनका सच्चा रूप है। उनको हम बियोगिनी के रूप में पाते हैं, मगर यह वियोग शायद इसलिये जबर्दस्ती उन पर लाद दिया गया है कि प्रेमिका को वियोगिनी बनना जरूरी है। इस जबर्दस्ती से उनका कोमल प्रफुल्लचित्त भारक्रांत जरूर हो जाता है, पर स्पष्ट ही जान पड़ता है कि यह वियोगी की गर्मी आगतुक है—शैत्यं द्वियत् तत् प्रकृतिर्जलस्य।"[1]

रीतिकाल के उपरांत भी कुछ काल तक ब्रजभाषा की कविताओं में राधा का रीतिकालीन रूप ही चलता रहा परन्तु द्विवेदी काल की नैतिकता एवं लोकसेवा आदि की भवना ने मानव जीवन में एक आमूल-मूल परिवर्तन करके स्त्री के प्रति रहने वाली कवियों की भावना में भी परिवर्तन उपस्थित किया। स्त्री-जीवन का सुधार इस युग की परम देन है। युग की इसी भावना से प्रभावित होकर हरिऔध जी ने कृष्ण की ही भाँति राधा के चरित्र में भी परोपकार लोक-सेवा विश्व-प्रेम आदि भावनाओं का समावेश किया है। हरिऔध जी की राधा प्रियप्रवास के अन्तर्गत केवल वियोग से व्याकुल होकर तड़पती हुई उधर-उधर मारी-मारी नहीं फिरती अपितु अन्य विरह कातर नारियों को समझाती हुई दीन-हीन लोगों की सेवा सुश्रुषा करती हुई तथा यशोदा की नन्द को सांत्वना एवं धैर्य प्रदान करती हुई चित्रित की गई हैं। उनके जीवन में वियोग की कातरता ने विश्व-प्रेम एवं सेवा की भावना को जागृत कर दिया है उन्हें श्रीकृष्ण के पुनः ब्रज में लौट आने की चिन्ता नहीं है वे केवल यही चाहती हैं कि कृष्ण जहाँ भी रहें, कुशल से रहें, और विश्व के कल्याणकारी कार्यों में लगे रहने के कारण यदि उन्हें गोकुल आने का अवकाश नहीं हो तो कोई चिन्ता नहीं। यहाँ राधा का एक परमोज्वल आदर्श नारी रूप विद्यमान है; इसी कारण उनके मुख से ये शब्द निकले हैं:—

"प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहें न आवे।"

(१) वही, पृ० ४३४।

प्रियप्रवास में राधा कृष्ण के पास पवन द्वारा संदेश भेजती हैं, उस संदेश में भी लोक सेवा तथा पर—दुख—कातरता की भावना अधिक मात्रा में मिलती है। वहाँ भी राधा किसी क्लांत नारी के कष्ट हरने तथा भरी हुई कृषक-ललनाओं के परिश्रम को दूर करने के लिये पवन से निवेदन करती हैं इसके बाद उद्धव से कृष्णा का संदेश सुनकर और यह सुनकर कि कृष्ण 'सर्वभूत हिताय' लोक मंगलकारी कार्यों में लगे हुये हैं तो अपनी विरह-जन्य छटपटाहट को व्यक्त न करके यही कहती हैं :—

"मेरे जीव में अनुपम महा विश्व का प्रेम जागा।" और इसी विश्व प्रेम के वशीभूत होकर निरंतर लोक-सेवा में लीन हो जाती हैं और वे दीन—हीन जनों की दिन रात सेवा करती हुई एक मानवी से देवी के प्रतिष्ठित पद की अधिकारिणी बन जाती हैं :—

"संलग्ना हो विविध कितने सान्त्वना कार्य्य में भी।
वे सेवा थीं सतत करतीं वृद्ध रोगी जनों की।
दीनों हीनों निबल विधवा आदि को मानतीं थीं।
पूजी जातीं ब्रज अवनि में देवि तुल्या अतः थीं।

कृष्ण और राधा के ऐसे अनुपम चरित्र की सृष्टि करने के कारण ही प्रियप्रवास आज भी आदर्श चरित्र सम्पन्न एवं अनूठा महाकाव्य है। जिसमें लोकप्रचलित कृष्ण एवं राधा के जीवन को एक नवीन दृष्टिकोण से अंकित किया गया है। और विश्व-प्रेम तथा मानवता की स्थापना करते हुये आदर्श पुरुष एवं आदर्श नारी के जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है।

अंत में उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि प्रियप्रवास की रचना यद्यपि श्रीमद्भागवत् के दशम् स्कन्ध के आधार पर हुई है। और पवन-दूत में कालिदास के मेघदूत की छाया विद्यमान है। फिर भी कवि ने कितनी ही मौलिक उद्भावनायें भी की हैं। जिनमें कृष्ण के लोक संग्रही रूप के साथ साथ राधा के भी लोकोपकारी चरित्र का वर्णन आता है। दोनों में त्याग तपस्या और लोक-हित की भावना में भी नवीनता भरी हुई है। साथ ही नवधाभक्ति के वर्णन में भी नयी उद्भावना मिलती है। प्राचीन

परिपाटी का खण्डन करते हुये श्रवण कीर्तन, स्मरण, चरण सेवन, अर्चन, वन्दन दास्य सख्य और आत्म-निवेदन के नवीन स्वरूप बतलाये हैं अर्थात् रोगी, दीन दुखी, व्यक्तियों की बातें सुनना तथा सद्ग्रंथों और सतसंगियों के वाक्यों को सुनना श्रवण भक्ति है ; अज्ञान को दूर करने वाले एवं पथभ्रष्टों को मार्ग पर लाने वाले ग्रंथों का वर्णन करना ही कीर्तन है ; विद्वान गुरुजन देश प्रेमी दानी गुणी आदि के सम्मुख नतमस्तक होना ही वन्दन है। इत्यादि।[1] इस प्रकार अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों में हरिऔध जी की मौलिकता विद्यमान है। परन्तु अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति ही अधिक सफल है। युग की प्रचलित विचार धारा को भले ही काव्य में स्थान दिया गया हो परन्तु शेष सभी भाव विचार और कल्पनाएँ प्राचीन ही हैं। अनुभूति की तीव्रता की अपेक्षा अभिव्यक्ति में अधिक तीव्रता दिखाई देती है। और यह तीव्रता संस्कृत के छंदों में अतुकान्त रचना करने के कारण आई है। इसके उपरान्त दूसरा महाकाव्य :—

"वैदेही–वनवास"

लिखा गया है इसका संकेत तो सन् १९१४ के लगभग ही मिलता है परन्तु यह सन् १९४० में छपकर तैयार हुआ। प्रिय प्रवास में जिस प्रकार श्रीकृष्ण और राधा के लोकानुरंजनकारी रूप की झाँकी दिखाई गई है। "वैदेही वनवास" में मर्यादा, पुरुषोत्तम श्रीराम तथा सीता के लोक-हितैषी एवं लोक संग्रही चरित्र का चित्रण किया गया है। 'वैदेही वनवास' की रचना के लिये 'प्रियप्रवास' की भूमिका में हरिऔध जी ने संकेत किया था। कि मैं शीघ्र ही इसे पाठकों के सन्मुख सेवा में उपस्थित करूँगा, परन्तु इसकी रचना के लिये लगभग २४ वर्ष तक लेखनी नहीं उठी, उसका कारण बताते हुये 'वैदेही वनवास' की भूमिका में आप लिखते हैं :—

"प्रिय प्रवास" की रचना के उपरान्त मेरी इच्छा 'वैदेही वनवास' प्रणय की हुई। उसकी भूमिका में मैं ने यह बात लिख भी दी थी। परन्तु

(१) देखिये प्रियप्रवास सर्ग १६ में ११५ से १२६ छंद तक।

चौबीस वर्ष तक मैं हिन्दी देवी की यह सेवा न कर सका। कामना-कलिका इतने दिनों के बाद ही विकसित हुई। कारण यह था कि उन दिनों कुछ ऐसे विचार सामने आये। जिनसे मेरी प्रवृति दूसरे विषयों में ही लग गई। उन दिनों आजमगढ़ में मुशायरों की धूम थी। बन्दोबस्त वहाँ हो रहा था। अहलकारों की भरमार थी। उनका अधिकांश उर्दू-प्रेमी था। प्रायः हिन्दी भाषा पर आवाज कसा जाता। उसकी खिल्ली उड़ाई जाती। कहा जाता हिन्दी वालों को बोलचाल की फड़कती भाषा लिखना ही नहीं आता। वे मुहावरे लिख ही नहीं सकते। इन बातों से मेरा हृदय चोट खाता था। कभी-कभी मैं तिल-मिला उठता था। उर्दू संसार के एक प्रतिष्ठित मोलवी साहब जो मेरे मित्र थे और आजमगढ़ के ही रहने वाले थे जब मिलते इस विषय में हिन्दी की कुत्सा करते व्यंग्य बोलते, अतः मेरी सहिष्णुता की भी हद हो गई। मैंने बोलचाल की मुहावरेदार भाषा में हिन्दी कविता करने के लिये कमर कसी। इसमें पाच-सात वर्ष लग गय और 'बोल-चाल, एव 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' नामक ग्रंथों की रचना मैंने की। जब इधर से छुट्टी हुई, मेरा जी फिर 'वैदेही बनवास' की ओर गया। परन्तु इसी समय एक दूसरी धुन सिर पर सवार हो गई। इन दिनों मैं काशी विश्वविद्यालय में पहुँच गया था। शिक्षा के समय योग्य विद्यार्थी समुदाय ईश्वर अर्थ व संसार संबन्धी अनेक विषय उपस्थित करता रहता था। × × × + मैं कथा में तो यथा शक्ति उत्तर उचित समझता देदेता। परन्तु इस संघर्ष से मेरे हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इन विषयों पर कोई पद्य-ग्रंथ क्यों न लिख दिया जावे। × × × परन्तु इस ग्रंथ के लिखने में एक युग से भी अधिक समय लग गया। मैंने इस ग्रंथ का नाम 'पारिजात' रखा। इसके उपरान्त 'वैदेही बनवास' की ओर दृष्टि फिरी।"

उक्तकथन से यह स्पष्ट पता चलता है कि उपाध्यायजी २४ वर्ष तक हिन्दी की सम्मान-रक्षा के प्रयत्न में लगे रहे। वे यह नहीं सहन कर सकते थे कि हिन्दी में मुहावरेदार कविता का अभाव है। अतः इस २४ वर्ष के समय में मुहावरेदार भाषा की रचनायें तथा ईश्वर—विषयक विचारों पर

कविता लिखने में व्यस्त रहे। इसके उपरान्त ५ फर्वरी १९४० ई० में 'वैदेही बनवास" को समाप्त किया। आपने इस ग्रंथ द्वारा राम और सीता के उच्चादर्श स्थापित करते हुए एक घटना प्रधान एवं प्रकृति-चित्रण के विविध स्वरूपों से संयुक्त प्रबंध-काव्य के अभाव की पूर्ति की है। 'प्रिय-प्रवास' की रचना के उपरान्त हरिऔधजी के आलोचकों ने दो बातें इनके सम्मुख अधिक दृढ़ता के साथ रखी थीं, प्रथम तो यह कि आपकी रचना अधिक संस्कृत शब्दावली से परिपूर्ण है, दूसरे आपके काव्य में प्रकृति-चित्रण की विविधता दृष्टि नहीं आती। अतः इन दोनों बातों को दूर करने के लिए ही "वैदेही वनवास" रचा गया. इसमें कथा की नवीनता के साथ-साथ युग की चित्त वृत्तियों का प्रदर्शन भी सफलता के साथ हुआ है।

१—कथा—वस्तु :—'वैदेही-वनवास' की कथा का स्रोत वाल्मीकि-रामायण रघुवंश, उत्तररामचरित्र, आध्यात्म रामायण आदि में मिलता है। विशेष रूप से आपने वाल्मीकि रामायण की कथा को ही अपने ग्रंथ का आधार बनाया है और कुछ अपनी मौलिक उद्भावनायें की हैं। जैसे राम द्वारा इस प्रस्ताव के करने पर कि :—

"इच्छा कुछ काल के लिए तुमको स्थानानान्तरित करूँ।
इस प्रकार उपजा प्रतीति मैं प्रजापुँज की भ्रान्ति हरूँ।"—

सीताजी पहिले तो बेचैन होती हैं परन्तु फिर इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती हैं और लोकाराधना के लिए यह कहती हुई तैयार होजाती हैं :—

"वही करूँगी जो कुछ करने को मुझको आज्ञा होगी।
त्याग, करूँगी, इष्ट सिद्धि के लिये बना मन को योगी।

दूसरे, सीताजी स्वयं माता कौशल्या, अपनी बहिनों तथा अन्य सखियों से विदा लेने जाती हैं और तदुपरान्त सबसे आशीर्वाद एवं शुभ कामनायें लेकर वन को जाती हैं। कवि ने कथा-वस्तु को प्रारम्भ से ही ऐसा उठाया है कि उसमें लोक-सेवा, लोकोपकार तथा लोकानुरञ्जन के लिए राम और सीता को प्रतिक्षण सम्बद्ध दिखाने की चेष्टा की है। तीसरे, बाल्मीकि के समीप पत्र भिजवाकर कथा को और भी बोधसंगत बना

दिया है। अन्य ग्रंथों में वाल्मीकि के समीप रामकी पहले कोई सूचना नहीं जाती कि हम सीताजी को तुम्हारे आश्रम में भेज रहे हैं, परन्तु 'वैदेही वनवास' में यह नई उद्भावना की गई है। चौथे, वाल्मीकि आश्रम को एक कुलपति के विश्व-विद्यालय का स्वरूप देने में भी नवीनता की सृष्टि की है। पाँचवें, कवि ने रावण-वध तथा लंका से संबंध रखने वाली घटनाओं में भी नई कल्पना करने उन्हें बुद्धि-संगत बनाया गया है। छठे, यह सभी जानते हैं कि सीताजी अंत में पृथ्वी के अंदर समा गई थीं, ऐसा ही लगभग सभी प्रचीन ग्रंथों में भी लिखा हुआ मिलता है, परन्तु हरिऔधजी ने उन्हें एक दिव्य-विमान पर विठाकर स्वर्ग में भेजा है और स्पष्ट ही इस पृथ्वी का पूर्णतः परित्याग करते हुए लिखा है :—

"अधिक उच्च उठ जनकजा क्यों धरती तजतीं न।
बने दिव्य से दिव्य क्यों दिव देवी बनतीं न।"

सातवें, वर्षा, मेघ आदि के वर्णन में भी मौलिकता एवं नवीनता मिलती है। आठवें, समसामयिक बातों—जैसे विवाह-विच्छेद, माता-पिता का आज्ञापालन, दर्शन और भक्ति का समन्वय, अलौकिकता में भी लौकिक-जीवन की झलक, दाम्पत्य जीवन की समस्या, राजा-प्रजा के कर्त्तव्या-कर्त्तव्य- आधुनिक राजनीति, नारी स्वातंत्र्य, पाश्चात्य सभ्यता का भारतीयों पर प्रभाव आदि का समावेश भी राम की लोक-पावन कथा के अंतर्गत किया है। वर्ण्य-विषय पर विचार प्रकट करते हुए हरिऔधजी ने स्वयं लिखा है :—

"महाराजा रामचंद्र, मर्यादा पुरुषोत्तम, लोकोत्तर—चरित्र और आदर्श नरेन्द्र अथच महिपाल हैं, श्रीमती जनक-नन्दिनी सती-शिरोमणि और लोक-पूज्या आर्य्य बाला हैं। इनका आदर्श, आर्य्य-संस्कृति का सर्वस्व है। मानवता की महनीय विभूति हैं, और है स्वर्गीय—सम्पन्न। इसलिए इस ग्रंथ में इसी रूप में इसका निरूपण हुआ है। सामयिकता पर दृष्टि रखकर इस ग्रंथ की रचना हुई है। अतएव इसे बोधगम्य और बुद्धि संगत बनाने

की चेष्टा की गई है। इसमें असम्भव घटनाओं और व्यापारों का वर्णन नहीं मिलेगा।[१]

सारांश यह है कि "वैदेही वनवास" की कथा यद्यपि लोक-प्रचलित जानकीजी के निर्वासन की कथा है, परन्तु कवि-कार्य कुशल हरिऔधजी ने उसे आधुनिक विचारधारा के अनुकूल बनाते हुए नारी के मान की रक्षा एवं पुरुष के लोकादर्श की प्रतिष्ठा की है। जानकी के ऊपर लगाये गये अपवादों में राजनीति के कारणों की उद्भावना करके कवि ने जानकी तथा राम के चरित्र की रक्षा की है। लवणासुर वध तथा शत्रुघ्न का वाल्मीकि के आश्रम में ठहरना आदि घटनाओं को रघुवंश के आधार पर चित्रित किया है। वैसे सारी कथा पर आधुनिक विचारधाराओं को अत्यधिक प्रभाव पड़ा है, जिनमें से गांधीवादी, समाजवादी तथा भौतिकवादी विचार-धारायें तो प्रमुखरूप से अपना प्रभाव डालती हुई दिखाई देती हैं। लवणासुर-वध में भूमि के रक्त-रंजित होने का निषेध गांधीजी की अहिंसावादी विचार धारा के अनुकूल है; इसी प्रकार वाल्मीकि आश्रम में सीता का रानी की अपेक्षा एक साधारण नारी की भाँति रहना समाजवादी विचार-धारा को प्रकट कर रहा है और स्त्री-पुरुष की समानता, मनुष्य की त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति, स्त्री-पुरुष का समाजोत्थान में पूर्ण सक्रिय सहयोग, विवाह विच्छेद की भावना आदि में भौतिकवादी विचार-धारा विद्यमान है। त्याग, तपस्या, सेवा परोपकार आदि की भावनाओं में द्विवेदी-कालीन नैतिकता तथा उपदेशात्मकता की झलक मिलती है तथा घटनाओं की अधिकता एवं वर्णनों की धारावाहिकता में 'इतिवृत्तात्मकता' विद्यमान है। इस प्रकार 'वैदेही-वनवास' की कथावस्तु में द्विवेदीयुग एवं उसके उपरान्त की सभी विचाराधाराओं का समावेश मिलता है।

२—महाकाव्यत्व :— प्रियप्रवास' की समीक्षा करते समय हम महाकाव्य संबंधी भारतीय एवं पाश्चात्य विचारों को प्रकट कर चुके हैं। यहाँ

(१) "वैदेही वनवास"—वक्तव्य – पृ० ६।

उन्हीं विचारों के आधार पर यदि 'वैदेही-वनवास' पर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि :—

(क) इस ग्रंथ को भी हरिऔधजी ने 'सर्गों' में विभक्त करके ही लिखा है और १८ सर्गों में समस्त ग्रंथ समाप्त किया गया है।

(ख) इसके नायक लोकप्रसिद्ध एवं उच्चकुलोद्भव महाराजा-धिराज मर्यादा पुरुषत्तम राम हैं और नायिका आदर्श-महिला जानकी हैं।

(ग) इसमें विप्रलंभ-शृंगार की प्रधानता है तथा करुण, अद्भुत, शान्त, वीर आदि रस गौणरूप में आये हैं।

(घ) इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक तथा पौराणिक है और साथ ही वह सज्जनाश्रित भी है।

(ङ) प्रारंभ में ही सूर्य का तिमिर-विध्वंसकारी प्रभात-कालीन चित्रण होने से मंगलाचरण की भी पूर्ति हो रही है; वैसे वर्तमान काव्य-प्रणाली के अंतर्गत आदि में नमस्कार, आशीर्वाद या मंगलाचरण लिखने की प्रथा नहीं है।

(च) लवणासुर की निंदा, लंकानिवासियों की कुप्रवृत्तियों की भर्त्सना तथा सीता, राम, लक्ष्मण, भरत और रिपुसूदन के गुणों की प्रशंसा होने के कारण खलनिंदा तथा सज्जनों के गुण-कीर्त्तन का भी समावेश है।

(छ) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से यहाँ लोक-धर्म की प्रतिष्ठा होने के कारण धर्म को फल के रूप में स्वीकार किया गया है।

(ज) प्रत्येक सर्ग एक या दो छंदों में लिखा गया है, अंत में सभी जगह छंद बदलता रहा है तथा आगामी सर्ग की कथावस्तु भी अंत में सूचित कर दी गई है।

(झ) सन्ध्या, प्रभात, रजनी, मृगया, प्रदोष, सागर, ऋतु आदि का वर्णन भी अत्यंत कुशलता एवं भव्यता के साथ मिलता है, जिसका विस्तृत विवेचन आगे करेंगे।

(ञ) इस ग्रंथ का शीर्षक ग्रंथ की प्रमुख घटना पर आश्रित है।

(ट) घटनाओं के अनुसार प्रत्येक सर्ग का नामकरण भी किया गया है, जैसे प्रथम सर्ग में राम-सीता उपवन के अंदर बैठे हैं और उसी के विषय में वार्तालाप करते हैं, अतः प्रथम सर्ग का शीर्षक 'उपवन' दिया गया है, इसी तरह दूसरे सर्ग में सीता के बारे में फैले हुए अपवाद की सूचना पाकर राम चिन्ता मग्न होजाते हैं अतः दूसरे सर्गका नाम "चिन्तितचित्त" रखा गया है। शेष सर्गों का नाम भी इसी प्रकार उनमें वर्णित घटनाओं के आधार पर मंत्रणगृह, वशिष्ठाश्रम, सतीसीता, कातरोक्ति, मंगलयात्रा, आश्रमप्रवेश, अवधाधाम, तपस्विनी आश्रम, रिपुसूदनागम, नामकरणसंस्कार जीवन-यात्रा, दाम्पत्य-दिव्यता, सुतवती सीता, शुभसंवाद, जनस्थान तथा स्वर्गारोहण दिया गया है।

(ठ) १८ सर्गों में विभक्त रहने के कारण वृद्धाकार भी है और अधिकांश घटनायें घटित होती हुई न दिखाकर वर्णित ही हैं; अतः यह वर्णन या प्रकथन–प्रधान है।

(ड) यद्यपि राम एवं सीता के वैयक्तिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है, परन्तु इन दोनों के सहारे लोक-धर्म की स्थापना होने के कारण जातीय विचारों को ही महत्व दिया गया है। राम इस प्रकार समस्त भारतीय पुरुष वर्ग के प्रतिनिधि हैं, तथा सीताजी समस्त भारतीय नारी वर्ग की प्रतिनिधि हैं और दोनों के आदर्श मय जीवन द्वारा भारतीय जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया गया है।

(ढ) नियति के हाथों में राम तथा सीता का जीवन भी दिखाया गया है। वे दोनों अलौकिक अवतारी पुरुष न रहकर साधारण मानव के रूपों में ही चित्रित किये गये हैं और

दोनों ही भाग्यवाद तथा विधि की विचित्र रचना चातुरी में विश्वास करते हैं। राम प्रथम सर्ग में इसीलिए कहते हैं:—

"कितनी है कमनीय-प्रकृति कैसे बतलायें।
उसके सकल अलौकिक गुण-गान कैसे गायें।"

और सीता जी भी पुनः विधि की बहु विधान मयी रचना पर अपना विचार इस प्रकार प्रकट करती हैं।

"है यह विविध विधानमयी भवनियमन-शीला।
लोक-चरित कर है उसकी लोकोत्तर लीला।"

(ण) उसकी सारी कथा राम से लोकानुरंजनकारी इतिवृत्ति को लेकर ही प्रस्तुत की गई है। और उसमें अन्त तक एक सूत्रता विद्यमान है।

(त) रचना शैली बड़ी अनूठी, सरल एवं सुबोध है भाषा भावानुकूल है तथा खड़ी बोली के लोक-प्रचलित स्वरूप को उपस्थित करती है। रचना शैली पर आगे चलकर स्वतंत्र रूप में विचार करेंगे।

(थ) भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता की ओर कवि का झुकाव रहा है जो भारतीय विचार-धारा के सर्वथा अनुकूल है।

उपर्युक्त साहित्य-शास्त्रियों की विचार धारा के अनुसार जब वैदेही वनवास' को हम देखते हैं, तो वह 'महाकाव्य' की ही कोटि में आता है। कुछ विद्वानों ने इसे 'एकार्थ काव्य' कहा है ; और इसका कारण यह बतलाया है कि इसकी कथा में अधिक मोड़ नहीं है। इतना अवश्य है कि काव्य ने अन्तर्गत यदि विचारों का गहन-संघर्ष तथा कथा के विविध दिशाओं में मोड़ (Turn) नहीं हैं तो वह पाठकों की रुचि को अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ रहता है और उसे जनता अपना पथ-प्रदर्शक नहीं मानती। महाकाव्य सदैव जनता की चितवृत्तियों का उद्घाटन करने एवं भ्रमित मानवों को सीधे और सच्चे मार्ग पर लगाने के लिए ही लिखे जाते हैं। रामचरित मानस आज भारतीय जनता का कंठहार क्यों बना

(ञ) इस ग्रंथ का शीर्षक ग्रंथ की प्रमुख घटना पर आश्रित है।

(ट) घटनाओं के अनुसार प्रत्येक सर्ग का नामकरण भी किया गया है, जैसे प्रथम सर्ग में राम-सीता उपवन के अंदर बैठे हैं और उसी के विषय में वार्तालाप करते हैं, अतः प्रथम सर्ग का शीर्षक 'उपवन' दिया गया है, इसी तरह दूसरे सर्ग में सीता के बारे में फैले हुए अपवाद की सूचना पाकर राम चिन्ता मग्न होजाते हैं अतः दूसरे सर्गका नाम "चिन्तितचित्त" रखा गया है। शेष सर्गों का नाम भी इसी प्रकार उसमें वर्णित घटनाओं के आधार पर मंत्रणगृह, वशिष्ठाश्रम, सतीसीता, कातरोक्ति, मंगलयात्रा, आश्रमप्रवेश, अवधाधाम, तपस्विनी आश्रम, रिपुसूदनागम, नामकरणसंस्कार जीवन-यात्रा, दाम्पत्य-दिव्यता, सुतवती सीता, शुभसंवाद, जनस्थान तथा स्वर्गारोहण दिया गया है।

(ठ) १८ सर्गों में विभक्त रहने के कारण वृद्धाकार भी है और अधिकांश घटनायें घटित होती हुई न दिखाकर वर्णित ही हैं; अतः यह वर्णन या प्रकथन–प्रधान है।

(ड) यद्यपि राम एवं सीता के वैयक्तिक जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई हैं, परन्तु इन दोनों के सहारे लोक-धर्म की स्थापना होने के कारण जातीय विचारों को ही महत्व दिया गया है। राम इस प्रकार समस्त भारतीय पुरुष वर्ग के प्रतिनिधि हैं, तथा सीताजी समस्त भारतीय नारी वर्ग की प्रतिनिधि हैं और दोनों के आदर्श मय जीवन द्वारा भारतीय जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया गया है।

(ढ) नियति के हाथों में राम तथा सीता का जीवन भी दिखाया गया है। वे दोनों अलौकिक अवतारी पुरुष न रहकर साधारण मानव के रूपों में ही चित्रित किये गये हैं और

दोनों ही भाग्यवाद तथा विधि की विचित्र रचना चातुरी में विश्वास करते हैं। राम प्रथम सर्ग में इसीलिए कहते हैं:—

"कितनी है कमनीय-प्रकृति कैसे बतलायें।
उसके सकल अलौकिक गुण-गान कैसे गायें।"

और सीता जी भी पुनः विधि की बहु विधान मयी रचना पर अपना विचार इस प्रकार प्रकट करती हैं।

"है यह विविध विधानमयी भवनियमन-शीला।
लोक-चरित कर है उसकी लोकोत्तर लीला।"

(ण) उसकी सारी कथा राम से लोकानुरंजनकारी इतिवृत्ति को लेकर ही प्रस्तुत की गई है। और उसमें अन्त तक एक सूत्रता विद्यमान है।

(त) रचना शैली बड़ी अनूठी, सरल एवं सुबोध है, भाषा भावानुकूल है तथा खड़ी बोली के लोक-प्रचलित स्वरूप को उपस्थित करती है। रचना शैली पर आगे चलकर स्वतंत्र रूप में विचार करेंगे।

(थ) भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता की ओर कवि का झुकाव रहा है जो भारतीय विचार-धारा के सर्वथा अनुकूल है।

उपर्युक्त साहित्य-शास्त्रियों की विचार धारा के अनुसार जब वैदेही वनवास' को हम देखते हैं, तो वह 'महाकाव्य' की ही कोटि में आता है। कुछ विद्वानों ने इसे 'एकार्थ काव्य' कहा है; और इसका कारण यह बतलाया है कि इसकी कथा में अधिक मोड़ नहीं है। इतना अवश्य है कि काव्य ने अन्तर्गत यदि विचारों का गहन-संघर्ष तथा कथा के विविध दिशाओं में मोड़ (Turn) नहीं हैं तो वह पाठकों की रुचि को अपनी ओर आकर्षित करने में असमर्थ रहता है और उसे जनता अपना पथ-प्रदर्शक नहीं मानती। महाकाव्य सदैव जनता की चितवृत्तियों का उद्घाटन करने एवं भ्रमित मानवों को सीधे और सच्चे मार्ग पर लगाने के लिए ही लिखे जाते हैं। रामचरित मानस आज भारतीय जनता का कंठहार क्यों बना

हुआ है, इनका मुख्य कारण यही है कि इसमें जनता के चित्र को रमाने तथा उसका मार्ग-दर्शन करने की पूर्ण सामर्थ्य है। 'वैदेही वनवास' में शास्त्रीय नियमानुकूल महाकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान हैं, परन्तु जनता की चित्तवृत्तियों को रमाने की उतनी सामर्थ्य नहीं दिखाई देती; जितनी कि राम-कथा—युक्त रामचरित मानस में है। राम का लोक-पावन चरित्र दोनों काव्यों में चित्रित किया गया है, परन्तु एक का आदर जनता ने अधिक किया और दूसरे की उपेक्षा की, इस से ही पता चला चलता है कि दूसरे में कुछ ऐसी कमियाँ हैं जिनके कारण जनता उसका उचित आदर न कर सकी। प्रथम तो, लोकानुरंजन का इतना गहरा रंग इस काव्य पर चढ़ा दिया गया है कि उसकी यहाँ अति हो गई है सर्वत्र लोकधर्म और लोकाराधान का ही जिक्र मिलता है, जिसे पढ़ते-पढ़ते पाठक उब जाता है; दूसरे सीता के बनगमन के अवसर पर जो चित्रण इसमें मिलता है वह सर्वथा अस्वाभाविक एवं अरुचिकर है। ऐसी भी लोकाराधन क्या, कि जिसके लिए सीता जी स्वयं विदा होकर जंगल में रहने चली जाती हैं, और पति परायण, सती साध्वी होकर भी अपने अपवाद का खण्डन नहीं करती। हाँ, राम यदि धोखे से सीता को भेज देते अथवा 'उत्तर रामचरित' की भाँति सीता के हृदय जंगल में घूमने की इच्छा होती और फिर उन्हें एकाकी भेजा जाता, तब तो फिर दूसरी ही बात थी। अपार जन समूह के साथ अयोध्या से वाल्मीकि आश्रम के लिये विदा होने का चित्रण एक ओर तो लोकप्रचलित कथा के विरुद्ध है, दूसरे लगभग सभी प्राचीन ग्रंथों के विपरीत है; अतः अत्यन्त अस्वाभाविक हो गया है। तीसरे, हरिऔधजी ने 'वक्तव्य' में करुण रस पर जोर देते हुए यह बताने की चेष्टा की है कि 'वैदेही वनवास' में करुण रस की प्रधानता रहेगी, परन्तु नैतिकता का रंग इतना गहरा चढ़ गया है कि करुण रस का कोई स्थायी प्रभाव पाठक के हृदय पर नहीं पड़ता। चौथे, अश्वमेध यज्ञ के अवसर सीता जी जैसे ही राम का दर्शन करती हैं तुरन्त एक दिव्य-ज्योति में परिणत होती हुई दिखाई गई हैं। यहाँ कवि ने एक लौकिक घटना को अलौकिक बनाने का जो प्रयत्न किया।

वह सर्वथा अस्वाभाविक है। इस प्रकार काव्य में नवीनता लाकर हरिऔध जी ने इस महाकाव्य के लक्षणों से युक्त होने के कारण "वैदेही वनवास" एक महाकाव्य ही है इसमें कवि को भाषा सम्बन्धी सफलता भले ही मिल गई हो, किन्तु महाकाव्य के लिए उचित उपकारणों के सजाने में सफलता नहीं मिली। यहाँ बुद्धिवाद तथा कर्त्तव्य परायणता की प्रधानता हो गई है, जिससे वियोग-वर्णन भी उतना सुन्दर और स्पष्ट नहीं मिलता, जितना कि उत्तर रामचरित में है। सर्वत्र उपदेशात्मकता तथा इतिवृत्तात्मकता का ही प्राधान्य है। बीच-बीच में अहिंसा, सदाचार तथा अध्यात्मिकता का वर्णन भी मिलता है जो काव्य के सांस्कृतिक पक्ष को पुष्ट करता है, परन्तु इन सभी वर्णनों की अधिकता के कारण महाकाव्य की सजीवता तथा चारुता का ह्रास हो गया है और पाठक को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति जाती रही है। हाँ, राम और सीता के चरित्र-चित्रण पर भी अधिक जोर देने के कारण यदि इसे 'चरित्र काव्य' ही कहा जाय तो ठीक रहेगा।

३—प्रकृति चित्रण:—प्रियप्रवास की अपेक्षा यहाँ प्रकृति-चित्रण में बिम्बग्रहण प्रणाली का प्रयोग अधिक मिलता है। प्रियप्रवास में प्रकृति का इतना विस्तार के साथ वर्णन नहीं किया गया था ; यहाँ आकर कवि ने प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करते हुए उसके विराट रूप के भव्य चित्र अंकित किये हैं। यहाँ प्रकृति भयानक एवं रमणीक दोनों रूपों में विद्यमान है तथा प्रकृति-चित्रण की सजीव प्रणाली को अपनाया गया है। प्रथम, आलम्बन रूप में चित्रित करते हुए कवि के नाम-परिगणन तथा बिम्बग्रहण दोनों प्रणालियों का प्रयोग किया है। नाम परिगणन प्रणाली का प्रकृति चित्रण चतुर्दश सर्ग में मिलता है ; जहाँ उन्होंने रसाल, अनार, कचनार, कदम्ब आदि का वर्णन किया है। यह वर्णन 'प्रियप्रवास' के वनस्थली वर्णन की ही भाँति है, जैसे

"देख अलौकिक-कला किसी छविकान्त की।
दाँत निकाले थे अनार तरु हँस रहे॥"

× × × ×

"करते थे विस्तार किसी कीर्ति का।
× × × ×
श्वेत-रक्त कमनीय कुसुम कचनार के ॥"

इसके साथ ही, बिम्बग्रहण प्रणाली का प्रयोग संक्षिप्त योजना के साथ आश्रम-वर्णन के समय निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है:—

ऊँचेऊँचे विपुल-शाल- तरु शिर उठा।
गगन-पथिक का पंथ देखते थे अड़े।
हिला-हिला निज शिखा-पता का मंजुला।
भक्तिभाव से कुसुमांजिल ले थे खड़े ॥"

उपर्युक्त दोनों वर्णन रमणीक प्रकृति के हैं। भयानक प्रकृति का दृश्य भी हरिऔधजी ने "वैदेही बनवास" के प्रथम सर्ग में ही उपस्थित किया है। सरयू नदी की वर्षाकालीन अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

"लखन का कर संग वही पातक करती है।
कर निमग्न बहु जीवों का जीवन हरती है॥
डुबा बहुत से सदन, गिराकर तट विटमी को।
करती है जल-मग्न शस्य-श्यामला मही को ॥"

दूसरे, उद्दीपन के रूप में प्रकृति-चित्रण करते हुए कवि ने वियोगिनी जानकी को चाँदनी से व्यथित एवं विचलित होते हुए दिखाया है; कारण यह है कि चाँदनी को देखकर उन्हें अपने अतीत जीवन की स्मृति हो आती है। इसी प्रकार वर्षा वर्णन के अवसर पर सीताजी को मेघों के देखने से राम के घनश्याम रूप का ध्यान हो जाता है और वे अधिक व्यग्र एवं बेचैन हो उठती हैं। वैसे वर्षाकालीन मेघों का वर्णन अत्यन्त सजीव एवं चित्ताकर्षक है:—

"वे विविध रूप धारण कर।
नभतल में घूम रहे थे।
× × × ×
वे कभी स्वयं नग-सम बन।

थे अद्भुत—दृश्य दिखाते ।
कर कभी दुंदुभी—वादन ।
चपला को रहे नचाते ।
× × × ×
वे पवन—तुरंगम पर चढ़ ।
थे दूनी दौड़ लगाते ॥
वे कभी धूप छाया के ।
थे छवि मय-दृश्य दिखाते ॥"
× × + +
निज-शान्ततम निकेतन में ।
बैठी मिथिलेश—कुमारी ॥
हो मुग्ध विलोक रही थीं ।
नव-नील-जलद-छवि न्यारी ॥
× × × ×
मैं सारे गुण जलधर के ।
जीवन-धन में पाती हूँ ॥
उनकी जैसी ही मृदुता ।
अवलोके बलि जाती हूँ ॥

उपर्युक्त वर्णन को पढ़ कर पंतजी की 'बादल' कविता का ध्यान हो आता है, जिसमें उन्होंने बादल को विविध रूपों में चित्रित किया है। इस उद्दीपन रूप में परम्परागत सामग्री ही मिलती हैं। मेघ, चाँदनी, पुष्प आदि हृदय में वैसा ही वियोग-भावना को उद्दीप्त करते हैं, जैसा कि रति-काल के कवियों ने दिखाया है—

तीसरे, संवेदनात्मक रूप में जो प्रकृति-चित्रण हरिऔधजी ने किया है उसमें प्रकृति को हृदय के भावों के अनुकूल आचरण करते हुए दिखाया है। यहाँ 'प्रियप्रवास' की ही भाँति प्रकृति में सचेतनता एवं सजीवता की कल्पना की गई है और मानव-व्यापारों से गहन-संबंध रखती हुई प्रकृति का

चित्रण किया गया है। जैसे उपवन के अंतर्गत बैठे हुए प्रसन्नवदन राम-सीता के सम्मुख समस्त प्रकृति भी प्रफुल्लित एवं प्रसन्न चित्रित की गई है :—

"सरयू सरि ही नहीं सरस बन है लहराती।
सभी ओर है छटा छलकती सी दिखलाती॥
× × × ×
हैं प्रभात उत्फुल्ल-मूर्ति कुसुमों में पाते।
आहा। वे कैसे हैं फूले नहीं समाते॥
मानो वे हैं महानन्द-धारा में बहते।
खोल-खोल मुख बार-विनोद बातें हैं कहते॥

इसी तरह श्री राम को शम्बूक वध के अवसर पर पंचवटी के अंदर विरह-वेदना व्याप्त दिखाई दी, क्योंकि उनका हृदय उस समय पंचवटी को देखते ही सीता के विरह से व्याप्त हो गया था और वहाँ सर्वत्र उसी विरह की छाया दिखाई देती थी :—

"हरे भरे तरु हरा-भरा करते न थे।
उनमें भरी हुई दिखलाती थी व्यथा।
खग-कलरव में कलरवता मिलती न थी।
बोल-बोल वे कहते थे दुख की कथा।

चौथे वातावरण निर्माण के लिए हरिऔधजी ने लगभग प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में प्रकृति के रूप को चित्रित करने की चेष्टा की है, जैसा की घटना आगे सर्ग में घटित होने वाली है। इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण का प्रयोग आधुनिक काव्यों में अत्यधिक देखा जाता है और कवि लोग आगामी घटना का संकेत प्रकृति की हलचल के चित्रण द्वारा पाठक को पहले ही कर देते हैं। पंचम सर्ग में सीता को वनवास की सूचना मिलने से पहले जो प्रकृति चित्रण मिलता है उसी से भावी संकट की कल्पना उन्हें हो जाती है, क्योंकि रात्रि के समय अभी तक बड़ी निर्मल चाँदनी छिटकी हुई थी, किन्तु अचानक ही बादल घिर आते हैं :—

"पहले छोटे-छोटे घन के खण्ड घूमते दिखलाये।
फिर छाया मय कर क्षिति-तल को सारे नभतल में छाये॥
तारा पति छिप गया आवरित हुई तारकावलि सारी।
सिता बनी असिता, छिनती दिखलाई उसकी छवि न्यारी॥

इसी प्रकार सीता के पुत्र उत्पन्न होने के पश्चात पंचदश सर्ग में जो प्रकृति-चित्रण मिलता है; उससे सीता द्वारा लाड़ प्यार के साथ पुत्रों का पालन होने की सूचना स्पष्ट रूप से मिल रही है और पुत्रवती होने का एक पवित्र वातावरण सा प्रकृति द्वारा निर्माण कर दिया गया है :—

"सरल-बालिकायें सी कलिकायें-सकल।
खोल-खोल मुँह केलि दिखा खिल रही थीं।
× × × ×
समय कुसुम-कोमल प्रभात-शिशु को विहँस।
दिवस दिव्यतम गोदी में था दे रहा॥
भोले पन पर बन विमुग्ध उत्फुल्ल हो।
वह उसको था ललक ललक कर ले रहा॥

पाँचवें, लोकशिक्षा के रूप में प्रकृति-चित्रण करने में हरिऔधजी अत्यंत कुशल हैं! प्रियप्रवास में हम देख ही चुके हैं कि कितनी कुशलता के साथ वहाँ प्रकृति से उपदेश दिलवाये है। यहाँ पर भी कितने ही स्थल ऐसे हैं जहाँ प्रकृति-चित्रण केवल सर्व साधारण को शिक्षा देने के लिए ही किया गया है। प्रथम सर्ग में पवन का स्वरूप बतलाते हुए हरिऔधजी कहते हैं —

"सहज पवन की प्रगति जो नहीं है सह जाती।
तो रोगी की सावधानता है सिखलाती॥
रूपान्तर के प्रकृति उसे हैं डाँट बताती।
स्वास्थ्य नियम पालन निमित्त है सजग बनाती॥"

तथा

"जो हो तृण के तुल्य तुच्छ उड़ते फिरते हैं।
प्रकृति करों से वे यों ही शासित होते हैं॥"

छठे अलंकार के रूप में प्रकृति चित्रण की छटा परम्परागत ही है। कवि ने प्रायः लोक-प्रचलित प्रकृति के उपमान के रूप में अपनाया है और उनसे रूप सौंदर्य तथा भाव सौंदर्य की सज-सज्जा की है। जैसे 'कमल' को उपमान के रूप में अपनाकर नयन तथा हाथों से समानता दी है :—

"कमल-नयन राम ने कमल से—
मृदुल करों से पकड़ प्रिया-कर।
दिखा हृदय-प्रेम की प्रवणता।
उन्हें बिठाला मनोज्ञ रथ पर॥

सर्ग में कवि ने प्रकृति के उपकरणों को अलंकार के लिए विशेषरूप से, उपमानों के लिए अच्छी प्रकार सजाया है। वहाँ बादलों की विभिन्न उपमायें देता हुआ कवि कहता है :—

"वे कभी स्वयं नग-सम बन।
थे अद्भुत-दृश्य दिखाते॥
कर कभी दुंदुभी-वादन।
चपला को रहे नचाते।

वे पहन कभी नीलाम्बर।
थे बड़े मुग्धकर बनते॥
मुक्तावलि वलित अधर में।
अनुपम-वितान थे तनते॥

× × × ×

वे रङ्ग विरंगे रवि की।
किरणों से थे बन जाते॥
वे कभी प्रकृति को विलसित।
नीली साड़ियाँ पहनाते॥

× × × ×

वे पवन तुरंगम पर चढ़।
थे दूनी-दौड़ लगाते।

वे कभी धूप-छाया के।
थे छविमय-दृश्य दिखाते।

× × × ×

वे धूम-पुंज से फैले।
थे दिगन्त में दिखलाते॥

इत्यादि पदों में कवि ने बादलों को कभी हाथी, कभी जहाज, कभी तेज दौड़ने वाला, कभी धूम-पुंज आदि से समानता देकर प्रकृति का सजीवता के साथ अलंकार के रूप में चित्रण किया है।

सातवें, मानवीकरण के रूप में तो कवि ने बड़ी सफलता के साथ अत्यंत विस्तृत प्रकृति-चित्रण किया है। पाश्चात्य साहित्य में 'मानवीकरण' कविता का अलंकार माना गया है और वहाँ अनेक अमूर्त पदार्थों को मूर्त्तता प्रदान करके वर्णन करने की प्रणाली प्रचलित है। हरिऔधजी ने इस मानवीकरण का प्रयोग 'प्रिय प्रवास' में इतना नहीं किया, जितना कि 'वैदेही बनवास' में किया है। यहाँ तो प्रकृति में प्रत्येक अवयव में चेतनता का संचार कर दिया है और सभी पदार्थ मानवों की भाँति ही व्यापार करते हुए चित्रित किये गये हैं। क्या उषा, क्या चाँदनी, क्या नगरी और क्या शरद और वसंत ऋतु सभी में मानवता का आरोप करके मानवीकरण के रूप में ही उनका चित्रण किया है। प्रथम सर्ग के प्रारंभ में ही उषा का वर्णन एक सुन्दरी के रूप में किया है :—

"लोक-रंजिनी उषा-सुन्दरी रंजन-रत थी।" और इसके उपरान्त पंचम सर्ग के प्रारम्भ में तो प्रकृति को अत्यंत भव्य सुन्दरी के रूप में बड़ी सफलता के साथ अंकित किया है :—

"प्रकृति-सुन्दरी विहँस रही थी चन्द्रानन था दमक रहा।
परम दिव्य बन कान्त अंक में तारक-चय था चमक रहा॥
पहन श्वेत-साटिका सिता की वह लसिता दिखलाती थी।
ले-ले सुधा सुधा-कर से वसुधा पर बरसाती थी"

इतना ही नहीं सप्तम सर्ग के प्रारंभ में तो अवधपुरी को भी दिव्य-सुन्दरी का रूप प्रदान कर दिया है :—

"अवधपुरी आज सज्जिता है।
बनी हुई दिक-सुन्दरी है॥
विहँस रही है विकास पाकर।
अटा-अटा में छटा भरी है॥

तथा अष्टम सर्ग में शाल के वृक्षों में एक भक्ति-भाव सम्पन्न पुजारी का आरोप कर दिया है और उन्हें सूर्यदेव की पूजा के लिए कुसुमाञ्जलि लिए हुए तथा अपने देव की प्रतीक्षा में उठा-उठा कर बाट जोहते हुए चित्रित किया है :—

"ऊँचे ऊँचे विपुल-शाल-तरु शिर उठा।
गगन-पथिक का पंथ देखते थे अड़े॥
हिला-हिला निज शिखा-पताका-मंजुला।
भक्ति-भाव से कुसुमांजलि ले थे खड़े॥

तात्पर्य यह है कि मानवीकरण के रूप में चित्रित करते हुए हरिऔधजी की उर्वरा कल्पना के सामने प्रकृति एक अतीव रूप सुन्दरी के सदृश सदैव खड़ी हुई दिखाई देती है। इसी कारण सर्वत्र कवि ने उसे भव्य एवं दिव्य सुन्दरी की वेश-भूषा से सुसज्जित करके अपने काव्य में अंकित किया है। इस प्रणाली के प्रयोग में हरिऔध जी को अधिक तल्लीन एवं तत्पर पाते हैं। साथ ही रमणीयता एवं स्निग्धता भी इसी प्रकार के प्रकृति चित्रण में यहाँ अधिक मिलती है।

आठवें, रहस्यात्मक रूप में भी प्रकृति का चित्रण "वैदेही बनवास" में मिलता है। कवि ने प्रकृति की अस्थिरता एवं अनेक रूपता को देखकर शंका प्रकट की है कि न जाने क्या कारण है जो पुष्प आज फूल रहा था कल वही मुरझा जाता है; जो सरिता आज आनंद के साथ बाहर रही थी, वही कल काल रूपधारण करके नगर और ग्रामों का ध्वंस करने लगती

है। अतः इस प्रकृति में क्या-क्या रहस्य छिपा है उसका बताना सर्वथा असंभव है :—

कल मैंने था जिन फूलों को फूला देखा।
× × × ×
उनमें से कुछ धूल में पड़े हैं दिखलाते।
कुछ हैं कुम्हला गये और कुछ हैं कुम्हलाते॥
× × × ×
फूलों सा उत्फुल्ल कौन भव में दिखलाया।
किंतु उन्होंने कितना लघु जीवन है पाया॥
× × ×
जो सरयू इस समय सरस तम है दिखलाती।
उठा उठा कर ललित लहर जो है ललचाती॥
× × ×
डुबा बहुत से सदन गिराकर तट विटपी को।
करती है जल मग्न शस्य श्यामला मही को॥
इसी तरह के भव प्रपंच कितने हैं ऐसे।
नहीं बताए जा सकते हैं वे हैं जैसे॥
है असंख्य ब्रह्मांड स्वामिनी प्रकृति कहाती।
बहु रहस्यमय उसकी गति क्यों जानी जाती?

उपर्युक्त प्रकृति चित्रणों के अतिरिक्त आधुनिक कविता में प्रतीकात्मक के तथा दूती के रूप में और प्रकृति चित्रण मिलता है। प्रतीकात्मक प्रणाली का प्रयोग छायावादी कविताओं में देखा जाता है और दूती का प्रयोग प्रिय-प्रवास में हम पहले ही देख चुके हैं। परन्तु इन दोनों प्रणालियों का प्रयोग वैदेही बनवास में नहीं मिलता। यहाँ तो कवि ने उपर्युक्त आठ प्रणालियों को अपनाकर प्रकृति का अत्यन्त सरस और मधुर संश्लिष्ट और विश्लिष्ट भावात्मक एवं रहस्यात्मक तथा सरल और सुबोध चित्रण किया है। जिसमें ऋजुता और गहनता शिष्टता और शृंगारिकता तन्मयता और उच्छ्रांख-

लता तथा रमणीयता और भयानकता दोनों विद्यमान हैं। प्रकृति चित्रण का जितना स्पष्ट और निखरा हुआ स्वरूप वैदेही बनवास में मिलता है, वैसा अन्यत्र देखने में नहीं आता। यहाँ पर तो ऐसा प्रतीत होता है, कि कवि प्रकृति के साथ तादातय स्थापित करके उसमें प्रत्येक स्पंदन से अपने हृदय की धड़कन को मिलाता हुआ उसकी प्रत्येक गति विधि से अपने व्यापारों को संचालित करता हुआ तथा उसकी प्रत्येक कार्य प्रणाली से स्फूर्ति लेता हुआ अपना जीवन यापन कर रहा है। प्रकृति चित्रण जितना सजीव तथा सरस इस काव्य में मिलता है उतना हरिऔध जी के अन्य काव्यों में कहीं भी दिखाई नहीं देता। अतः प्रकृति चित्रण के कुशल कलाकार के रूप में हम यहाँ हरिऔध जी को पाते हैं।

४—चरित्र-चित्रण :—राम :—हरिऔध जी ने श्रीराम के विश्व-विश्रुत लोकानुरंजनकारी आदर्श चरित्र की प्रतिष्ठा वैदेही बनवास में की है धार्मिक संकीर्ण वातावरण से उठाकर रामको अखिल मानव समूह का प्रतिनिधि एवं महापुरुष के रूप में चित्रित किया है। उनके चरित्र में शक्ति-शील और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा तो गोस्वामी तुलसीदास जी ने कर ही दी थी। हरिऔधजी ने लोक संग्रह की उदात्त भावना का योग दे कर श्री राम को महत् से महत्तम बनाने की चेष्टा की है वे राजा हैं बड़े भ्राता हैं पति हैं, पुत्र हैं और सबसे अधिक जनता के नेता हैं। जनता की संस्था एवं उसके चरित्र निर्माण का उत्तरदायित्व आपके ऊपर ही है। उनमें मर्यादा पुरुषोत्तम के स्वरूप के साथ साथ शील और सौजन्य की पराकाष्ठा विद्यमान है। सौंदर्य में वे अद्वितीय हैं। आजानाबाहु एवं कमल के से नेत्र वाले हैं। तथा सूर्यवंश के देदीप्यमान सूर्य हैं :—

"इनमें से थे एक दिवाकर कुल के मंडन।
श्याम गात आजानु-वहु सरसीरुह लोचन॥
मर्यादा के धाम शील-सौजन्य धुरंधर।
दशरथ नन्दन राम परम रमणीय कलेवर॥

उपर्युक्त वाह्य सौंदर्य के अतिरिक्त उनके आंतरिक सौन्दर्य में अधिक आकर्षण है। यहाँ वे शील और सदाचार की प्रति-मूर्ति होकर जनता के एक मात्र हितैषी राजा हैं। उनके हृदय में लोकाराधन का भावना इतनी उत्कटता के साथ विद्यमान है। कि वे उसके अतिरिक्त और किसी बात का विचार नहीं करते। लोक सेवा के लिये वे बड़े से बड़ा त्याग कर सकते हैं। अपने माता पिता भाई बन्धु तथा सगे संबन्धियों ही को नहीं अपितु अपनी प्राण प्यारी हृदयेश्वरी पतिपरायण आदर्श पत्नी सीता का परित्याग करने में भी उन्हें तनिक भी संकोच नहीं। उनके जीवन का एक मात्र ध्येय विलासिता नहीं। गौरव के लिये सम्पत्ति का संग्रह करना नहीं। नर संहार करके नये-नये राज्य जीतना नहीं अपितु जनता की सेवा करते हुए घरघर में शान्ति का प्रचार करना है। इसी कारण वे तृतीय सर्ग में मंत्रणा गृह के अंतरगत बैठे हुए अपने भाइयों की बातें सुन कर कहते हैं :—

"दमन है मुझे कदापि न इष्ट।
क्योंकि वह है भय-मूलक-नीति॥
चाह है लाभ करूं कर त्याग।
प्रजा की सच्ची प्रीति-प्रतीति॥

× × ×

पठन कर लोकाराधन मंत्र।
करूंगा मैं इसका प्रतिकार॥
साध कर जन हित साधन मूत्र।
करूंगा घर घर शान्ति प्रसार॥

× × ×

करूंगा बड़े से बड़ा त्याग।
आत्म निग्रह का कर उपयोग॥
हुये आवश्यक जन मुख देख।
सहूँगा प्रिया असह्य वियोग॥

× × ×

इन पंक्तियों में लोक-सेवा की कितनी उच्च एवं भव्य भावना का समावेश राम के चरित्र में किया गया है जो युग की क्रांतिकारी प्रवृत्तियों के सर्वथा अनुकूल है तथा कांग्रेस के जन्म के उपरान्त देश में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये जिस त्याग, तपस्या एवं लोक सेवा आदि उदात्त भावनाओं की आवश्यकता थी उसको जन-जन में जागृत करने वाला है। राम स्वयं लोक-सेवा के अनुरिक्त नहीं रहते, अपितु अपने भ्राता एवं पत्नी आदि को भी उसी लोकाराधन में तत्परता के साथ लगा देते हैं। यही उनके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है आत्म बल एवं आत्म विश्वास राम में कूट-कूट कर भरा हुआ है। उन्हें पूरा भरोसा है कि मेरे भ्राता एवं पत्नी सभी मेरे जीवन का ध्येय अपनायेंगे:—

"मुझे यह है पूरा विश्वास ॥
लोक हित साधन में सब काल ॥
रहेंगे आप लोग अनुकूल।
धर्म-तत्वों पर आँखें डाल ॥

इसी लोक हित से कारण अंत में अपनी अत्यन्त प्रिय पत्नी का भी परित्याग राम को करना पड़ता है। और असह्य वेदना को सहन करते हुये भी लोकाराधन म सदैव तत्पर रहते हैं। उनकी वेदना में गम्भीरता एवं शालीनता व्याप्त हो जाती है और वे कठिन से कठिन परिस्थिति में भी अपने जीवन लक्ष्य से किंचित भ्रष्ट नहीं होते। परन्तु राम भी तो एक पुरुष ही हैं उनके भी हृदय है और उस हृदय में रहने वाली प्रसुप्त भावनायें भी हैं। राम जब जन स्थान में शंबूक वध के लिये जाते हैं वहाँ उनकी ये समस्त प्रसुप्त भावनायें पंचवटी की रमणीक स्थल एवं एकान्त को पाकर जागृत हो जाती हैं। और विरह उन्हें भी तीव्रता के साथ विक्षिप्त सा बना देता है। कारण यह है कि पंचवटी के रम्य स्थलों में परम प्रिय सीता के साथ उन्होंने पहले आनन्द क्रीड़ायें की थीं। आज वहीं पर वे एकाकी मारे-मारे फिर रहे हैं। अतः उन समस्त दृश्यों को देखकर उनके हृदय में अतीत की स्मृति हो जाती है और विरह वेदना राम जैसे लौह पुरुष को भी

विचलित एवं बेचैन बना देती है। अब उन्हें वहाँ के वृक्षों में कोई आनन्द नहीं मिलता। पक्षियों के कलरव में मधुरता नहीं दिखाई देती। पुष्प और कलियाँ उनके हृदय को प्रसन्न नहीं करतीं। गोदावरी "बहा-बहा आँसू जो भू पर हो पड़ी" सी दिखाई देता है और पंचवटी के पाँचों वृक्ष जो कभी अत्यन्त सुखद एवं आनन्ददायी थे आज वे भी 'अन्तस्थल के प्रतिकूल' दिखाई देते हैं. बार बार जानकी जी की याद आती है और उनके गुणों का स्मरण करते करते कुछ क्षणों के लिये अत्यन्त व्यग्र हो जाते हैं। और जानकी के बारे में सोचते सोचते उनका हृदय टुकड़े टुकड़े होने लगता है।

"यदि वह मेरे द्वारा बहु व्यथिता बनी।
विरह उदधि उत्ताल तरंगों में बही॥
तो क्यों होगी नहीं मर्म पीड़ा मुझे।
तो क्यों होगा मेरा उर शतधा नहीं॥

परन्तु कवि ने उन्हें धीर धुरंधर चित्रित किया है। अतः इस असह्य पीड़ा को भी सहन करके वे यही कहते हैं:—

"किन्तु अधिक होना अधीर वांछित नहीं।
जब कि लोक हित हैं लोचन के सामने॥"

लोक-हित का इतना अधिक प्रभाव राम के जीवन में मिलता है। कि वे उससे कारण वैयक्तिक सुख-दुख, माया-मोह प्यार दुलार आदि का परित्याग करके ज़नता के सुख-दुख माया-मोह तथा दुलार प्यार में सब काल लीन रहे आते हैं। व्यक्तिगत जीवन से ऊपर उठकर राम समष्टिगत हो गये है। और उसके लिये सर्वस्व का परित्याग करने में भी संकोच तिलमात्र नहीं दिखाई देता। राम के इसी पुरुषोत्तम रूप की झाँकी वैदेही वनवास में मिलती है।

सीता :—श्रीराम के अनुरूप ही सीताजी हैं। श्रीराम के जीवन में जिन त्याग, तपस्या, सेवा आदि लोक हितैषी भावनाओं का समावेश मिलता है, सीता जी भी उन समस्त भावनाओं से सम्पन्न हैं। कवि ने भी स्पष्ट ही उन्हें श्रीराम की लोकाराधना छाया बतलाया है:—

"इसी तरह हैं कृत्यरता जनकांगजा ।
काया जैसी क्यों होगी छाया नहीं ॥"

सीता जी के रूप-सौंदर्य की झाँकी प्रस्तुत करते हुए कवि ने उन्हें 'लोक-ललामा', 'पुण्य-स्वरूपा' तथा 'विपुल-मंजुल-गुण-धामा कहा है। वे पति की प्रत्येक गति-विधि का निरीक्षण करके सदैव उसके अनुकूल चलने वाली तथा पति की प्रत्येक इच्छा की सहर्ष पूर्ति करने वाली चित्रित की गई हैं। वे नारी-रत्न हैं उनमें स्त्रियोचित शालीनता, सौंदर्य, पतिपरायणता, मंजुल-वाणी और कर्त्तव्या कर्त्तव्य का ज्ञान है। वे एकमात्र विलासिनी तथा भव्य-प्रासादों में जनता के सुख-दुख को भूलकर आनंद-केलि करने वाली राज-महिषी नहीं हैं, उनका जीवन भी लोक-हित के लिए उत्सर्ग हो चुका है; वे लोक हितैषी राम की पत्नी हैं। अतः लोक-हित के लिए जो-जो बात वांछनीय है उसकी पूर्ति करना उनका भी कर्त्तव्य है। अपने व्यक्तिगत सुख-दुख, माया-मोह आदि का आवरण उन्हें लोकानुरंजन से पृथक नहीं कर सकता। वे पति-परायण होने के कारण पति के सुख-दुख में सदैव समान रूप से भाग लेती हैं और राम के द्वारा लोक-हित के लिए वन-गमन का प्रस्ताव रखने पर उसे स्वीकार कर लेती हैं। पति के सुख में ही सुख मानने वाली आदर्श चरित्र सम्पन्न सीताजी को पति से अलग रहने में कितने ही दुख उठाने पड़ते हैं, वियोग-जन्य अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। प्रकृति के प्रत्येक उपकरण उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं, चाँदनी उन्हें जलाती है, मेघ राम की स्मृति कराकर संतप्त बना देता है, पुष्प खिल-खिलाकर उनको व्यग्र कर देते हैं, और वासंती पवन उन्हें व्यथित कर देती है; और वे यह जानतीं भी हैं कि पति-वियोग के समान संसार में और कोई कष्ट नहीं है, परन्तु फिर भी ये सभी वस्तुयें उन्हें कर्त्तव्य-पथ से तनिक भी विचिलित नहीं कर पातीं और अंत तक वे अपने 'प्राणेश की 'प्रिय-अभिलाषाओं' की पूर्ति में ही सन्नद्ध रहती हैं। व्यथित होते हुए भी उनके सदैव ये ही उद्गार निकलते रहे :—

"विरह जन्य मेरी पीड़ायें हैं प्रकृत ।

किन्तु कभी कर्त्तव्य-हीन हूँगी न मैं ॥
प्रिय-अभिलाषायें जो हैं प्राणेश की।
किसी काल में उनको भूलूँगी न मैं ॥"

श्रीमती सीताजी को माता का पवित्रतम पद भी प्राप्त हुआ है। वे असहाय परिस्थिति में भी अपने हृदय के टुकड़ों का बड़े दुलर के साथ पालन करती हैं, उनके सामने तनिक भी व्यग्र एवं बेचैन नहीं होती और बालकों को उनके अन्तस्थल में छिपी हुई वियोगाग्नि का पता नहीं चलता। पुत्रों के हास-विलास, आमोद-प्रमोद, क्रीड़ा-विनोद आदि का पूरा-पूरा ध्यान रखती हुई उनका बड़ी संयम के साथ लालन-पालन करती हैं। उन्हें समय-समय पर अत्यंत हितकारी शिक्षा देती हुई उनमें सुचरित्र का निर्माण करती हैं। पंचदश सर्ग में मछलियों के मारने का निषेध करती हुई उन्हें विश्व-प्रेम का पाठ पढ़ाती हैं और अहिंसा तथा उदारता के बीज उनके बाल-हृदय में बो देती हैं:—

"जीव जंतु जितने जगती में हैं बने।
सबका भला किया करना ही है भला।
निरपराध को सता करें अपराध क्यों।
वृथा किसी पर क्यों कोई लाये बला।"

पुत्रों को अपने विश्व-विश्रुत इतिहास को बतलाती हुई उन्हें भी कुलहित समाजहित तथा देश-हित की ओर आकर्षित करती हैं तथा प्रकृति के निगूढ़ रहस्यों में छिपी हुई हितकारी शिक्षा को प्रदान करके अपने पुत्रों के हृदय में प्रकृति-प्रेम की मंजुल-भावना का आविष्कार करती हैं, जिससे विश्व प्रेम की भावना सुगमता से साथ उनके हृदयों में पल्लवित हो सके। सीताजी की यह जननी-रूप अत्यंत आदर्शमय है। यहाँ हम उनमें एक अत्यंत भव्य एवं उन्नत-चरित्र निर्माण करने वाली आदर्श जननी के रूप का दर्शन करते हैं।

वाल्मीकि आश्रम में वे एक राज-महिषी के रूप में नहीं रहती, अपितु एक साधारण नारी की तरह अन्य छात्राओं का सा जीवन व्यतीत करती

हुई रहती हैं। आश्रम के समस्त नियमों का पूरा-पूरा ध्यान रखकर पालन करती हैं और सभी छोटे बड़े आश्रमवासियों से सहोदर भाई-बहिन की भाँति आचरण करती हैं। इतना ही नहीं वहाँ के पेड़ पौधों पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों तक के लालन-पालन का ध्यान उन्हें नित्य रहता है। उनके इसी लोक-हितैषी रूप के फलस्वरूप आश्रम के चारों ओर "दिखलाती थी सर्व-भूत-हित की कला।" कारण यह था कि सीताजी के जीवन में लोक-हित पूर्णतः व्याप्त हो गया था और वे निरंतर इसी लोकाराधान का मंत्र जपती हुई उसे कार्यान्वित करने में भी दत्त-चित्त दिखाई देती थीं:—

"देख चींटियों का दल आटा छींटतीं।
दाना दे-दे खग-कुल को थीं पालतीं॥
मृग-समूह के सम्मुख, उनको प्यार कर।
कोमल-हरित तृणावलि वे थीं डालतीं॥"

इतने महत्वपूर्ण वातावरण में भला कैसे सर्व-भूत-हित न होगा? सीताजी ने अपने जीवन-कार्यों से लोक-सेवा की भावना को पूर्णतः चरितार्थ करके दिखा दिया। यदि राम लोक-सेवा के निमित्त त्याग और तपस्या कर सकते थे, तो जानकी जी भी उनसे पीछे रहने वाली न थीं, क्योंकि वे श्रीराम के साथ विवाह के उस पवित्र बंधन में बँधी थीं, जिसमें पुरुष और नारी को समाज-कार्य करने के लिए बाँधा जाता है और जहाँ अपने स्वार्थों को तुच्छ समझकर संसार की मंगल-कामना को ही महत्व दिया जाता है। सीताजी ने दाम्पत्यजीवन पर जो विचार प्रकट किये हैं, उनमें उनकी महानता, समाजप्रेम, शालीनता तथा दिव्यता छिपी हुई है तथा एक पत्नी के लिए "मर्यादा, कुल-शीला, लोक-लज्जा तथा क्षमा, दया, सभ्यता, शिष्टता सरलता" आदि जिन गुणों का होना अनिवार्य बतलाया है, वे सभी गुण जानकीजी में विद्यमान हैं। उन्होंने जिस भौतिकता का तिरस्कार एवं आध्यात्मिकता की ओर आकर्षण दिखाया है उससे सीताजी के तपस्वी एवं त्याग पूर्ण आध्यात्मिक जीवन की ही झलक मिलती है। इस प्रकार एक पत्नी के समस्त गुणों से विभूषित आदर्श नारी-रत्न सीता जी के महान-चरित्र

की झाँकी ही हरिऔधजी ने 'वैदेही वनवास' में अंकित की है। यहाँ युग के नारी-आंदोलन का भी प्रभाव विद्यमान है तथा नारी के लिए जिन-जिन उदात्त गुणों को हरिऔधजी आवश्यक समझते हैं उन सब का समावेश सीताजी के पावन-चरित्र में कर दिया है। सीता को उन्होंने एक पूज्य आदर्श महिला माना है जो अपने असाधारण गुणों के कारण ही आश्रम में सदैव प्रतिष्ठा पाती रहीं और अंत में भी दिव्य गुणों के कारण ही मानवी से देवी-पद पर आसीन होगई :—

"अधिक उच्च उठ जनकजा क्यों धरती तजतीं न।
वने दिव्य से दिव्य क्यों दिव देवी वनतीं न॥"

५—रचना-शैली :—हरिऔधजी ने 'वैदेही वनवास' की रचना से पूर्व ही जिस प्रकार की भाषा के लिए आश्वासन दिया था, इसी भाषा में इस महाकाव्य की रचना की है-'प्रियप्रवास' की भाषा सर्वसाधारण सुलभ न थी, उसमें संस्कृत की समास-पद्धति एवं तत्सम शब्दों की अधिकता ने दुरुहता उत्पन्न करदी थी। अतः हरिऔधजी एक ऐसे महाकाव्य की रचना करना चाहते थे, जो लोक-प्रचलित खड़ी बोली का स्वरूप प्रस्तुत कर सके। और सरल एवं सुबोध भाषा में उनके विचारों को जनता तक पहुँचा सके। 'वैदेही वनवास' उसी वलवती इच्छा का फल है। यहाँ भाषा में वैसी क्लिष्टता एवं समास-प्रियता नहीं है। यहाँ तो भाषा का प्रवाह इतनी मंद-मंथर गति से शान्ति के साथ वहता हुआ अपने गन्तव्य स्थल की ओर जाता हुआ दिखाई देता है कि पाठक को मार्ग में कर्ण-कटु एवं परुष वर्ण जैसे किसी भी पर्वत या समास जैसी किसी भी चट्टान के दर्शन नहीं होते। प्रवाह में धारावाहिकता अंत तक वनी हुई है। क्या सौंदर्य-चित्रण और क्या प्रकृति-वर्णन सभी स्थानों पर भाषा के मंजुल एवं प्रांजल लोक-प्रचलित स्वरूप के ही दर्शन होते हैं। सरलता के साथ साहित्यिक भाषा का स्वरूप इसी महाकाव्य में मिलता है। सर्वत्र भावों का अनुगमन करती हुई भाषा वर्णनों की अक्षुण्ण धारा में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं करती। कहीं-कहीं तो सरलता एवं सुबोधता का इतना भव्य

रूप भाषा के अन्दर दिखाई देता है कि जिसके खड़ी बोली की खड़खड़ाहट कोसों दूर भागती हुई नज़र आती है। चाँदनी का वर्णन करता हुआ कवि दशम सर्ग में कहता है :—

"नभतल में यदि लसती हो तो,
भूतल में भी खिलती हो।
दिव्य-दिशा को करती हो तो,
विदिशा में भी मिलती हो।

× × ×

इस धरती पर से कई लाख कोसों—
पर कान्त तुम्हारा है।
किन्तु बीच में कभी नहीं,
बहती वियोग की धारा है।'
लाखों कोसों पर रहकर भी
पति-समीप तुम रहती हो।
यह फल उन पुष्पों का है,
तुम जिसके बल से महती हो।'

× × ×

ऐसी कौन न्यूनता मुझमें है,
जो विरह सताता है।
सिते ! बतादो मुझे क्यों नहीं
चन्द्र वदन दिखलाता है।"

भाषा का स्निग्ध एवं मंजुल प्रवाह सारे महाकाव्य में व्याप्त हो रहा है। वाक्यावली इतनी सुगठित एवं मधुर है कि पाठक को समझने में एवं पढ़ कर आनन्द लेने में कोई कठिनाई प्रतीत नहीं होती। कहीं कहीं लाक्षणिक प्रयोग भी मिलते हैं, जो कवि की काव्य-कुशलता के परिचायक हैं। मानवीकरण ने तो भाषा के अंदर सजीवता उत्पन्न करदी है, क्योंकि मानवीकरण के द्वारा कवि ने अमूर्त्त पदार्थों के इतने मनोहर एवं रमणीक चित्र

खींचे हैं जिससे पाठक का हृदय उनकी ओर बरबस खिच आता है। भाषा में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह चित्रमयी है, उसमें चित्रों के अंकित करने की अनुपम शक्ति है। कवि ने इसी चित्रोपम भाषा के द्वारा कितने ही सजीव चित्रों का निर्माण किया है। शरद-ऋतु के अलौकिक चित्र को देखिए:—

"प्रकृति का नीलाम्बर उतरे।
श्वेत—साड़ी उसने पाई।
हटा घन-घूंघट शरदाभा।
विहँसती महि में भी आई।

ऐसा ही एक चित्र प्रभात का कितनी सुन्दरता के साथ अंकित किया है:—

"समय कुसुम-कोमल प्रभात-शिशु को विहंस।
दिवस दिव्यतम गोदी में था दे रहा॥
भोलेपन पर बन विमुग्ध उत्फुल्ल हो।
वह उसको था ललक ललक कर ले रहा॥"

पदमैत्री एवं वाक्य-रचना चातुरी में तो हरिऔधजी बेजोड़ हैं। उनके सभी काव्यों में अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति की प्रधानता दिखाई देती है। वर्णन कौशल इतना अनुपम है कि ये किसी भी पदार्थ के चित्र को सजीवता के साथ अंकित कर सकते हैं। मुहावरे तथा लोकोक्तियों के तो उस्ताद हैं। अपनी लोक-प्रचलित भाषा में तीन रचनायें—बोलचाल, चुभने चौपदे, और चोखे चौपदे—प्रस्तुत करके मुहावरेदार भाषा लिखने में तो आप सिद्धहस्त हो चुके थे। अतः इनके मुहावरों के प्रयोग अत्यन्त सजीव और सफल हुए हैं। नीचे हम उनके कुछ मुहावरों के प्रयोगों के उदाहरण देते हैं:—

(१) आपकी भी निन्दा होगी।
समझ मैं इसे नहीं पाता।
खौलता है मेरा लोहू।
क्रोध से मैं हूँ मरजाता॥

(२) हो सकेगी उसकी मुक्ता ।
मैं इसे सोच नहीं सकता ॥
खड़े हो गये रोंगटे हैं ।
भी मेरा है कँपता ॥
(३) संभल कर वे मुँह को खोलें ।
राज्य में है जिनको बसना ॥
(४) मुझे यदि आज्ञा हो तो मैं ।
पचा दूँ कुजनों की बाई ।"
(५) गये गंधर्व रसातल को ।
रहा वह जिनका मुँह तकता ॥
(६) जी की कली खिलाती थी उसकी हंसी ।
(७) अनुरंजन का चाव दिखाकर चौगुना ।
(८ काँ काँ रव कर था न कान को फोड़ता ।
(९) तृण गिनता है मानव निज सुख के लिए ।
(१०) अपने सुख-पथ में अपने हाथों में काँटे बोता हूँ ।

इस प्रकार खोजने पर अनेक सुन्दर-सुन्दर प्रयोग सारे महाकाव्य में मिल सकते हैं जो भाषा की सजीवता तथा कथोपकथन की चारुता के द्योतक हैं। प्रायः सर्वत्र कथोपकथनों में मुहावरों की भर मार मिलती है, जिससे एक ओर तो कथन में तीव्रता एवं आकर्षण उत्पन्न होते हैं और दूसरी ओर भावों के समझने में भी सरलता हो जाती है। मुहावरों से ही कभी-कभी हृदय के उपयुक्त भावों का उद्घाटन होता है। हरिऔधजी ने इस प्रकार शब्द की वास्तविक शक्ति को पहचान कर भाषा का प्रयोग किया है और उसमें लोक प्रचलित शब्दों को स्थान दिया है । यही कारण है कि ब्रजभाषा, उर्दू तथा अंग्रेजों के प्रचलित शब्द भी इस महाकाव्य में मिलते हैं।

अलंकारों के लिए हरिऔध जी का सिद्धान्त सदैव यही रहा कि स्वाभाविक गति से जो अलंकार आ सकें उनका ही प्रयोग कविता में करना

चाहिए। उनके दोनों काव्यों में इसी कारण अलंकार स्वाभाविक रूप से ही आये हैं। उनका पहले अनुप्रास आदि शब्दालंकारों की ओर विशेष झुकाव था, परन्तु 'वैदेही वनवास' में आते-आते शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों को ही वे अधिक महत्व देने लगे और इसी कारण इस ग्रंथ में शब्दालंकार अत्यन्त ही कम मिलते हैं अधिकांश समतामूलक अलंकारों का ही हरिऔधजी ने अधिक प्रयोग किया है, जिनमें रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक आदि अधिक मिलते हैं। नवीन अलंकारों का भी प्रयोग "वैदेही बनवास" में मिलता है। आजकल अंगरेजी कविता के आधार पर मानवीकरण, ध्वन्यर्थ व्यंजना तथा विशेषण विपर्यय आदि अलंकारों का प्रयोग हिन्दी की आधुनिक कविता में अधिक दिखाई देता है। हरिऔधजी ने भी उक्त, तीनों अलंकारों का प्रयोग इस महाकाव्य में किया है। नीचे हम इनके कुछ प्रमुख अलंकारों के उदाहरण अपने कथन का समर्थन करने के लिए देते हैं:—

(१) उपमा:—(क) वे कभी स्वयं नग-सम बन।
थे अद्भुत दृश्य दिखाते ॥

(ख) यह सोच रही थीं प्रियतम।
तन सा ही है यह सुन्दर ॥
वैसा ही है दृग-रंजन ॥
वैसा ही है महा-मनोहर ॥

(२) रूपक:— जिससे अशान्ति की ज्वाला।
प्रज्वलित न होने पावे ॥
जिससे सनीति-घनमाला।
घिर शान्ति वारि बरसावे ॥

(३) परम्परित रूपक:— 'पद-पंकज-पोत सहारे।
संसार समुद्र तरूँगी ॥'

(४) सांगरूपकः—

'प्रकृति सुन्दरी विहंस रही थी चन्द्रानन था दमक रहा।
परम दिव्य बन कान्त अंक में तारक-चय था चमक रहा।
पहन श्वेत-साटिका सिता की वह लसिता दिखलाती थी।
ले ले सुधा सुधाकर-कर से वसुधा पर बरसती थी।

(५) उत्प्रेक्षाः—'तोरण पर से सरस-वाद्य ध्वनि जो आती थी।
मानों सुन वह उसे नृत्य रत दिखलाती थी॥

(६) विरोधाभासः—"ऊषा आई किन्तु विहंस पाई नहीं।
राग-मयी हो वनी विराग मयी रही॥"

(७) अतिशयोक्तिः—बन गये हैं परस सब मेरु।
उदधि करते हैं रत्न प्रदान॥
प्रसव करती है वसुधा स्वर्ण।
वन बने हैं नन्दन-उद्यान॥

(८) काव्यलिंगः— अतः यह मेरा है सन्देह।
इस अमूलक जन रव में गुप्त।
हाथ उन सब का भी है क्योंकि।
कब हुई हिंसा-वृत्ति विलुप्त"

(९) व्यतिरेकः— आह! वह सती पुनीता है।
देवियों सी जिसकी छाया॥
तेज जिसकी पावनता का।
वहाँ पावक भी सह पाया॥

(१०) लोकोक्तिः— "किन्तु प्रकृति भी तो है वैचित्र्यों भरी।
मल कीटक मल ही में पाता मोद है।"

(११) समासोक्तिः— "प्रकृति का नीलाम्बर उतरे।
श्वेत-साड़ी उसने पाई॥
हटा घन-घूँघट शरदाभा।
विहंसती महि में थी आई॥"

(१२) मानवीकरणः- क) अवधपुरी आज सज्जिता है।
बनी हुई दिव्य-सुंदरी है ॥
विहँस रही है विकास पाकर।
अटा-अटा में छटा भरी है ।

(ख) "उठी तरंगें रवि कर का चुम्बन थी करतीं।
पाकर मंद-समीर विहरती उमंग उभरतीं ॥"

(१३) विशेषण विपर्ययः-जो पापिनी प्रवृत्ति न लंका-पति की होती।
क्यों बढ़ता भूभार मनुजता कैसे रोती ॥"

(१४) ध्वन्यर्थ व्यंजनाः—"बहुशः सोते बह बह कर।
कल कल रव रहे सुनाते ॥
सर भर कर विपुल सलिल से।
थे सभार बने दिखाते ॥

× × × ×

पी पी रट लगा पपीहा।
था अपनी प्यास बुझाता ॥

उपर्युक्त अर्थालंकारों के अतिरिक्त "लाल-लाल-दल-ललित लालिमा से विलस" तथा "लोक ललकते-लोचन में थे लस रहें, आदि पदों में वृत्यनुप्रास, " कोमल तम किशलय से कान्त नितान्त बन' आदि में छेकानुप्रास, "विधि की विधि ही है भव मध्य-बलीयसी' में यमक आदि शब्दालंकार भी मिलते हैं। अलंकारों के लिये अधिकांश उपमान प्रकृति के लोक प्रचलित पदार्थों से ही चुने हैं। अलंकार.योजना में अधिकांश सादृश्यमूलक पदार्थों को ही लाकर उपस्थित किया गया है और वे पदार्थ अत्यन्त उपयुक्त तथा परम्परागत हैं।

वृत्त-विधान के लिए कवि ने यहाँ आकर संस्कृत के अनुकान्त वर्णिक वृत्त वाले दुर्गम रास्ते को छोड़कर तुकान्त मात्रिक छंद वाले राज-मार्ग को

अपनाया है। सब मिलाकर १० छंदों का प्रयोग किया है, जिनके नाम क्रमशः रोला, दोहा, चतुष्पद, तिलोकी, ताटंक, चौपदे, पादाकुलक, सखी, मत्तसमन, घनाक्षरीपद। ये सभी मात्रिक छंद हैं और इनका प्रयोग अत्यंत सुन्दरता के साथ हरिऔधजी ने किया है। इतना अवश्य है कि कितने ही स्थलों पर इन छंदों में यति-भंग दोष आगया है। नीचे यति-भंग के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

(१) दिनमणि निकले, किरण ने नवल ज्योति जगाई।

(प्रथमसर्ग-छंद ३)

(२) दृश्य बड़ा था रम्य था महा-मंजु दिखाता।

(प्रथमसर्ग-छंद-१३)

(३) उनमें से कुछ धूल में पड़े है दिखलाते।

(सर्ग १–छंद ३७)

(४) होता अवगुण मग्न गुण पयोनिधि लहराता।

(सर्ग १–छंद ५१)

(५) प्रायशः लोक का असन्तोष।

(सर्ग २–छंद-३)

(६) हुआ अज्ञान का तिमिर दूर।

(सर्ग २–छंद-२६)

कहीं-कहीं पर छंद के आग्रह से शब्दों के कुछ अप्रचलित प्रयोग भी होगये हैं जैसे:—

'लंका के सकल-दृश्य दुःस्वप्न।" में 'लंका' का 'लंक' ही रहगया है और इसी तरह—

"बहुत वहाँ के शान्त-वात-आवरण में।" के अन्दर प्रचलित 'वातावरण' शब्द को समासहीन करके 'वात-अवरण' कर दिया है। फिर भी अधिकांश छंदों की रचना अत्यंत सफल एवं सौम्य है।

सारांश यह है कि रचना-कौशल तो हरिऔधजी में पर्याप्त मात्रा में मिलता है, भाषा भी आपकी माधुर्य, ओज एवं प्रसाद गुणों से युक्त है,

मुहावरों और लोकोक्तियों से उसमें धारावाहिकता एवं प्रवाह की तीव्रता भी विद्यमान है, संस्कृत की समासयुक्त पदावली का प्रयोग केवल षोड्स सर्ग के अन्दर आए हुए गीतों में ही मिलता है, शेष सभी सर्ग अत्यंत सरल और लोक-प्रचलित खड़ी बोली में लिखे गये हैं; भाषा के अन्तर्गत भावों एवं रसों के अनुकूल चलने की पूर्ण क्षमता है तथा अलंकार-योजना एवं वृत्ति-विधान भी अत्यन्त सरस और स्वाभाविक है, परन्तु जहाँ-तहाँ यति-भंग हो जाने के कारण कविता की सरसता में व्याघात उत्पन्न हो गया है, कहीं-कहीं च्युत-संस्कृति दोष भी मिलता है अर्थात् व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग होगये हैं; जैसे "पर है नहीं किसी में मिलती जितना वांछनीय है सेवा।" यहाँ पर 'जितना' के स्थान पर होना चाहिए क्योंकि सेवा स्त्रीलिंग है तथा कहीं-कहीं पर लम्बी-लम्बी वक्तृता के रख देने से काव्य में त्वरा का ह्रास हो गया है और उसकी सजीवता जाती रही है। यदि वे ही कथन छोटे छोटे कथोपकथन के रूप में सजाये जाते तो अत्यंत आकर्षक और भव्य दिखाई देते। उदाहरण के लिए एकादश सर्ग में रिपुसूदन का भाषण तथा चतुर्दश सर्ग में विज्ञानवती एवं जानकी जी की वक्तृतायें अत्यंत विस्तृत हो जाने के कारण पाठक के हृदय में अरुचि उत्पन्न कर देती हैं। कथोपकथन छोटे और सरल तथा प्रवाह-युक्त जहाँ भी मिलते हैं, वे अत्यंत मार्मिक एवं चित्ताकर्षक होते हैं। तृतीय सर्ग के मंत्रणाग्रह में यद्यपि भरत, लक्ष्मण तथा रिपुसूदन के कथन कुछ लम्बे हो गये हैं, फिर भी उनमें त्वरा विद्यमान है, और इसी त्वरा या क्षिप्रगति के कारण चित्त को आकर्षित कर लेने में वे समर्थ सिद्ध हुए हैं। विशेषकर लक्ष्मण की उक्तियाँ अधिक मार्मिक हैं। शेष समस्त काव्य पर उपदेशात्मकता एवं इतिवृत्तात्मकता का गहरा-प्रभाव होने के कारण कथा-वस्तु में शिथिलता आ गई है और वह पाठकों के हृदयानुकूल न होकर ऊब उत्पन्न कर देने वाली बन गई है। लोक-हित एवं लोकानुरंजन की भावना तो इतनी गहनता के साथ घर किए हुए बैठी है कि सर्वत्र उसी की चर्चा है, उसी का पाठ पढ़ाया जाता है और उसी के लिए समस्त त्याग, बलिदान एवम् सम्बन्ध-विच्छेद तक दिखाये गये हैं।

उसके सामने दाम्पत्य प्रेम, पारिवारिक संबंध, राज-वैभव तथा व्यक्तिगत सुख-दुख सभी तुच्छ एवं हेय हैं। एकमात्र उसी लोकाराधन का चित्रण होने से युग की एक विशेष प्रवृत्ति को तो अवश्य बल मिला है, परन्तु काव्य का आनन्द जाता रहा है और यही कारण है कि "वैदेही वनवास" कलात्मक सौंदर्य को उपस्थित करता हुआ भी लोक व्यापी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका।

हरिऔध जी का महाकाव्यत्व

(क) वर्ण्य विषय :—उपर्युक्त दोनों महाकाव्यों की विवेचना करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हरिऔध जी ने 'प्रिय प्रवास' तथा 'वैदेही वनवास' दोनों महाकाव्यों में धार्मिक वातावरण का तिरस्कार करके कृष्ण और राम के लोक संग्रही रूपों की प्रतिष्ठा की है। दोनों काव्यों के नायक तथा नायिकायें दिन रात लोकानुरंजन के लिये अनेक कष्ट उठाते हैं। सेवा और परोपकार में संलग्न रहकर प्राणीमात्र को अपने हृदय से भी अधिक प्यार करते हैं दीन, दुखी, रोगी, पीड़ित, अनाथ, आदि की निरंतर देख भाल करते हैं। उनकी सेवा सुश्रूषा करके अपने जीवन को धन्य समझते हैं। तथा विश्व-प्रेम के रंग में रंगे होने के कारण अपने जीवन को 'सर्व भूत-हिताय' समर्पित कर देते हैं। उनके लिये लोकानुरंजन एवम् लोकहित ही भक्ति है प्रेम है, ईश्वर पूजा है। देवार्चना है। और है कल्याण का एक मात्र मार्ग। इसके लिये ही वे माता पिता पत्नी भगिनी सगे सम्बन्धी सभी का परित्याग क्षणभर में कर डालते हैं और तनिक भी विचलित न होकर निरंतर सेवापथ पर बढ़ते रहते हैं। दोनों काव्यों में वियोगावस्था के अन्तर्गत भी इसी लोक सेवा की भावना ने समस्त प्राणीमात्र से अपना संबंध जोड़ने की भावना का उन्मेष किया है। और वियोग जैसी दुःखमयी स्थिति में भी धैर्य एवम् सांत्वना का संचार किया है। किसी भी काव्य में वियोग के अन्तरगत नायिक और नायिका को रोते धोते अधिक नहीं दिखाया गया। वियोग में विचलित होते भी मूलतः लोकहित की भावना ने उनका नियमन किया है।

और वे त्याग और तपस्या से प्रेरणा पाकर वियोग में भी हार्दिक सुख का अनुभव करते हुये चित्रित किये गये हैं। प्रमुख रूप से पौराणिक गाथाओं को ही काव्यों में स्थान मिला है परन्तु उनकी असाधारण एवम् अलौकिक घटनाओं को बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है, इस प्रयत्न में कहीं-कहीं तो सफलता मिली है। परन्तु सभी जगह सफलता दिखाई नहीं देती। कथा के वर्णन में बुद्धिवाद का प्राधान्य है। इसी कारण सभी अलौकिक घटनायें लौकिक एवम् मानव जीवन से संबंध स्थापित करके ही दिखाई गई है काव्यों मे सभी रसों का वर्णन मिलता है, विशेष रूप से विप्रलंभ शृंगार को प्रमुखता दी है और कुछ नये रसों को भी स्थान दिया है जैसे देश सेवा, देश भक्ति तथा देश प्रेम के वर्णन द्वारा देश भक्ति रस का रूप प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त शृंगार के नवीन एवम् अशलीलता रहित चित्र उपस्थित किये हैं और वात्सल्य रस का अत्यन्त सजीवता के साथ चित्रण किया है। दोनों महाकाव्यों के वर्ण्य विषयों मे सबसे बड़ी विशेषता यह है कि दोनों युग की समस्त प्रवृत्तियों को लेकर रचे गये हैं। उनमें धार्मिक राजनैतिक तथा सामाजिक सभी प्रकार के सुधारों की रूप रेखा विद्यमान है। और देश के लिये सच्चे मानव आदर्श को उपस्थित किया गया है। ब्राह्मण समाज आर्य समाज तथा अखिल भारतीय कांग्रेस ने जिन उदात्त भावनाओं का प्रचार स्वतन्त्रता प्राप्ति एवं भारत की उन्नति के लिये किया था। उन सभी बातों का समावेश दोनों की कथा वस्तु में है। साथ ही गांधीवाद, समाजवाद, भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद आदि राजनैतिक सामाजिक एवं दार्शनिक विचारों को भी सफलता के साथ दोनों काव्यों में सुसज्जित किया है। तथा उनके ऊपर अपने विचार भी प्रकट किये है। विशेष आग्रह भारतीय प्राचीन ऋषिप्रणाली की ओर ही दिखाई देता है। प्रकृति एवं नर-सौन्दर्य का तो अत्यन्त भव्य एवं दिव्य रूप दोनों महाकाव्यों मे मिलता है। परन्तु नैतिकता की प्रबलता होने के कारण वहाँ अश्लीलता का किंचित आभास भी नहीं आने दिया है। इस प्रकार दोनों महाकाव्य वर्ण्य विषय की दृष्टि से प्राचीन होते हुये भी नवीनता के द्योतक हैं।

रचना-शैली :—दोनों महाकाव्यों की रचना-शैली में अत्यधिक अन्तर दिखाई देता है। प्रिय प्रवास यदि संस्कृत गर्भित खड़ी बोली में लिखा गया है तो 'वैदेही वनवास' अत्यन्त सरल और लोक प्रचलित भाषा को लेकर रचा है। प्रथम यदि संस्कृत वृत्तों में रचा गया है तो दूसरा मात्रिक छंदों में लिखा गया है। प्रथम यदि अतुकान्त है तो दूसरा तुकान्त है। प्रथम में यदि पुरुष वर्णों की अधिकता है तो दूसरे में कोमल कांत पदावली अधिक है। प्रथम में यदि शब्दों की व्यर्थ भरतीं अधिक की गई है तो दूसरे में कविता अत्यन्त स्वाभाविक है। प्रथम मेंयदि अलंकारों को खोज खोज कर लाने का प्रयत्न किया गया है। तो दूसरे में सरलता एवं स्वाभाविकता के साथ अलंकार आये हैं प्रथम में शब्द योजना के लिये अधिक परिश्रम करना पड़ता है। तो दूसरे में सुगमता के साथ कविता की गई है। प्रथम में यदि प्रकृति चित्रण के अन्तर्गत रीतिकालीन परम्परा की प्रबलता है। तो दूसरे में पूर्णतया आधुनिकता ही मिलती है। प्रथम में प्रकृति के आलम्बन रूप में कम चित्र मिलते हैं। तो दूसरे में प्रकृति की अनेकरूपता विद्यमान है। ऐसी ही अनेक बातों के अन्दर दोनों में पार्थक्य मिलता है। हाँ, रचना कौशल दोनों में एक सा ही है। दोनों दो प्रकार की भाषा को स्पष्ट प्रकट करते हुये हरिऔध जी के भाषाधिकार की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। और दोनों में भाषा की शिथिलता एवं शब्द-भंडार की कोई कमी नहीं दिखाई देती। परन्तु रचना कौशल वैदेही वनवास में अधिक सफल दिखाई देता है। प्रिय प्रवास में जितने वर्णन मिलते हैं उनमें स्निग्धता एवं चित्ताकर्षकता का अभाव है। जब कि वैदेही वनवास में वर्णन कौशल चरम सीमा पर पहुँचा हुआ दिखाई देता है यहाँ आते आते कवि की लेखनी इतनी मँज चुकी है कि उसने क्या मानव सौन्दर्य और क्या प्रकृति सौन्दर्य दोनों की अत्यन्त मंजुल झाँकी उपस्थित की है। प्रकृति के मानव व्यापार सम्पन्न चेतन स्वरूप का जितना भव्य चित्रण वैदेही वनवास में मिलता है उतना प्रियप्रवास में नहीं मिलता। अलंकार योजना भी यहाँ अधिक सफल है। वैसे कवि की रुचि स्वाभाविक चित्रणों की ओर यहाँ अधिक दिखाई देती है। जबकि प्रियप्रवास में कवि का झुकाव

अलंकारों की ओर भी रहा है। अलंकारों के लिये यद्यपि परम्परागत उपमान ही दोनों काव्यों में अधिक अपनाये गये हैं। परन्तु वैदेही वनवास में कवि का झुकाव नये नये उपमानों की ओर भी दिखाई देता है। यहाँ आते आते कवि का परिचय छायावादी कविता से भी हो गया था। अतः छायावादी प्रवृति का भी थोड़ा बहुत समावेश वैदेही वनवास में मिलता है। लगभग प्रकृति चित्रण की प्रणाली तो छायावादी कवियों की सी ही यहाँ भी अपनाई गई जिसके कारण इन चित्रणों में सरसता स्निग्धता तथा मंजुलता प्रियप्रवास की अपेक्षा अधिक आ गई है। यहाँ कवि अभिधा शक्ति की अपेक्षा लक्षणा एवं व्यंजना का भी सहारा लेकर अपने चित्रणों को प्रस्तुत करता हुआ दिखाई देता है। प्रिय प्रवास तो अभिधा प्रधान काव्य है ही परन्तु वैदेही वनवास में कवि की रुचि लाक्षणिक प्रयोगों एवं व्यंग्यात्मक चित्रणों को ओर भी दिखाई देती है।

वृत्तों के झुकाव में भी कवि के अन्दर यहाँ आते आते पर्याप्त अंतर दिखाई देता है। वैदेही वनवास में प्रियप्रवास के समान संस्कृत वृत्त नहीं मिलते, अपितु मात्रिक छंदों के साथ साथ उर्दू फारसी के लोक प्रचलित चोपदों आदि का प्रयोग मिलता है। इन छंदों में मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करते हुये कवि ने अपनी लोकप्रिय साहित्य निर्माण करने की चातुरी दिखाई है। कवि यहाँ आते आते एक "रस सिद्ध कवीश्वर" की भाँति सरल और क्लिष्ट भाषा के अन्दर सभी रसों की सफल रचना करने में सिद्धहस्त दिखाई देता है। और वर्णन कौशल की अनेक रुपता को प्रदर्शित करता हुआ 'महाकवि' के प्रतिष्ठित पद का अधिकारी बन गया है।

सबसे पहले आपने सर्वसाधारण मे प्रचलित समस्त मुहावरों पर कवितायें लिखीं और हिन्दी के तद्भव शब्द प्राचीन रूप को लेकर उसमे फारसी, अरबी, अंग्रेजी तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं के शब्दों का समावेश किया। दूसरे, उर्दू-साहित्य में प्रयुक्त फारसी की बह्रों को हिन्दी की मात्राओं के साँचे मे ढाल कर उन्हे मात्रिक छंदों का रूप दिया और अपने समस्त जनवादी-साहित्य को इन बह्रों मे ही लिखा। मुहावरों के प्रयोग में तो आपने कमाल ही करके दिखा दिया क्योंकि उन्हें जनता की भाषा में ही इतनी सफलता के साथ प्रकट किया कि उर्दू वाले भी दाँत तले उँगली दबा गये तथा इनकी कविता को सुन कर फिर किसी को हिन्दी पर आवाज कसने की हिम्मत न हुई। सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मुहावरों पर रचना करते समय आप देश की दशा पर भी खूब बारीकी के साथ विचार किया और समाज, जाति एवं देश की समस्त बुराइयों को खोल, खोल-कर जनता के सामने रखा, जिससे जनता उनके सुधार के लिए हठात् आगे बढ़ी और सामाजिक एवं व्यक्तिगत् बुराईयों को छोड़ने का संकल्प करने लगी। इस प्रकार जन-साहित्य द्वारा हरिऔधजी ने समाज और देश को हित-कामना करते हुए भाषा में भी इतनी सजीवता उत्पन्न की कि हिन्दी का सर्वत्र मान होने लगा और उसमें सरसता तथा मधुरता का संचार हो गया। हरिऔधजी के इस जनवादी साहित्य के अंतर्गत 'चोखे चौपदे,' 'चुभते चौपदे', तथा 'बोलचाल' नामक तीन ग्रंथ आते हैं।

अब हम उक्त तीनों ग्रंथों में चित्रित हरिऔध जी की विचार धारा को पृथक पृथक देखने का प्रयतन करेंगे और यह देखेंगे कि उनमें जन साहित्य के तवत कहाँ तक विद्यमान तथा वे हरिऔधजी के रचना-कौशल को किस प्रकार और कितनी मात्रा में प्रकट करते हैं। कुछ बातें तो तीनों ग्रंथों में समान रूप से मिलती हैं। जैसे तीनों में फारसी के प्रचलित बह्रों का प्रयोग अधिक किया गया है और कहीं भी उसमे शिथिलता नहीं दिखाई देती। उसका कारण यह है कि आपने उर्दू की बह्र-ध्वनि को हिन्दी के मात्रिक छंदों के रूप में लाकर व्यवहार किया है। कुछ अन्य मात्रिक छंद भी व्यवहृत हुए हैं, परन्तु

अधिक संख्या उर्दू-बह्रों की ही है। इन उर्दू बह्रों में कुछ १७ मात्रा की तथा, कुछ १६ मात्राओं की हैं जो 'फाइलातुन् मफाइलुन् फ़ेलुन्" वाली ध्वनि के आधार पर लिखी गई हैं। दूसरे, तीनों में बोल-चाल में प्रयुक्त होने वाले मुहावरों की अधिकता है तथा हिन्दी की तद्भव-शब्द प्रधान भाषा का प्रयोग किया गया है। तीसरे वर्ण्य-विषय की विविधता के साथ साथ तीनों ही मुक्तक काव्य की कोटि में आते हैं और देश की वर्तमान स्थिति को स्पष्ट रूपमें प्रकट करते हैं।

(क) चोखे चौपदे अथवा हरिऔध हज़ारा

(१) वर्ण्य-विषय:—चोखे चौपदे के अंतर्गत अधिकांश उन रचनाओं को संगृहीत किया गया है जो 'बोल-चाल' में आये हुए बाल से लेकर तलवे तक के मुहावरों से शेष रहीं तथा जिनको पुनरावृत्ति के कारण 'बोलचाल' में स्थान नहीं दिया गया। इस संग्रह के अंदर हृदय में स्फुरित अन्य भावों पर लिखी गई कविताएँ संगृहीत हैं। इस संग्रह की कविताओं पर विचार प्रकट करते हुए इसकी भूमिका में हरिऔधजी ने लिखा है:—"यदि इन कविताओं अथवा पद्यों को मैंने बोलचाल नामक उक्त ग्रंथ में ही रहने दिया होता, तो प्रथम तो ग्रंथ का आकार बड़ा हो जाता, दूसरे आंगिक मुहावरों का सम्बंध इन कविताओं से न होने के कारण ग्रंथ में वे आवश्यक प्रतीत होते। एकही मुहावरों पर दो-दो तीन-तीन कवितायें भी कभी-कभी लिख गई हैं, ग्रंथ की कलेवर वृद्धि के विचार से ऐसी कविताओं में से केवल एक कविता मुख्य ग्रंथ में रखी गई है, शेष इस ग्रंथ में संगृहीत हैं"

उक्त, कथन द्वारा यह स्पष्ट पता चल जाता है कि 'चोखे चौपदे' में विविध विषयों को स्थान दिया गया है। इसके ८ खंड किये गये हैं, जिनके क्रमशः 'गागर में सागर," 'कसर की क्यारी', अनमोल हीरे', काम के कलाम'। 'निराले नगीने' 'कोर कसर', 'जाति के कलंक,' 'तरह तरह की बातें, तथा 'मज़ेदार बातें' नाम दिये हैं। इन समस्त खण्डों में विभिन्न विषयों को स्थान दिया है और मीठी मीठी चुटकियां लेते हुए अपने समाज की बुराइयों को चित्रित किया है। इस संग्रह में कहीं ईश्वर संबंधी विचार हैं,

कहीं मा के दुलार एवं ममता का वर्णन है। कहीं फड़कती भाषा में शिक्षाएँ दी हैं, कहीं इतनी अन्योक्तियाँ लिखी हैं कि शरीर का कोई भाग शेष नहीं रहा और कहीं समाज के निराले लोगों का चित्रण किया है। इतना ही नहीं अंतिम खण्ड में प्रकृति-चित्रण भी अत्यंत सुन्दरता और सजीवता के साथ किया गया है। यह संग्रह विषय की विविधता के साथ-साथ जीवन की अनेक रूपता का चित्रण भी सफलता के साथ प्रस्तुत करता है सारे संग्रह में ४७ कवितायें हैं और उनमें मानव-प्रकृति के अन्तर्वाह्य सभी स्वरूपों की झाँकी उपस्थित की गई है। प्रकृति-चित्रण में केवल वसंतकालीन प्रकृति की ही झलक दिखाई है। अतः प्रकृति-चित्रण की यहाँ विविधता नहीं मिलती, परन्तु मानव-जीवन का तो कोई पहलू ऐसा नहीं छोड़ा जिस पर लेखनी न उठी हो और जिसका उद्घाटन करने में हरिऔधजी ने कमाल न दिखलाया हो। कुछ कवितायें रहस्यवादी प्रवृत्ति की भी परिचायक हैं और उनमें कबीर आदि संत कवियों की भी विचार धारा मिलती है :—

मंदिरों मसजिदों कि गिरजों में।
खोजने हम कहाँ कहाँ जावें॥
आप फैले हुए जहाँ में हैं।
हम कहाँ तक निगाह फैलावें॥
पेड़ का हर एक पत्ता हर घड़ी।
है नहीं न्यारा हरापन पारहा॥
गुन सको गुन लो, सुनो जो सुन सको।
है किसी गुनमान का गुन गा रहा॥

परन्तु सबसे अधिक कवि का ध्यान समाज की प्रचलित बुराईयों को दिखाने से गया है और उसने खोज-खोजकर समस्त बुराईयों को बड़ी सजीवता के साथ चित्रित किया है; जैसे धन पर मरने वालों को कैसी सुन्दर फटकार दी है :—

" है किसी काम का न लाख टका।
रख सके जो न ध्यान चित-पट का॥

क्यों न बन जायेंगे टके के हम।
दिल टका पर अगर रहा अटका ॥

ऐसे ही माँगने वालों के लिए मार्मिक उक्ति देखिए :—

'जान कढ़ जाय, है अगर कढ़ती।
दाँत-कढ़ने कभी नहीं पाये ॥
माँगने के लिए न मुँह फैले।
मर मिटे पर न हाथ फैलाये ॥

साथ ही सामाजिक चरित्र-निर्माण के लिए अत्यन्त सुन्दर उपदेश भी दिए हैं :—

"हैं बहू-बेटियां जहाँ रहती।
है दिखाती कलँक लीक वहीं ॥
क्यों न हो झोंक ही जवानी की।
है कभी ताक, झांक ठीक नहीं ॥

(२) **उक्ति-वैचित्र्य और अर्थ गांभीर्य** :—कविता वही हृदय को स्पर्श करती है, जिसमें मार्मिक उक्तियाँ होती हैं और उन उक्तियों में अर्थ की गहनता रहती है। इन उक्तियों के लिए शास्त्रीय एवं लौकिक दोनों प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता होती है, भाषा पर पूरा अधिकार होना आवश्यक होता है, और लोक-प्रचलित शब्दों एवं मुहावरों के सफल प्रयोग की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। सूर, तुलसी आदि महाकवियों के कथन आज भी जनता के हृदय पर अपना प्रभाव इसी कारण जमा लेते हैं कि इन कवियों की उक्तियाँ सजीव हैं, उनमें लौकिक एवं व्यावहारिक ज्ञान भरा हुआ है, वाणी में विदग्धता है; अर्थ की गहनता और भाषा पर इनका पूरा-पूरा अधिकार है। भावानुकूल भाषा लिखकर ही एक रस-सिद्ध कवि अपने विचारों को जन-जन के हृदय का हार बना देता है। हरिऔधजी ने 'चोखे चौपदे' नामक कविता-संग्रह में इन सभी विशेषताओं को ध्यान में रखकर दार्शनिक एवं व्यावहारिक ज्ञान को अपनी मार्मिक उक्तियों में लाकर रखा है और उक्तियों की मार्मिकता के साथ-साथ उनमें वाग्वैदग्ध्य लाकर

प्रभावोत्पादन की पूरी शक्ति भरदी है। वैसे हरिऔधजी ने इस ग्रंथ में अधिकांश कवितायें मुहावरों को प्रकट करने के लिए ही लिखी हैं और उनके प्रयोग में करामात भी दिखलाई है, परन्तु सरस और मार्मिक उक्तियों की कमी नहीं। तनिक 'वाल' पर लिखी हुई इस अन्योक्ति को देखिए, जिसमें किसी झगड़ालू व्यक्ति के असफल प्रयत्न की ओर कितनी मार्मिकता साथ संकेत किया गया है :—

नुच गये, खिंच उठे, गिरे टूटे।
और झख मार अन्त में सुलझे॥
कंघियों ने उन्हें वहुत झाड़ा।
क्या भिला वाल को मिला उलझे॥

यहाँ पर 'उलझे' शब्द में श्लेष द्वारा उलझ जाना तथा झगड़ा करना दोनों अर्थों का समावेश करके कवि ने कितनी चुटीली उक्ति उपस्थित की है। ऐसी ही एक दूसरी उक्ति 'आंख' पर है, जिसमें अन्योक्ति द्वारा एक घमंडी, व्यर्थ गर्व करने वाले, तथा थोड़े से धन के कारण कुचालों में फंसजाने वाले व्यक्ति पर फब्तियाँ कसी हैं :—

"देख सीधे, सामने हो, फिर न जा।
—मान जा, वेढंग चालें तू न चल॥
सोचले सब दिन किसी की कब चली।
एक तिल पर आँख मत इतना मचल॥"

इसी प्रकार एक सरस उक्ति 'मुख' के ऊपर है जिसमें उसके समस्त अवयवों को तीर, तलवार, फांसी और फंदा वतलाकर दूसरों की वेवसी वढ़ाने वाला वतलाया है :—

"तीर सी आँखें, भवें तलवार सी।
और रखकर पास फाँसी सी हँसी॥
डाल फँदे सी लटों के फंद में।
मुँह वढ़ा दो मत किसी की वेवसी॥"

इस उक्ति में कितनी मार्मिक चोट है, तथा सरसता भी पर्याप्त मात्रा में भरी हुई है, साथ ही रूप-सौंदर्य का भी चित्रण हो गया है। इस प्रकार एक-एक कथन द्वारा तीन-तीन शिकार करने का कार्य हरिऔधजी ने अपने 'चोखे चौपदे' की उक्तियों द्वारा किया है, जिनमें विचित्रता के साथ-साथ अर्थ-गांभीर्य भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है। अर्थ-गांभीर्य के लिये निम्नलिखित उक्ति देखिये :—

"हैं चमकदार गोलियाँ तारे।
औ खिली चाँदनी बिछौना है।
उस बहुत ही बड़े खेलाड़ी के।
हाथ का चन्द्रमा खिलौना है।"

इस पद में तारों की चमकदार गोलियाँ तथा चन्द्रमा को उस ईश्वर के हाथ का खिलौना बतलाया गया है। हाथ को कर भी कहते हैं और कर का दूसरा अर्थ किरण भी होता है। इसके साथ ही "सूर्यो आत्मा हि जगतः" कह कर सूर्य को जगत की आत्मा कहा गया है अर्थात् सूर्य को ईश्वर का रूप भी बतलाया गया है। अब यह जगत प्रसिद्ध बात है कि समस्त नक्षत्र सूर्य से ही प्रकाश ग्रहण करने के कारण उसी के हाथ (किरण) के खिलौने कहलाते हैं जिनमें तारे छोटी-छोटी खेलने की गोली जैसे हैं और चन्द्रमा तनिक बड़ा खिलौना है। कितना अर्थ-गांभीर्य इस पद में भरा हुआ है। इसी तरह नीचे के पद में दिल और फूल की एक रूपता दिखाते हुए उसमें अर्थ-गांभीर्य कितनी उच्चकोटि का मिलता है :—

"प्रभु महँक में हैं उसी के रीझते।
पी उसी का रस रसिक भौंरे जिये॥
चार फल केवल उसी से मिल सके।
तोड़ते दिल-फूल को हैं किसलिए॥"

'भौंरे' से रसिक एवं भ्रमर और 'चारफल' से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा कुछ फल का अर्थ लेकर इनकी प्राप्ति दिल रूपी फूल से बतलाई है और उसके तोड़ने के लिए निषेध किया है। इतना ही नहीं 'महँक', 'रस' तथा 'तोड़ने' में भी अर्थ-गांभीर्य विद्यमान है। इसी प्रकार धनी, पेटुओं कंजूसों, दुराचारियों आदि पर लिखी गई उक्तियों में से अन्य अनेक उदाहरण ऐसे लिए जा सकते हैं, जो उक्ति वैचित्र्य एवं अर्थ-गांभीर्य को प्रकट करते हैं।

(३) **अलंकार-योजना**—'चौखे चौपदे' के प्रत्येक पद में किसी न किसी अलंकार की छटा अवश्य विद्यमान है। कवि 'रस कलस' का निर्माण करके अलंकार-शास्त्र का पर्याप्त ज्ञान पाठकों के सम्मुख पहले ही प्रस्तुत कर चुका था। दूसरे, ब्रजभाषा के अंतर्गत अन्य रचनायें करके अलंकारों के बड़े सुन्दर और स्पष्ट चित्रण किये जा चुके थे। अतः चौपदों में अलंकारों की योजना करने में इन्हें कोई कठिनाई नहीं दिखाई देती। सभी अलंकार बड़ी स्वाभाकिता के साथ उक्तियों में रसात्मकता तथा मार्मिकता बढ़ाते हुए उपस्थित हुए हैं और भावों के उत्कर्ष-साधन में ही समस्त अलंकारों का योग दिखाई देता है। नीचे कुछ प्रमुख अलंकारों के उदाहरण पाठकों की जानकारी के लिए दिये जाते हैं:—

(१) उपमा :—तीर सी आँखें, भवें तलवार सी।
और रखकर पास फाँसी सी हँसी॥
डाल फंदे सी लटों के फंद में।
मुँह बढ़ादो मत किसी की बेबसी॥

(२) उत्प्रेक्षा :—है निराला न आँख के तिल सा।
और उसमें सका सनेह न मिल॥
पा उसे जाल खिल खिल गया तू क्या।
दिल दुखा देख—देख तेरा तिल॥

(३) रूपक :—सूखती चाह-बेलि हरि-आई।
दूधकी मक्खियाँ बनीं माखें॥

रस-बहा चांदनी निकल आई।
खिल गये कौल हँस पड़ी आँखें॥
(४) विरोधाभास:—जो किसी के भी नहीं बाँधे-बँधे।
प्रेम-बंधन से गये वे ही कसे॥
तीन लोकों में नहीं जो बस सके।
प्यार वाली आँख में वे ही बसे॥
(५) दृष्टान्त:—कौन आला नाम रख, आला बना।
है जहां गुन, है निराला पन वहीं॥
नोंक फूली या कली फूली फबी।
आँख की फूली फबी फूली नहीं॥
(६) ललित:—चाँद को छील चाँदनी कोमल।
रंग है लाल, लाल रेजे में॥
कवि कहाकर बदल कमल दल को।
छेद करदे न अलि कलेजे में॥
(७) रूपकातिशयोक्ति:—एक तिल फूल एक दुपहरिया।
दो कमल और दो गुलाब बड़े॥
भूल है फूल मिल गये इतने।
फूल मुँह से किसी अगर न झड़े॥
(८) व्यतिरेक:—क्यों न मुँह को चाँद जैसा ही कहें।
पर भरम तो आज भी छूटा नहीं॥
चाँद टूटा ही किया सब दिन, मगर।
टूट कर भी मुँह कभी टूटा नहीं॥

निर्माण हुआ। कवि ने इसी बात को 'चोखे-चौपदे' की भूमिका में स्पष्ट किया है। इस बात के लिखने का अभिप्राय यह है कि जिस समय इन कविताओं को लिखने के लिए हरिऔधजी की लेखनी काव्य-क्षेत्र में उतरी, उस समय हरिऔधजी पर सरल बोलचाल की मुहावरेदार भाषा लिखने का भूत सवार था। अतः इस काव्य की भाषा भी मुहावरेदार एवं अत्यन्त जन-साधारण की बोली के निकट है। इसमें सजीवता है, सरलता है, मृदुता है और स्वाभाविकता भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। कहीं-कहीं तो इतनी कोमलता भी मिलती है कि भाषा की कोमलता ने भावों में भी कोमलता उत्पन्न करदी है जैसे नोंक-झोंक' कविता के अन्तर्गत निम्नलिखित उलहने के भाव का चित्रण देखिए:—

"आज भी है याद वैसी ही बनी।
है वही रंगत और चाहत है वही॥
तुम तरस खाकर कभी मिलते नहीं।
आँख अबतक को तरसती ही रही॥"

दूसरे भाषा में चित्रोपमता इतनी अधिक विद्यमान है कि कवि ने जिस भाव, पदार्थ पर प्रकृति के अवयव आदि का चित्र प्रस्तुत करना चाहा है, बड़ी संजीदगी के साथ साफ और निखरा हुआ बनाया है। कहीं भी चित्रों में सौन्दर्य विघातक वर्णों का स्वरूप दिखाई नहीं देता, सभी चित्र पूरे और खरे बने हैं और हरिऔधजी की कुशलकारीगरी को पढ़ते ही स्पष्ट बता देते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि सरल और कोमल पदावली में ही सभी प्रकार के चित्र बनाये गये हैं; तनिक बसंत के चित्र को देखिए:—

"आ बसंत बना रहा है और मन।
बौर आमों को अनूठा मिल गया॥
फूल उठते हैं सुने कोयल—कुहू।
फूल खिलते देख कर दिल खिल गया॥
आम बौरे, कूकने कोयल लगी।
ले महँक सुन्दर पवन प्यारी चली॥

परन्तु आपने यह प्रयोग इतनी सफलता के साथ पूर्ण कर दिखाया कि आज भी जन-वादी साहित्य के हिमायती इतनी सरल और सुबोध रचना नहीं कर पाते, और प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रूप में आपका लोहा मानते हैं।

(ख) चुभते चौपदे अथवा देश-दशा ॥

(१) वर्ण्य-विषय:—'चोखे चोपदे' की भाँति 'चुभते चौपदे' में भी वे कवितायें संगृहीत हैं, जो 'बोलचाल' नामक ग्रंथ से शेष रहीं थीं। हरिऔधजी मुहावरों के ऊपर जिन दिनों कवितायें रच रहे थे उन दिनों मुहावरेदार भाषा में उनके कुछ ऐसे भी उद्‌गार निकलते रहते थे जिनको 'बोलचाल' में स्थान नहीं दिया जा सकता था। अतः उन्हीं उद्‌गारों को चोखे चौपदे' तथा 'चुभते चौपदे' नामक ग्रंथों में संकलित करके प्रकाशित कराया। 'बोलचाल' में तलवे से लेकर बालों तक जितने मुहावरे मिल सकते थे, उन सभी को स्थान दिया गया है। शेष बोलचाल सम्बन्धी मुहावरेदार कवितायें उन दोनों संग्रहों में संगृहीत हैं। इस 'चुभते चौपदे' को शीघ्र ही प्रकाशित कराने का कारण उद्‌धृत करते हुए इसकी भूमिका में हरिऔधजी लिखते हैं :—

'हमने 'बोलचाल' में दिल के फफोले फोड़े हैं, वे उसमें चौपदे की सूरत में फूटे हैं। उसमें वे बिखरे हुए हैं, इस पुस्तक में एक जगह जमा किये गये है, उसके छपने में अभी देर है, इधर देर की ताब नहीं। हमें जल्दी इसलिए है कि जितना ही जल्द हिन्दुओं की आँखें खुले, उतना ही अच्छा हमें उनका जी दुखाना, उन्हें कोसना, उन्हें बनाना, उन्हें खिजना उनकी उमंगों को मटियामेट करना पसन्द नहीं, अपने हाथ से अपने पाँव में कुल्हाड़ी कौन मारेगा, आपको उंगलियों से अपनी आँखों को कौन कुचलेगा। मगर अपनी बुराइयों, कमज़ोरियों, भूलचूकों, ऐबों, लापरवाइयों और नासमझियों पर आँख डालनी ही पड़ेगी, बिना इसके निर्वाह नहीं। दवा कड़वी होती है, मगर उसको पीते हैं, फेंक नहीं देते। हमारे चौपदे कुछ कड़वे होवें, मगर वे हित-जल के गडुवे हैं। अगर उनमें वे किसी एक के पढ़ने से भी जाति के कान खड़े हुए और उसकी आँखें खुलीं, हमारे माई के लाल

(२) **उक्तिवैचित्र्य तथा अर्थ गांभीर्य**:—'चुभते चोपदे' शीर्षक ही 'यथा नाम तथा गुण' वाली कहावत को पूर्णतया चरितार्थ करता है। हम वर्णन विषय के अन्तर्गत पहले ही बता आये हैं। कि इस संग्रह में विषय की विविधता है और वर्तमान काल की लगभग सभी मनोवृत्तियों के चित्र विद्यमान हैं। अब यहाँ कुछ मार्मिक चुटीली उक्तियों को देखने की चेष्टा करेंगे जो कितनी उपयुक्त एव यथार्थता से परिपूर्ण हैं। इस संग्रह की सबसे बड़ी विशेषता ही यह है कि इसकी मार्मिक-उक्तियाँ के अत्यन्त सजीव और चित्ताकर्षक हैं, तथा समाज एवं राष्ट्र के हित की रक्षा करती हुई मानव को समुन्नत बनाने में प्रयत्नशील हैं। गंभीरता तथा यथार्थता से व्याप्त रहने क कारण इन उक्तियों में जीवन है, जाग्रति है, आकर्षण है, विदग्धता है, प्रगल्भता है और है, चुटीलापन जो हृदय में प्रविष्ट होकर हलचल उत्पन्न किये बिना नहीं रहता तथा जो कायर को भी वीर और वृद्ध को भी जवान बना देता है। नीचे लिखे हुए पद में कवि ने विलास वासना में लिप्त रहने वाले तथा नर्तकी और वैश्याओं के यहाँ जाकर रसभरी ठुमरी सुनने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझने वाले लोगों को जाति-हित की ओर उन्मुख करने के लिये कैसी सुन्दर उक्ति उपस्थित की है:—

"जाति-हित के बड़े अनूठे पद।
हम बड़ी ही उमंग से गावें॥
अब बहुत ही बुरी ठसक वाली।
ठुमरियों की न ठोकरें खावें॥

नीचे छुआछात की भावना से व्यग्र होकर पैर को शरीर का सबसे अछूत अंग बतलाकर और उसी से पवित्रता का घनिष्ट संबंध जोड़ते हुए कितनी मार्मिक उक्ति 'छुआछूत' की भावना मानने वालों के सामने उपस्थित की है। कि जिसे पढ़कर दंग रह जाना पड़ता है:—

"क्या उसी से कढ़ी न गंगा है॥
बल उसी के न क्या पूजे बावन॥

कितनी करारी और मर्मभेदी उक्ति प्रस्तुत की है कि सुनकर समाज का प्रत्येक व्यक्ति तिलमिलाये विना नहीं रहेगा। और इस आवश्यक रीति को अपनाकर समाजोद्धार के लिये तत्पर हुए विना उसे चैन नहीं आयेगा :—

"गोद में ईसाइयत इसलाम की।
बेटियाँ बहुयें लिटाकर हम लटे ॥
आह! घाटा पर हमें घाटा हुआ।
मान बेवों का घटा कर हम घटे ॥

उक्ति की विचित्रता यह है कि निरंतर किसी वस्तु के घटते रहने पर एक दिन घाटा अवश्य होता है। यही दशा हमारे समाज की भी है। कि विधवाओं के मान को घटाने के कारण हमने अपने मान को भी घटा लिया है। इस प्रकार हरिऔध जी की चुटीली उक्तियों में विचित्रता के साथ साथ अर्थ की गहनता भी सर्वत्र मिलेगी। 'चुभते चौपदे' में कितने ही पद ऐसे हैं जिन को विना उद्धृत किये संतोष नहीं होता परन्तु विस्तार भय से सभी को उद्धृत करना कठिन समझकर केवल कुछ उक्तियाँ और देते हैं जिनमें चुटीलेपन के साथ साथ मुहावरेदानी और अर्थ की गम्भीरता दिखाने में कवि ने कितना कमाल किया है। भारत की दशा बताते हुये कहते हैं कि :—

"जो रहे आसमान पर उड़ते।
आज उनके कतर गये हैं पर ॥
सिर उठाना उन्हें पहाड़ हुआ।
जो उठाते पहाड़ उँगलियों पर ॥
हैं रहे डूब वे गड़हियों में।
बेतरह बार बार खा धोखा ॥
सूखता था समुद्र देख जिन्हें।
था जिन्होंने समुद्र को सोखा ॥"

उपर्युक्त दोनों पदों में परतंत्र भारतवासियों की स्थितियों का चित्रण करते हुये उन्हें मार्मिक उक्तियों द्वारा सचेत करने का कैसा स्तुत्य प्रयत्न

यहाँ पर 'रूपचंद' में कितना अर्थ गांभीर्य एवं उक्ति वैचित्र्य भरा हुआ है। इस की अनेक मार्मिक उक्तियाँ 'चुभते-चौपदे' नामक संग्रह में भरी हुई हैं, जो जनता की चित्रवृत्तियों को सजीवता के साथ प्रस्तुत करती हैं तथा जिनमें आकर्षण और प्रभावोत्पादन की शक्ति पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। ये उक्तियाँ इतनी चुभती हुई हैं कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति इनको सुनकर फड़क उठता है। इनमें हरिऔधजी की कला, पांडित्य, सूक्ष्मनिरीक्षण तथा गहन अध्ययन भरा हुआ है, जो पाठकों को बरबस अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहता। इन सभी मार्मिक एवम् सजीव उक्तियों ने ही हरिऔधजी को सफल जनसाहित्यकार बनाया है तथा ये ही उक्तियाँ इनकी 'कवि-सम्राट्' उपाधि को सार्थक सिद्ध करती हैं।

(३) अलंकार-योजना :—हरिऔधजी ने 'चुँभते-चौपदों' में अधिकांश समतामूलक अलंकारों को अपनाया है, कहीं-कहीं विरोधामूलक अलंकारों का भी प्रयोग मिलता है और कुछ अलंकार विशेषण-विशेष्य वैचित्र्य वाले भी आगये हैं। परन्तु सभी अलंकार या तो वस्तु-चित्रण में सहायक हुए हैं या भावोत्कर्ष के विधायक के रूप में आये हैं। कहीं भी जबर्दस्ती लादने का प्रयत्न नहीं दिखाई देता। सभी अलंकार स्वाभाविक रूप से धारावाहिकता में किसी प्रकार का व्याघात उत्पन्न न करते हुए विद्यमान हैं अलकारों के लिए अधिकांश प्रकृत्ति के उपमान ही प्रयुक्त हुए हैं परन्तु कहीं-कहीं मानव-जीवन के व्यापारों तथा भावनाओं से समता देकर भी काम चलाया है। अलंकारों के प्राचीन तथा अर्वाचीन दोनों रूप 'चुभते-चौपदे' में मिलते हैं। अधिकांश उक्तियाँ व्यंग्य प्रधान होने के कारण वक्रोक्ति एवम् अन्योक्ति का भी आश्रय लिया गया है। नीचे कतिपय प्रमुख अलंकारों के उदाहरण पाठकों की सुविधा के लिए दिये जाते हैं :—

(१) उपमा :—(क) भोर-तारे जो बने थे तेज खो।
आज वे हैं तेज उनका खो रहे ॥
माँद उनकी जोत जगती होगई।
चाँद जैसे जग मगाते जो रहे ॥

(यहाँ पर निषेध का रूप तो है पर आरोप का रूप न होने के कारण विशेषावृति है)[1]

(७) दृष्टान्त :—"मिल गये पर चाहिए फटना नहीं।
तो परस्पर हों निछावर जो दिलें॥
कुछ न फल है दूध काँजी सा मिले।
जो मिलें तो दूध जल जैसा मिलें॥"

(८) मानवीकरण:—देख करतूत की कमर टूटी।
बेहतरी फूट—फूट कर रोई॥

(९) संदेह :—कौन हैं रंग ढंग से लें सोच।
संत हैं या कि संतपन के काल॥

(१०) विरोधाभास:—(क) जी लगा यह पाठ हम पढ़ते रहें।
कट गये हैं काल बढ़ने के लिये॥
बात यह चित्त से कभी उतरे नहीं।
हैं उतरते फूल चढ़ने के लिए॥

(११) वृत्यनुप्रास :—(क) गाह-गाहे निगाह तो रखिये।
(ख) लालसा लाख बार होती है।
हम पलक पर उन्हें ललक ले लें॥

(१२) यमक :—प्यार में पग जो न पग देखे भले।

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों के देखने से पता चलता है कि हरिऔधजी ने कितनी स्वाभाविक रीति से अलंकारों का प्रयोग किया है; कहीं, भी दुरूहता एवं क्लिष्टता नहीं दिखाई देती और भाषा का भी पर्याप्त शृंगार हो गया है। आपकी अलंकार योजना इतनी सजीव एवम् मार्मिक है कि भावों के चित्रण में सर्वत्र उत्कर्ष दिखाई देता है और कवि की रचना-शैली में अलंकारों द्वारा कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता।

(१) देखिये पं० रामदहिन मिश्र कृत काव्यदर्पण पृ० ४७७।

लाख फटकार ऐसे कच्चे को ॥
आप वह बन गया निरा बच्चा ।
दे तिलक आज एक बच्चे को ॥

(२) कोयलों पर हम लगाते हैं मुहर ।
पर मुहर लुट जारही है हर घड़ी ॥
मिट गये पर ऐंठ है अब भी बनी ।
है अजब औंधी हमारी खोपड़ी ॥

(३) हम नहीं हैं फूल जो वे दें मसल ।
हैं न ओले जो हवा लगते गलें ॥
हैं न हलवे जाय जो कोई निगल ।
हैं न चींटी जो हमें तलवे मलें ॥

(४) है मुसीबत बेतरह पीछे पड़ी ।
है नहीं सामान बचते साथ के ॥
हाथ मलमल कर न क्यों पछताँय हम ।
उड़ गये तोते हमारे हाथ के ॥

इस प्रकार 'चुभते चौपदे' नामक संग्रह में कवि ने जाति समाज तथा देश की सभी बुराइयों को भली प्रकार चित्रित करके मानव को उन्नति के लिये अग्रसर किया है। कवि यहाँ यद्यपि उपदेशक के रूप में अधिक उपस्थित है, परन्तु उपदेशक से कहीं उसका सुधारक का रूप अधिक स्पष्ट एवं निखरा हुआ मिलता है। कवि के हृदय में जाति सेवा समाज सेवा और देश सेवा की भावना जो हिलोरें ले रही थी वह उचित अवसर पाकर यहाँ अच्छी तरह फूट निकली हैं और कवि को जन साहित्यकार के रूप में उपस्थित करती हैं। इतना ही नहीं यहाँ कवि के राष्ट्रीय-रूप की झलक भी अच्छी प्रकार मिल जाती है।

(ग) 'बोलचाल'

(१) वर्ण्य विषय:—कवि ने इस तीसरे संग्रह का नाम 'बोलचाल' अर्थात् बाल से लेकर तलवे तक के सब अंगों तथा चेष्टाओं के प्रचलित

बस फिर क्या था, बराबर इसी प्रकार मुहावरों पर कविता रचने लगे। इस मुहावरेदार भाषा के लिखने का अभिप्राय यह था कि हिन्दी में उस समय कोई भी ऐसी पुस्तक न थी। जो मुहावरों का ठीक-ठीक प्रयोग करके लिखी गई हो। सभी जगह मुहावरों की 'छीछालेदर हो रही थी। तथा हिन्दी भाषा मुहावरों से रहित होकर निर्जीव सी दिखाई देती थी। हरिऔध जी ने इसी अभाव की पूर्ति के लिये यह 'बोलचाल' नामक ग्रंथ लिखा। इसमें बोलचाल की भाषा के अन्दर बाल, चोटी, सिर, खोपड़ी, माथा, भौंह, आँख, पलक, आँसू, दीठ और निगाह, तेवर, ताकना, रोना, नाक, कान, गाल, मुँह, दाँत, जीभ, तालू, लब और होंठ, हँसी, बात, साँस, दम, आह, छींक, जँभाई, थूक, बोल और बोली, हिचकी मूछ, दाढ़ी, सूरत, गला, गरदन, कंठ, सुर, गाना, कंधा, बाँह, कलाई, हथेली, उंगली, नाव (नहँ), चुटकी, चुल्लू, पंजा, मूका, मुट्ठी, चपत और तमाचा, ताली, हाथ काँख, छाती, कलेजा, दिल, जी, मन, पेट, आँत, कोख, पसली, पीठ, कमर, जाँघ, घुटना, एड़ी, लात, पाँव और तलवे से सम्बन्ध रखने वाले मुहावरों को १२७४ पदों में अङ्कित किया है। इस मुहावरा' शब्द के उद्‌गम एवं विकास का इतिहास प्रस्तुत करते हुये मुहावरों के स्वरूप एवं उनका भाषाओं से कितना और कैसा सम्बन्ध है इस विषय पर हरिऔध जी ने 'बोलचाल' की भूमिका लगभग ढाईसौ पृष्ठों में लिखी है। यहीं पर उन्होंने बोलचाल की भाषा का अभाव तथा हिन्दी में उसकी कितनी आवश्यकता है। इसके बारे में भी अपना मंतव्य प्रकट किया है। इस प्रकार मुहावरों के बारे में पूरी खोज प्रस्तुत करते हुये उनके सफल और असफल प्रयोगों के स्वरूपों को भी भूमिका में दिखाने की चेष्टा की है सारी पुस्तक मुहावरों पर ही आधारित होने के कारण विषय की ओर कवि का उतना ध्यान नहीं दिखाई देता। जितना कि प्रत्येक मुहावरे के प्रयोग की ओर उसका ध्यान रहा है। कवि ने वैसे देश की स्थिति मानवों की मनोदशा तथा भिन्न-भिन्न चित्त वृत्तियों स्वभावों एवं जाति और समाज की कुरीतियों को ही इस बोलचाल ग्रंथों में मुहावरेदार भाषा के अन्तर्गत उपस्थित किया है। इस ग्रंथ के वर्ण्य विषय पर प्रकाश डालते हुये ग्रंथकार ने स्वयं भूमिका में लिखा है :—

सब सहेंगे पर करेंगे चूँ नहीं ।
बेबसी होगी बहुत हम प फबी ॥
सिर सकेंगे किस तरह हम उठा ।
जो तले हों पाँव के चोटी दबी ॥

इस कथन में एक ओर देश की पराधीनता का चित्र है तथा दूसरी ओर मुहावरे की विलक्षण भावना भी विद्यमान है। इसी तरह 'सिर' को सम्बोधन करके कितनी सफलता के साथ किसी की दुरवस्था का चित्र अंकित किया है, जिसमें उक्ति वैचित्र्य तथा अर्थ-गांभीर्य दोनों विद्यमान हैं:—

"थी कभी चमकी जहाँ पर चाँदनी !
देख पड़ती है घटा काली वहीं ॥
धूल सिर ! तुम पर गिरी तो क्या हुआ ।
धूल चंदन ही सदा चढ़ते नहीं ॥"

इसी प्रकार की दूसरी उक्ति और देखिए, जिसमें अर्थ-गांभीर्य अत्यधिक विद्यमान है। देखा गया है कि बुरे बीज का फल बुरा ही होता है। जब सिर में बुरे-बुरे विचार भरे रहते हैं तो उसमें बाल भी काले-काले बुरे और सूखे अवश्य ही उगेंगे। कवि ने काले, सूखे और कड़े बालों को देखकर कैसी अद्भुत कल्पना की है:—

"देखकर उनका कड़ापन रूप रंग।
बात सिर मैंने कही कितना सही॥
हो बुरे कितने विचारों से भरे ।
बाल बनकर फूट निकले हैं वही॥"

देखा गया है कि हृदय-हीन व्यक्ति को किसी के दुःखदर्द का ख्याल नहीं होता, यहाँ तक कि वह अपने सगे-सम्बन्धियों को भी अपने सुख के लिए फाँसी पर चढ़वा देता है। सिर का मुड़ाना देखकर कवि इसी प्रकार की कैसी अनौखी उक्ति नीचे के पद में उपस्थिति करता है:—

"जब कलेजा ही तुमारे है नहीं ।
तब सकोगे किस तरह तुम प्यार कर ।

प्रस्तुत करती हैं और हृदय में सरसता का संचार करती हुई पाठकों को आनन्द सागर में निमज्जित कर देती हैं।

(३) **अलंकार योजना** :—हरिऔध जी ने इस ग्रंथ में अपनी उक्तियों को एक ओर सरस मुहावरों से सुसज्जित किया है तो दूसरी ओर अलंकारों से अलंकृत करके उनमें भावोत्कर्ष उत्पन्न किया है। कवि की अलंकार-योजना यहाँ पर भी प्रथम दोनों ग्रंथों के ही समान है। यहाँ पर भी अलंकारों की ओर कवि की रुचि विशेष नहीं दिखाई देती। स्वाभाविक ढंग से कविता लिखते समय जितने अलंकार स्वतः आगये हैं। उनसे ही कवि को संतोष रहा है। बुद्धि को खुरच-खुरच कर अलंकारों को लाने का प्रयत्न दिखाई नहीं देता और न कवि ने केवल अलंकारों के लिये ही अपनी रचना की है हाँ मुहावरों का अर्थ प्रकट करने के लिये कुछ सदृश्य मूलक एवं विरोध प्रधान अलंकारों का प्रयोग किया है। कुछ शब्दालंकार भी भाषा को सजाने के लिये प्रयुक्त हुये हैं नीचे उनके उदाहरण दिये जाते हैं :—

(१) वृत्यनुप्रास :—(क) बिख बिखेरें न बाल बिखेरे ए।
(ख) जब बना तब बाल बनवाये बना ॥
(ग) मुँह पिटाये भी पिटा उसका नहीं।
कौन पेटू को पड़ेगी पेट की ॥

(२) यमक :—आम कच्चा है न होता रस भरा।
ओल कच्चा काट खाता है गला ॥
काम का है कान का कच्चा नहीं।
है न घोड़ा पीठ का कच्चा भला ॥

(३) श्लेष :—जब मिले तब मिले बड़े सीधे।
चौगुने नेह चाह को देखो ॥
हैं धुले धूल से भरे भी हैं।
बाल के बाल भाव को देखो ॥

(४) उपमा :—गोखले सा खुले हुये दिल का।
प्रेम में मस्त राम के ऐसा ॥

(१०) रूपकातिशयोक्ति :—छोड़ तन पींजड़ा समय आये।
उड़ एका-एक हंस जावेगा ॥

(११) दृष्टान्त :—कब बुरी सुधरी बिना साँसत सहे।
जब तनी तब चांदनी ताने तनी ॥
ठीक धुनिये के धुने रूई हुई।
चोख तलवों के मले चीनी बनी ॥

(१२) मानवीकरण :—(क) सिर पटक आस पेट भर रोई।
गिर गये पेट पेटवाली का ॥
(ख) लाल सिर पीट-पीट कर रोई।
गिर गये पेट पेटवाली का ॥

(४) भाषा :—'बोलचाल' संग्रह की भाषा पहले दोनों ग्रंथों के ही समान लोक-प्रचलित मुहावरेदार खड़ी बोली है उर्दू, अंग्रेजी, अरबी, फारसी के प्रचलित शब्दों तथा प्रचलित एवं अप्रचलित समस्त मुहावरों से युक्त होकर भाषा ने यहाँ भी जनता की बोली का प्रतिनिधित्व किया है। सबसे बड़ी बात यह है कि मुहावरों में जो शब्द जैसे जनता में प्रचलित हैं उनका वैसा ही प्रयोग इस ग्रंथ में किया है। अन्य हिन्दी के कवियों में प्रायः यह देखा जाता है कि वे मुहावरे के शब्दों को तत्सम बना देते हैं और उनके रूपको विकृत करते हुए मुहावरे के सौंदर्य को नष्ट कर देते हैं; परन्तु हरिऔधजी ने यहाँ एक भी मुहावरे को विकृत नहीं होने दिया है। मुहावरे प्रायः व्यंजना प्रधान होते हैं और थोड़े में बहुत कहने की सामर्थ्य रखते हैं। अतः मुहावरों का बाहुल्य होने से इस ग्रंथ की भाषा में औरों की अपेक्षा व्यंजना का प्राधान्य है तथा मानसिक भावों को अधिक सफलता के साथ चित्रित किया गया है। भाषा की दूसरी विशेषता चित्रोपमता है। भाषा में चित्रमयता होने के कारण भावों के कितने ही सुन्दर चित्र यहाँ अंकित किये गये हैं। ध्वन्यात्मकता तो इसका मूलाधार है। सर्वत्र एक ऐसी व्यंग्य ध्वनि मिलती है जिससे भाषा की सजीवता और मार्मिकता

जनता के अधिक निकट आते हुए देखते हैं। अतः जनवादी साहित्य के निर्माता के रूप के में हरिऔधजी का भी हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। आपने जितनी जिंदादिली के साथ समाज के पेटू पूँजीपति तथा अनाचार और अत्याचार फैलाने वाले निकम्मे और कपटी लोगों को अपनी कविता का लक्ष्य बनाकर पाठकों के सम्मुख रखा है, उतना अन्यत्र किसी कवि की कविता में नहीं दिखाई देता। दूसरे, बोल-चाल की भाषा में मुहावरों का प्रयोग करते हुए रसात्मकता का अंत तक निर्वाह करना आपकी योग्यता, काव्य-कुशलता तथा मौलिकता का परिचायक है। आप वास्तव में 'काव्य-कुँज के एक प्रवीण शिल्पी, सुचतुर मालाकार और सुविज्ञ-गायक" हैं। सब प्रकार की भाषा में रचनायें करके आपने अपने भाषाधिकार से लोगों को चकित बना दिया है तथा अपनी बहुमुखी प्रतिभा से काव्य-जगत में हलचल उत्पन्न करदी है। आपकी इन्हीं विशेषताओं को देखकर श्री-राम-श्रय राय, एम० ए० लिखते हैं:—

"हरिऔध जी अपने काव्यकुंज में एक प्रवीण शिल्पी, सुचतुर मालाकार सुविज्ञ गायक के रूप में प्रकट होते हैं। गिराकी वीणा के तारों पर बड़ी सुगमता से इनकी कोमल उगलियाँ नाचती हैं। इन्हें तनिक भी प्रयास कर—ना नहीं पड़ता। काव्य की सुन्दर आत्मा को इन्होंने आकर्षक वस्त्रों एवं अलंकारों से सुसजित कर रखा है। सब प्रकार की भाषा पर इनका सर्वाधिकार देखकर दाँतों तले उंगली दबानी पड़ती है। × × × भाषा इनकी हाथ की कठपुतली मालूम होती है। वह जो नाच उसे नाचना चाहते है। वह नाच बड़ी नाज़ और अदा के साथ वह नाचती है। × × सरल से सरल और क्लिष्ट से क्लिष्ट भाषा लिखने में ये सिद्धहस्त हैं। देखो लड़के बन्दर आया। एक मदारी उसको लाया। से लेकर 'रूपोद्यान प्रफुल्ल प्रायः कालिका, राकेन्दु, बिम्बानना' सरीखी भाषा लिखना हरिऔध जी का ही काम है।"[1]

(१) हरिऔध जी अभिनन्दन ग्रंथ पृ० ४५४।

६—रीति-ग्रंथकार "हरिऔध"

(१) विषय-प्रवेश:—भारत में रीति-ग्रंथों का निर्माण अत्यन्त प्राचीन काल से मिलता है। रीति-ग्रंथों की विचारपरम्परा पर अपना मत प्रकट करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि इस विचार-धारा को हम सर्वप्रथम 'हाल की सत्तसई' में देखते हैं[1] यह सतसई आभीर-संस्कृति से प्रभावित होकर लग-भग ईसा के प्रथम शतक में लिखी गई थी। इसमें अहीर एवं अहीरिनों की सांसारिक क्रीड़ाओं तथा उनकी शृंगारिक चेष्टाओं का विशद वर्णन है। यह प्राकृत भाषा में लिखी गई थी और इसी से प्रभावित होकर संस्कृति में आर्यासप्तशती का निर्माण हुआ। इन ग्रंथों के उपरान्त जो भी ऐहिकता मूलक साहित्य निर्मित हुआ, उस पर काम शास्त्र तथा भरतमुनि के नाट्य शास्त्र का भी प्रभाव परोक्ष रूप में पड़ा। यह बात तो निर्विवाद सत्य है कि पहले लक्ष्य ग्रंथ बनते हैं तदुपरान्त लक्षण ग्रंथों का निर्माण होता है। संस्कृत में जिन लक्षणों ग्रन्थों को हम आज देखते हैं वे सभी लक्ष्यग्रंथों के उपरान्त ही बने हैं। कुछ विद्वान अग्निपुराण को पहला लक्षण-ग्रंथ मानते हैं और कुछ के विचार से भरतमुनि का नाट्य शास्त्र पहला लक्षण ग्रंथ है। इन दोनों ग्रंथों के उपरान्त रस सम्प्रदाय, रीती-सम्प्रदाय, अलकार-समाद्राय वक्रोक्ति मम्प्रदाय, तथा ध्वनि सम्प्रदाय के नाम से साहित्य-शास्त्रियों के प्रमुख पाँच सम्प्रदाय मिलते हैं और क्रमशः सभी अपनी-अपनी बात को प्रमुखता देने की चेष्टा की हैं। परन्तु रस तथा ध्वनि सम्प्रदाय ने सभी को आत्मसात कर लिया। इन सभी बातों का विवेचन करने के लिए संस्कृत में कितने ही लक्षण ग्रंथ बने, जिनमें से ध्वन्यालोक, काव्य प्रकाश, साहित्यदर्पण, चन्द्रालोक, रस गंगाधर आदि प्रसिद्ध हैं।

हिन्दी के रीति-ग्रंथों का निर्माण लगभग संस्कृत के ऊपर कहे हुए लक्षण-ग्रंथों के आधार पर ही हुआ। इतना अवश्य है कि उसमें विचार-धारा

---

(१) हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० ११२।

उसकी पूर्ति भी इन आचार्यों से नहीं हुई। इस प्रकार रीति-ग्रंथों का निर्माण रीति-काल में कुछ अपूर्ण सा ही रहा।

हरिऔधजी ने सभी रीति-ग्रंथों का अध्ययन किया और उसमें सर्वत्र व्याप्त शृंगार की अश्लील भावना को भी उन्होंने देखा। ये नैतिकता के पुजारी थे। अतः शृंगार की कामुकता पूर्ण वर्णन प्रणाली को देखकर इन का हृदय हिल उठा और इन्होंने अध्ययन करते समय ही यह दृढ़ संकल्प किया कि मैं आधुनिक युग की आवश्यकता को देखकर एक रीति-ग्रंथ का निर्माण अवश्य करूँगा। दूसरे, ब्रजभाषा में कविता करने वाले कवि आज भी वही पुराना राग अलापा करते थे। उनमें युग की परिवर्तित विचार धारा नहीं दिखाई देती थी। अतः इस नूतन विचार धारा को जाग्रत करने की ओर भी आपका ध्यान गया। तीसरे शृंगार रस का ही एक मात्र विस्तृत वर्णन मिलने के कारण आपको यह दुःख हुआ कि रीतिकाल के कवियों ने अन्य रसों के साथ कैसा अन्याय किया है। क्या उक्त रसों का विस्तृत वर्णन हो नहीं हो सकता अथवा उनके विस्तार में क्या कवि जा नहीं सकते? चौथे, इस युग की परिवर्तनकारी प्रवृत्तियों का चित्रण करके एक आधुनिक युग के अनुकूल रीति-ग्रंथ की आवश्यकता का भी आपको अनुभव हुआ जिसमें कि आधुनिक सभ्यता एवं युग की विचार-धारा को स्थान दिया जा सके तथा जिसमें जाति, देश तथा समाज में जाग्रत नयी चेतना से प्रभावित नायक तथा नायिकाओं का वर्णन हो। इस प्रकार इन सभी बातों ने हरिऔधजी को एक रीति ग्रंथ लिखने के लिए बाध्य कर दिया और सन् १९३१ में 'रस कलस' के नाम से आपने यह रीति-ग्रंथ प्रकाशित कराया। उपर्युक्त सभी कारणों की ओर निर्देश करते हुए आपने भूमिका में लिखा है:—

"मैं यह स्वीकार करता हूँ कि प्राचीन प्रणाली का अनुसरण ही आजकल भी अधिकांश वर्तमान ब्रजभाषा के कवि कर रहे हैं, निस्सन्देह यह एक बहुत बड़ी त्रुटि है। समय को देखना चाहिए, और सामायिकता को अपनी कृति में अवश्य स्थान देना चाहिए। देश संकटों की उपेक्षा देश-

से लेकर उसके विकार, रस-विरोध एवं उसका परिहार तथा रसदोष आदि पर सूक्ष्म विवेचन करते हुए नायिका-भेद तथा आधुनिक युग में शृंगार का स्वरूप कैसा होना चाहिए आदि विषयों पर अत्यन्त मार्मिक विचार उपस्थिति किये हैं। अधिकांश बातें तो प्राचीन ग्रंथों के आधार पर ही है ; केवल नायिका-भेद तथा शृंगार-रस सम्बन्धी बातों में हरिऔधजी की पर सामायिक भावनाओं का प्रभाव दिखाई देता है। वे समाज-सुधारक एवं देश के सच्चे राष्ट्रीय प्रेमी थे ; अतः ये ही भावनायें आपके रस-निरूपण में कार्य कर रही हैं ; और यही हरिऔधजी की मौलिकता है।

(२) ग्रंथ में नवीनता:—हरिऔधजी ने 'रसकलस' नामक रीति-ग्रंथ में जिन नवीनताओं की ओर संकेत किया है, उनका उल्लेख भूमिका में पहले ही कर दिया है। प्रथम तो शृंगार-रस की अश्लीलता का निवारण करते हुए आपने उसकी रस-राज उपाधि को सुरक्षित रखने की चेष्टा की है। प्रायः ब्रजभाषा की कविताओं में शृंगार रस अत्यन्त अश्लील एव घृणास्पद वर्णन मिलता है, जिसे देखकर रीतिकालीन काव्य के बारे में बा० श्यामसुन्दर दास लिखते हैं:—

"राजदरबारों में हिन्दी कविताओं को अधिकाधिक आश्रय मिलने के कारण कृष्णभक्ति की कविता को अधः पतित होकर वासनामय उद्गारों में परिणत हो जाने का अधिक अवसर मिला। तत्कालीन नरपतियों की विलास-चेष्टाओं की परितृप्ति और अनुमोदन के लिये कृष्ण एवं गोपियों की ओट में हिन्दी के कवियों ने .लौकिक मर्यादाहीन प्रेम की शत-सहस्र उद्भावनायें की।'[1] इस प्रकार रीतकालीन कविता की भर्त्सना करते हुये आगे चलकर आपने उस काल की कविता को 'गंदी वासनाओं की साधना मात्र' तक कहा है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस काल की कविता के बारे में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। 'शृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अशलील की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रय-दाता राजा महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिये कर्मण्यता और वीरता

(१) हिन्दी साहित्य पृ० २४१।

कौमुदीतरुनि है कुमुद-मन मोहन की ।
　　मोहन तरुनि-लतिका के तरु प्यारे हैं ॥
'हरिऔध' नारि है सरसि मीन प्रीतम की ।
　　प्रीतम मराली-नारि मानसार प्यारे हैं ॥
बाल बनी बालम विलोचना की पूतरी है ।
　　लाल बने ललना के लोयन के तारे हैं ॥"

इसी प्रकार वियोग-शृंगार का भी सुन्दर और अश्लीलता-रहित वर्णन हरिऔध जी ने किया है :—

बावरी सी भई वेदनते कलपैं पलही पल प्रान हमारे ।
भूलि न चैन परें अँसुआन में डूबे रहैं अँखियन में तारे ॥
मेरी घरी है पहार भई जबते 'हरिऔध' विदेश सिधारे ।
बीर हमें न बतावत है कोऊ कैसे बितावत है दिन प्यारे ॥

दूसरे सभी रसों के विस्तार का स्वरूप दिखाया है । जैसे करुणा रस का वर्णन कितने ही रूपों में दिखाया है अर्थात् दिनों का फेर करुणा कथा कारुणिकता मर्म व्यथा, लोचन-विहीनता, विनय, विपत्तिवासर, मनोव्यथा, अकरुणचित्त बेचारे विहंग, अन्तरवेदना, आदि शीर्षकों में कवितायें रच कर करुणारस का स्वरूप प्रस्तुत किया है। अभी तक इतने विस्तार के साथ किसी भी रीति ग्रन्थ में ऐसा वर्णन नहीं मिलता । इसी तरह अद्भुत रस का वर्णन करते हुये उसमें रहस्यवाद की कविता के उदाहरणों द्वारा नवीनता प्रस्तुत की है :—

"छवि के निकेतन अछूते-छिति-छोर मांहि,
　　काकी छवि-पुंजता छगूनी छलकति है ।
बन उपवन की ललामता ललाम ह्वै ह्वै,
　　काकी लखि ललित-लुनाई ललकति है ।
'हरिऔध' काको हेरि पादप हरे हैं होत,
　　कुसुमालि काको अवलोकि पुलकति है ।

विभीषिका, प्रलयकाल, प्रलय प्रकोप तथा नरकवर्णन में भयानक रस के स्वरूप को विस्तार के साथ चित्रित किया है। प्रलयकाल का चित्रण देखिये :—

"धाँय धाँय दहि है धरातल-मसान-सम।
अगणित खानें ज्वाल-माल जाल जनि हैं॥
पावक ते पूरित दिगन्त हूँ दुरन्त ह्वै है।
देव के अधर में वितान बहु तनि हैं॥
'हरिऔध' ओ हैं ऐसो बार जब नाना-लोक।
लोक-पाल-सहित हुतासन मैं सनि हैं॥
सूर ससि जरे जैहैं प्रलय अंगारे माँहि।
सारे तारे तपत-तवा की बूँद बनि हैं॥

वीभत्स और शान्त रस का वर्णन परम्परागत ही है। इस प्रकार रसों के वर्णन में नूतनता का संचार करते हुए उनके विस्तार की ओर ध्यान दिया है और उनके वर्णन द्वारा आधुनिक दशा का भी चित्रण किया है।

तीसरी नवीनता आपने नायिका-भेद के वर्णन में उपस्थित की है। यह नवीनता ही आपके रीति-ग्रंथ की जननी प्रतीत होती है। और इसमें ही आपकी ग्रंथ विषयक विशिष्टता दिखाई देती है। आपने नायिकाओं के भेद तो लगभग परम्परानुसार ही किये हैं परन्तु उत्तम स्वभाव वाली नायिका के जो भेद किये हैं। वे सर्वथा नूतन और आधुनिक युगानुकूल हैं। आपने उत्तमा नायिका के पति-प्रेमिका, परिवार प्रेमिका, जाति प्रेमिका, देश प्रेमिका, जन्मभूमि प्रेमिका, निजतानुरागिनी, लोक-सेविका तथा धर्म प्रेमिका नाम से ८ भेद किये हैं। ये भेद किसी भी रीति ग्रंथ में नहीं मिलते। इनके स्वभाव तथा इनकी चेष्टा एवं कार्य प्रणाली का चित्रण करते हुये कवि ने जो उदाहरण दिये हैं। वे भी अत्यंत सुन्दर हैं तथा नारी आदर्श को उपस्थित करते हैं। अब हम पाठकों की सुविधा के लिये प्रत्येक का एक एक उदाहरण नीचे देते हैं :—

(१) पति-प्रेमिका :—सेवा ही में सास और ससुर की सदैव रहै,
सौतिन सों नाँहि सपने हूँ मैं लरति है।

यह वर्गीकरण हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है तथा आपकी प्रतिभा एवम् कला-विज्ञता का पारिचायक है।

चौथी नवीनता नायक-निर्वाचन दिखाई देती है क्योंकि आपने जिस प्रकार नयी-नयी नायिकाओं की उद्भावना की हैं, उसी प्रकार कुछ नये नायकों का भी निर्माण किया है। इनमें से कर्मवीर, धर्मवीर, महंत, नेता साधू आदि का वर्णन अच्छा सजीव रूप में मिलता है। उदाहरण के लिए नेता का स्वरूप-चित्रण देखिये :—

" नाम से काम बड़ी बड़ी बात बड़े-कपटी तऊ उन्नत चेता।
चौंकत पातन के खटके पग फूँकि धरैं पै बनैं जग-जेता॥
हैं धँसेजात धरातल माँहिं कहावत लोक में ऊरध-रेता।
जोरत प्रीति अनीति न छोरत नीति न जानत नाम है नेता॥"

दूसरा, इसी प्रकार माननीय महंतजी का स्वरूप-चित्रण देखिए :—

कैसे बनें महंत नहिं में महिमावान।
सकल दान चेली करति रखति रखेली मान॥

'रूखे साधु" शीर्षक में साधुओं का भी चित्रण देखिए :—

"जो साधुन को भेसधरि करत असाधुन काम।
ताको जो मिलि हैं न तो काको मिलि हैं राम॥
जो नव-जीवन-दायिनी गांजा-चिलम न होति।
कैसे साधु-जमात में जगति ज्ञान की जोति॥"

पाँचवी नवीनता आपके प्रकृत्ति-चित्रण में मिलती है। उद्दीपन विभाव के अंतर्गत आपने प्रकृति-चित्रण किया है उसमें प्रकृति के स्वतंत्र चित्र भी अंकित किए हैं उन चित्रों में प्रकृति के उद्दीपन रूप के साथ-साथ आलम्बन रूप का चित्रण भी अत्यंत स्निग्ध एवम् आनंदकारी है। उनमें से उपवन, पराग, पुष्प चन्द्र आदि के वर्णन मधुर एवम् सरस हैं। उपवन का वर्णन देखिए।

" कलित पादपावली-लसित ललित-लतान-निकेत।
मंजुल-कुसुमावलि-वलित उपवन है छवि देत॥

दूसरा पराग का वर्णन इस प्रकार है :—

" क्यारिन मैं महमह महँकि लहि अलिगन-अनुराग ।
वन-बागन विहरत रहत सरस प्रसून-पराग ॥"

षट् ऋतु वर्णन में वैसे कोई नवीनता नहीं दिखाई देती, परन्तु कवि ने होली वर्णन में अवश्य कुछ विशेषता दिखाई है। होली में राधा के रुष्ट होजाने पर एक सरस उक्ति देखिए :—

" डारि दीनो रंग तो उमंग कत ऊनो भयो,
बिगरयो कहा जो मुख माँहि मली रोरी है।
कुंकुम चलाये कौन हानि भई अंगन की,
मारि पिचुकारी कौन करी बरजोरी है।
'हरिऔधजी' तेरो होत कहा अपकार है,
जो बार-बार ग्वालिन की बजति थपोरी है।
रूसन को रार के रोस को कहू है काम,
एरी वृखभानु की किसोरी आज होरी है॥

उपर्युक्त कतिपय नवीनताओं के साथ 'रस कलस' की अवतारणा हुई है। 'रस कलस' में सर्वत्र हरिऔधजी को समाज-सुधार एवम् देश-हित की भावना का एक छत्र राज्य है। इसी भावना से प्रेरित होकर आपने शृंगार रस, नायिका भेद तथा उद्दीपन-विभाव आदि की प्रचलित परिपाटी में संशोधन किया है और सामायिक विचार धाराओं को स्थान देते हुए रस का सर्वांगपूर्ण विवेचन किया है। 'रस कलस' की भूमिका में 'वात्सल्य' रस पर हरिऔध जी ने जोर देते हुए लिखा है कि—"ज्ञात होता है कुछ दिनों में शृंगार, हास्य, वीर आदि कतिपय बड़े-बड़े रसों को छोड़कर इस विषय में भी वात्सल्यरस अन्य साधारण रसों से आगे बढ़ जायेगा! यदि इस एक अँग की न्यूनता स्वीकार करलें तो भी अन्य व्यापक लक्षणों पर दृष्टि रखकर मेरा विचार है कि वत्सल की रसता सिद्ध है, और उसको रस मानना चाहिए।" इस कथन से यह स्पष्ट पता चलता है कि हरिऔधजी वात्सल्य रस को स्वीकार करते हैं, परन्तु रस रूप में आपने आगे चलकर इसका

वर्णन नहीं किया। इससे आपका परम्परा-पालन स्पष्ट सिद्ध होता है। अतः नवीनता केवल वर्णन में ही है सिद्धांतों अथवा वर्गीकरणों में कोई मौलिक भेद नहीं दिखाई देता।

(३) नारी-सौंदर्य-चित्रण :—रीतिकालीन समस्त रीति-ग्रंथों में नारी-सौंदर्य के बारे में अभीतक कवियों का ध्यान अधिकाधिक विलास भावना एवं कामुकता की ओर ही रहा है। सौंदर्य-चित्रण करते हुए कवियों को प्रायः कामशास्त्र से परोक्ष रूप में प्रेरणा मिलती रही और उसमें वर्णित समस्त चेष्टाओं एवं हाव-भावों से युक्त नारी के समस्त अंगो का वर्णन कवियों ने किया। द्विवेदीकाल के बारे में हम पहले ही बता चुके हैं कि नारी के प्रति उदारता एवं भव्यता की भावना इस समय जाग्रत हो चुकी थी, नारी को अबला के स्थान पर सबला बनाने का आन्दोलन सर्वत्र छिड़ा हुआ था; वह जाति-उद्धार, समाज-सेवा तथा-राष्ट्र-रहित के लिए त्याग, तपस्या करने में मनुष्य से किसी प्रकार कम नहीं मानी जाती थी और उसकी उन्नति के लिए ऐसी उद्धात्त भावनायें सर्वत्र फैलाई जा रही थीं। साथही नारी-शिक्षा के लिए भी पर्याप्त प्रयत्न हो रहे थे। नारी के इस सुधारवादी दृष्टिकोण ने नारी के सौंदर्य-चित्रण में भी सुधार की भावना जाग्रत की और कवियों का ध्यान उसके अंग-अंग में व्याप्त एक अद्भुत सौंदर्य की ओर गया, जिसमें मादकता के साथ-साथ पौरुष और बल भी था, जिसमें आकर्षण के साथ-साथ उग्रता और प्रचंडता भी थी, जिसमें स्निधता के साथ-साथ कठोरता एवं कर्मठता भी थी और जो केवल विलास-वासना की मूर्ति न होकर लोक-सेवा एवम् लोक-हित का कार्य भी कर सकती थी। रीतिकालीन ग्रंथों में नारी को केवल हावभाव एवं शृंगार चेष्टाओं की प्रति मूर्ति बनाकर ही चित्रित किया गया था, यहाँ आकर उसमें शक्ति, सेवा, उदारता, पर-पीड़न-कातरता, सहृदयता आदि अन्य उदात्त भावनाओं का समावेश हुआ। तो उसके रमणी रूप में सेवा की सुगंधि एवं लोक-हित की सरसता का भी संचार किया गया। वह केवल पुरुष के हाथ की कठपुतली बनकर उससे संयुक्त, होकर-प्रसन्न एवं वियुक्त

होकर रात-दिन आठ-आठ आँसू बहाने वाली न रही, उसमें पौरुष एवं बल का संचार हुआ और वह दूसरे दीन-हीन एवं पीड़ितों की रक्षा तथा सेवा में अपना जीवन-दान करने लगी। सेवा की भावना को इतना अधिक महत्व दिया गया कि परिवार से लेकर राष्ट्र तक की सेवा का भार नारी के ऊपर आगया और वह घर की चहारदीवारी में बन्द रहकर केवल चौके-झौंकने में ही अपना सारा समय नष्ट न करके, देश के पीड़ितों एवम् अपाहिज़ों की सुरक्षा से लेकर राष्ट्र के आंदोलनों में भी भाग लेने और रग-रग में भी भारत-भूमि के प्रति अटूट अनुराग उत्पन्न होगया :—

"नयन में नयन-विमोहन-सुमन-छवि,
मन में बसति मधु-माधव-मधुरिमा।
कवि-कल-कंठता है विलसति कानन में,
आनन में अमित-महानन की महिमा।
हरिऔध, धी में धमकीन में विराजति है,
वसुधा-धवल-कर-कीरति धवलिमा।
अंग-अंग में है अनुराग-राग-अंगना के,
रोम-रोम में है रमी भारत की गरिमा॥"

इतना ही नहीं, अब कवियों का ध्यान उसके केवल उन्मादक एवं कामोद्दीपक रूप की ओर न जाकर उसमें मानवता का संचार करने की शक्ति तथा देश की उन्नति के लिए बलिदान होने की भावना की ओर भी गया। हरिऔधजी ने 'रसकलस' में प्रायः नारी के ऐसे ही आधुनिक रूप को अत्यन्त सफलता के साथ चित्रित किया है। उनके युग तक नारी में जिन गुणों एवं उदात्त भावनाओं का संचार हो चुका था, उसका चित्रण 'रस कलस' में भली प्रकार मिलता है। उनकी लोक-सेविका तथा जन्मभूमि प्रेमिका आदि नायकायें ऐसी ही हैं जो हरिऔधजी के नारी-सौंदर्य की नवीनता को प्रदर्शित करती हैं। परन्तु नारी के अंगों का सौन्दर्य प्रकट करते हुए हरिऔधजी ने भी प्राचीन परम्परा का ही पालन किया है। ऐसा नहीं है कि सर्वत्र नायिकाओं की लोक-सेवा तथा समाज-सेवा की भावना ने

अन्य मनोभावों को दवा दिया हो। कवि ने इतना अवश्य किया है कि अंगों के चित्रण में अश्लीलता नहीं आने दी है। नारी की सुकुमारता का एक कवित्त देखिए, जिसमें प्राचीन परम्परा का पालन होते हुए भी कितनी सात्विकता विद्यमान है:—

'दीठ के परे ते गात-मंजुता मलिन-होति
देखे अंग दल कहिं दल सतदल के।
कोमल कमल सेजहूँ पै ना लहति कल
भारी लगैं वसन अमोल-मलमल के॥
'हरिऔध' हरा पहिराये वपु-कंप होत
पायन मैं गड़हिं विछौने मलमल के।
कुसुम छुए ते रंग हाथन को मैलो होत
छिपत छपाकर छवीली-छवि छलके॥

उक्त वर्णन को पढ़कर विहारी की सुकुमार नायिका का ध्यान आये विना नहीं रहता, क्योंकि विहारी ने भी गुलाव के झाँवे से पैर धोने में नायिका के पैरों में छाले पड़ने का वर्णन किया है। परन्तु वहाँ जैसी अभियोक्ति एवं ऊहायें मिलती हैं, वैसी हरिऔधजी के काव्य में ऊहायें नहीं हैं; कारण, आपने तो सभी वातों का बुद्धि संगत वनाने के लिए स्वाभाविक रूप में चित्रित किया है। फिर भी कुछ वर्णन ऐसे हैं जो स्वाभाविक होते हुए भी हृदय में सौंदर्य की एक अमिट छाप छोड़ जाते हैं। मुग्धा नायिका का वर्णन करते हुए कवि ने नारी सौंदर्य का स्वरूप कैसा सुन्दर रीति से चित्रित किया है:—

"पीन भये उरभाव मनोहर केहरि सी कटि खीन भई है।
वंकता भौंहन माँहिं ठई मुख पै नव-जोति कला उनई है।
जोवन अंग दिप्यो हरिऔध गये गुनहूँ अव आय कई हैं।
केस लगे छहरान छवान छवै कानन लों अँखियान गई हैं।"

इसी प्रकार परकीया नायिका के चित्रण में भी कवि ने परम्परा का पालन करते हुए ही उसकी स्वाभाविक स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया है।

कवि का ध्यान यहाँ उसकी वास्तविकता की ओर ही अधिक गया है और ऊहात्मक चित्रण उपस्थित करके विशेष पाठकों को चमत्कृत करने की चेष्टा नहीं की है:—

खान-पान सुधि भूली गयहु अपान।
टप-टप टपकत अंसुआ दोउ अंखियान॥
बिसरति नाँहि सनेहिया तजत न आन।
जलबिन तलफि मछरिया त्यागत प्रान॥
बढ़ति जाति विकलैया निसि न सिराति।
दिन दिन सजनी दोहिया छीजति जाति॥

इस प्रकार नारी सौन्दर्य के चित्रण में स्वाभाविकता लाते हुए उसे युगानुकूल बनाने की चेष्टा की है। आधुनिक विज्ञान के युग में गुलाबजल की शीशी के ऊँधाने पर भी, छींटों छुई नगात कहना अनर्गल एवं असम्बद्ध माना जाता है। अतः हरिऔधजी ने नारी के आंतरिक एवं बाह्य दोनों रूपों के चित्रण में स्वाभाविकता पर अधिक जोर दिया है और युगानुकूल चित्रण करके उसमें स्वाभाविक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है।

(४) अलंकार-योजना:—हरिऔधजी ने 'रसकलस' में रसों का ही विवेचन सांगोपांग किया है। यहाँ अलंकार आदि अन्य साहित्य के उपकरणों का स्वतंत्र विवेचन नहीं मिलता। यहाँ कवि का उद्देश्य शृंगार रस सम्बन्धी भ्रान्तों धारण का उन्मूल करके वास्तविकता को प्रस्तुत करते हुए नायक-नायिकाओं के स्वरूप की झाँकी दिखाई है अतः साहित्यशास्त्र के अन्य अंगों की विवेचना नहीं मिलती। फिर भी हरिऔधजी ने अलंकारों को बड़ी सतर्कता एवं कुशलता के साथ अपने इस ग्रंथ में स्थान दिया है। आपने अपनी सरस एवं कोमल कान्त ब्रजभाषा की पदावली में अलंकारों की साज सज्जा द्वारा एक ऐसी मादकता उत्पन्न की है कि पाठक एक बार तो आपकी भाव-लहरियों में आनंद-मग्न हो जाता है और चिन्तन भी चमत्कृत होकर कुछ क्षणों के लिए चकाचौंध का सा अनुभव करता है। अलंकारों की इस रचना में कवि ने माधुर्य पूर्ण संगीत की सृष्टि की है, उस संगीत में

सरसता तथा आकर्षण भी पर्याप्त मात्रा में है। आपकी 'रस-कलस' में संगृहीत रचनायें आपके ब्रजभाषा-कवि की प्रौढ़ता एवं परिपक्वावस्था की द्योतक हैं। हरिऔधजी के बारे में हम पहले ही बता चुके हैं कि ब्रजभाषा में ही आपकी पहली रचनायें मिलती हैं। उन सभी रचनाओं का विकसित रूप ही 'रसकलस' है। इस ग्रंथ की अलंकार योजना में कोई नूतनता तो नहीं है परन्तु खड़ी बोली के युग में रीति-काल का सा समाँ बाँधने की अपूर्व क्षमता हरिऔधजी के काव्य-कौशल को भली प्रकार प्रदर्शित करती है। इस समय हरिऔधजी स्वयं खड़ी बोली के परिवर्द्धन एवं संवर्द्धन में लगे हुए थे, परन्तु ब्रजभाषा के प्रति आपकी इतनी रुचि देखकर दाँतों तले उंगली दबानी पड़ती है। कविताओं में सर्वत्र अलंकृत एवं चमत्कृत शैली की छटा विद्यमान है। उदाहरण के लिए नीचे कुछ अलंकारों के उदाहरण देंगे। जिनको देखकर हरिऔधजी की काव्य मर्मज्ञता का पता अच्छी तरह लग सकता है। यहाँ आपका ध्यान शब्दालंकारों की ओर अधिक रहा है, परन्तु अर्थालंकार भी कम नहीं हैं। पहले शब्दालंकारों के ही उदाहरण लेते हैं:—

(१) वृत्यनुप्रास:—

(क) भारत के कोटि-कोटि कीट काटि काटि खै हैं
चींटे चोट कै है चींटी तोको चाटि जावैगी॥

(ख) काने सनमाने दीन जन जानि दीनन को
जाने अनजाने को खजाने खलि देते हैं॥

(ग) लाखत अवार न वराकन उवारन मैं
वार वार वारन कतार वितरत है॥

(घ) दीनता निवारि कै अदीन सब दीनन को
दिन दिन दानिन को दान विलसत है॥

(२) छेकानुप्रास:—

(क) संकट-समूह सिंधु सिंधुर विलोयती है।
वंदनीय सिंधुरता सिंधुर वदन की।

(ख) वरवस विवस करै परै निसि वासर नहिं चैन।
विसराये हुँ विसासिनी तिय वेसर विसरै न॥

कवि का ध्यान यहाँ उसकी वास्तविकता की ओर ही अधिक गया है और ऊहात्मक चित्रण उपस्थित करके विशेष पाठकों को चमत्कृत करने की चेष्टा नहीं की है:—

खान-पान सुधि भूली गयहु अपान।
टप-टप टपकत अंसुआ दोउ अंखियान॥
बिसरति नाँहि सनेहिया तजत न आन।
जलबिन तलफि मछरिया त्यागत प्रान॥
चढ़ति जाति बिकलैया निसि न सिराति।
दिन दिन सजनी दोहिया छीजति जाति॥

इस प्रकार नारी सौन्दर्य के चित्रण में स्वाभाविकता लाते हुए उसे युगानुकूल बनाने की चेष्टा की है। आधुनिक विज्ञान के युग में गुलाबजल की शीशी के औंधाने पर भी, छींटों छुई नगात कहना अनर्गल एवं असम्बद्ध माना जाता है। अतः हरिऔधजी ने नारी के आंतरिक एवं बाह्य दोनों रूपों के चित्रण में स्वाभाविकता पर अधिक जोर दिया है और युगानुकूल चित्रण करके उसमें स्वाभाविक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा की है।

(४) अलंकार-योजना:—हरिऔधजी ने 'रसकलस' में रसों का ही विवेचन सांगोपांग किया है। यहाँ अलंकार आदि अन्य साहित्य के उपकरणों का स्वतंत्र विवेचन नहीं मिलता। यहाँ कवि का उद्देश्य शृंगार रस सम्बन्धी भ्रान्तों धारण का उन्मूल करके वास्तविकता को प्रस्तुत करते हुए नायक-नायिकाओं के स्वरूप की झाँकी दिखाई है अतः साहित्यशास्त्र के अन्य अंगों की विवेचना नहीं मिलती। फिर भी हरिऔधजी ने अलंकारों को बड़ी सतर्कता एवं कुशलता के साथ अपने इस ग्रंथ में स्थान दिया है। आपने अपनी सरस एवं कोमल कान्त ब्रजभाषा की पदावली में अलंकारों की साज सज्जा द्वारा एक ऐसी मादकता उत्पन्न की है कि पाठक एक बार तो आपकी भाव-लहरियों में आनंद-मग्न हो जाता है और चिन्तन भी चमत्कृत होकर कुछ क्षणों के लिए चकाचौंध का सा अनुभव करता है। अलंकारों की इस रचना में कवि ने माधुर्य पूर्ण संगीत की सृष्टि की है, उस संगीत में

सरसता तथा आकर्षण भी पर्याप्त मात्रा में है। आपकी 'रस-कलस' में संगृहीत रचनायें आपके ब्रजभाषा-कवि की प्रौढ़ता एवं परिपक्वावस्था की द्योतक हैं। हरिऔधजी के बारे में हम पहले ही बता चुके हैं कि ब्रजभाषा में ही आपकी पहली रचनायें मिलती हैं। उन सभी रचनाओं का विकसित रूप ही 'रसकलस' है। इस ग्रंथ की अलंकार योजना में कोई नूतनता तो नहीं है परन्तु खड़ी बोली के युग में रीति-काल का सा समाँ बाँधने की अपूर्व क्षमता हरिऔधजी के काव्य-कौशल को भली प्रकार प्रदर्शित करती है। इस समय हरिऔधजी स्वयं खड़ी बोली के परिवर्द्धन एवं संवर्द्धन में लगे हुए थे, परन्तु ब्रजभाषा के प्रति आपकी इतनी रुचि देखकर दाँतों तले उंगली दबानी पड़ती है। कविताओं में सर्वत्र अलंकृत एवं चमत्कृत शैली की छटा विद्यमान है। उदाहरण के लिए नीचे कुछ अलंकारों के उदाहरण देंगे। जिनको देखकर हरिऔधजी की काव्य मर्मज्ञता का पता अच्छी तरह लग सकता है। यहाँ आपका ध्यान शब्दालंकारों की ओर अधिक रहा है, परन्तु अर्थालंकार भी कम नहीं हैं। पहले शब्दालंकारों के ही उदाहरण लेते हैं:—

(१) वृत्यनुप्रासः—

(क) भारत के कोटि-कोटि कीट काटि काटि खै हैं
चींटे चोट कै है चींटी तोको चाटि जावैगी॥

(ख) काने सनमाने दीन जन जानि दीनन को
जाने अनजाने को खजाने खोलि देते हैं॥

(ग) लाव्रत अवार न बराकन उबारन मैं
वार वार बारन कतार वितरत है॥

(घ) दीनता निवारि कै अदीन सब दीनन को
दिन दिन दानिन को दान विलसत है॥

(२) छेकानुप्रासः—

(क) संकट-समूह सिंधु सिंधुर विलोयती है।
वंदनीय सिंधुरता सिंधुर वदन की।

(ख) बरबस विवस करै परै निसि वासर नहिं चैन।
बिसराये हुँ बिसासिनी तिय वेसर बिसरै न॥

(३) यमकः—

(क) चली तमोमय रजनि में तमोमयी बन बाल।

(ख) जीवन को जीवन मैं जीव न रहत है।

(ग) कैसे सुन्दर कुसुम-सर मिलत कुसुम-सर काँहि।

(घ) चैत सुधाकर के कर सौं कढ़ि चारु सुधा बसुधा पै बही है।

(ङ) वेसर मोती कत चलत, वेसरमों की चाल।

(च) वसीकरन की वानि अस, वसी करन में आनि।

(४) श्लेषः—

(क) लोक वेद विपरीत यह, रीति जकत चित जोय।
स्रुत सेवी मुकतन लखे, अतन उदै तन होय॥

(ख) मुकुत मिलें हूँ देखियत फँसी नासिका माहिं।

(ग) तजि ममता निज वरन की, मल परिहरि तन दाहि।

(घ) करि अचरज जो वहु जगी जग-जीवन की प्यास।

अब कुछ अर्थालंकारों अलंकारों की भी छटा देखिए:—

(१) उपमाः—कर पग जलजात सरिस भये हैं मंजु
गति मैं मई है सोभा सरस नदन की।
आनन अमंद चंद सरिस दिपन लाग्यो
जाहि सों जगी है जोति अतन-मदन की।
हरिऔध' यौवन सरद की समैया पाइ
कुंद की कली लौं भई भाँति है रदन की।
चंचलता आँखिन बसी है खंजरीट जैसी
चाँदनी सी फैली चारु-चाँदनी वदन की।

(२) उत्प्रेक्षाः—

कौन कथा मृगमीन की है किन दारिम दाख की बात कही है।
किन्नर नाग नरादि के नारिन की 'हरिऔध' जू कौन सही है।
रूप तिहारो निहारि कै राधि के देव वधू न की देह दही है।
भाजि हिमाचल में गिरजा बसी इंदिरा सागर बीच रही है॥

(३) परंपरित रूपकः-पिय-तनघन तिय मुदित-मयूरनी है
पिय तिय नलिनी मलिंद मतवारे हैं।
कौमुदी तरुनि है कुमुद मन मोहन को।
मोहन तरुनि लतिका के तरु प्यारे हैं।

(४) रूपकः - (क) याकी विभा लहे लसत अनुपम-रस-नभ अंक
है विनोद-वारीस को मंजुल-वदन मयंक।
(ख) है वाके मुख-चंद को चित अनुराग चकोर।
परहित-रुचि चोरत नहीं जाके हित को चोर ॥

(५) अपह्नुतिः—लोयन-कोयन मैं अरी असित पूतरी नाहिं।
कारे-नग ए जगमगत रतनारे-नग माँहि ॥

(६) संदेहः—किधौं कलित-कोयन रही लोयन-लाली राजि ॥
असन-रागरंजित किधौं ऊखा रही विराजि ॥

(७) भ्रान्तिः—तेज है कि तंत्र है कि तारा है कि यंत्र है
कि राधिका-वदन है कि रवि है कि चंद है।

(८) व्यतिरेकः—हरिऔध' वदन बनावत ब्रजेस्वरी को
विधिहूँ को बहुरो बनाइबो बिसरिगो।
तरनि के तन में तनकि लुनाई रही
तारन समेत तारापति फीको परिगो ॥

(९) कैतवापह्नुतिः—
पान काल जब चूकि कै लट-व्यालिन वल खाति।
जलकन मिस सुख-ससि-सुधा बूँद-बूँद खसि जाति ॥

(१०) पदार्थावृत्तिः—
चोर चैन-हर चारुता चोर-रुचिर रुचि अंक।
है चकोर चित-चोर जग-लोचन-चोर मयंक ॥

(११) अतिशयोक्तिः—
विंब वँधूक जपा-दल विद्रुम लाल हूँ लालिमा पै ललचाहीं।
माधुरी की समता को सदाहिं ये ऊख पियूख मयूख सिहाहीं।

का हरिऔध से मानव की कथा देवता दानव हूँ बलि जाहीं।
बीर कहै किन धीर धरा अधरा अवलोकि धरातल माँहीं॥

इसी प्रकार खोजने पर और भी अलंकार मिल सकते हैं; परन्तु कवि का अधिक झुकाव सरस पदावली की ओर ही रहा है। इस कारण कवि ने शब्दालंकारों को अधिक अपनाया है। उपमानों के लिए प्राचीन परिपाटी का पालन ही दिखाई देता है और रूपकों आदि की भरमार नहीं मिलती। प्रकृति-वर्णन के समय अवश्य कवि ने कुछ नवीनता दिखलाई है; परन्तु अधिकांश.अलंकार स्वाभाविक रूप में ही विद्यमान है। कवि चाहता तो बिहारी आदि की भाँति कल्पना की उड़ान द्वारा नये-नये चमत्कार पूर्ण अलंकारों की उपस्थिति कर सकता था परन्तु स्वाभाविकता का आग्रह अधिक प्रबल होने के कारण ऐसा नहीं किया और सभी चित्रणों को अलंकारों के अनावश्यक बोझ से बोझिल नहीं होने दिया।

(५) भाषा-शैली:—कविवर हरिऔध ने 'रसकलस' का वर्णन ब्रजभाषा में किया है। पहले आपने ब्रजभाषा में ही अधिकाँश कवितायें लिखी थीं, परन्तु द्विवेदी युग में सर्वत्र खड़ी बोली के आग्रह के कारण पीछे आप भी खड़ी बोली में रचना करने लगे। फिर भी इस खड़ी बोली के युग में जब आपने देखा कि कवियों का एक ऐसा वर्ग भी विद्यमान है जो ब्रज भाषा को घृणा की दृष्टि से देखता है तथा जिसके हृदय में प्राचीन-परिपाटी के कवियों के प्रति अत्यन्त कुत्सित भावनायें भरी हुई हैं; तो आपने ब्रजभाषा की सरस और मधुर कवितायें रचकर भाषा-मोह को व्यर्थ बतलाते हुए 'रसकलस' का निर्माण किया। आपके हृदय में भाषा का मोह न था। आप यदि क्लिष्टतम संस्कृत वर्णयुक्त 'प्रियप्रवास' की रचना कर सकते थे, तो सरस मधुर लोक-भाषा में मुहावरेदार चौपदों का निर्माण भी कर सकते थे। उसी तरह ब्रजभाषा की सरस पदावली में नव-रस से परिपूर्ण काव्य-'कलश' का निर्माण करके पाठकों को रस की नूतन-धारा में निमज्जित भी करा सकते थे। इसी प्रकार ब्रज तथा खड़ी बोली दोनों भाषाओं पर आपका पूर्ण अधिकार था और आपने एक सिद्धहस्त कवि की भाँति दोनों भाषाओं में सरस रचनायें प्रस्तुत कीं।

'रसकलस' की भाषा पर दृष्टि डालने पर पता चलता है कि वह अधिकतर-अभिधा प्रधान है, उसमें लाक्षणिकता नहीं मिलती परन्तु जहाँ-तहाँ व्यंजना शक्ति का प्रयोग अवश्य मिलता है। वैसे तीनों गुण विद्यमान हैं, किन्तु प्रसाद तथा माधुर्य की ही प्रधानता है। ओज गुण तो केवल वीर-रस के वर्णन में थोड़ी मात्रा में ही मिलता है। प्रसाद गुण सभी जगह मिलता है और माधुर्य तो पद-पद में विद्यमान है। सबसे अधिक ध्यान ललित-पद-योजना की ओर दिया गया है। सरल और समान ध्वनि वाले वर्णों को सर्वत्र सुसज्जित करने में कवि ने अपना अधिक कौशल दिखलाया है और इसी कारण अनुप्रास की प्रधानता हो गई है:—

(१) "सोभा-सने सौंहें-सौंहें ससि लौं सु-आनन के
सरस-उरोज ए सरोज सकुचाने से।
(२) लालन के लोने-लोने लोयन को चोरे लेति
गिरि गोरे-गालन पै गरद गुलाल की।"
(३) परम-प्रचंड मारतंड उगिलैगौ आग
अनल-अखण्ड महि-मण्डल में लागि है।

सभी पद भावों को अभिव्यक्ति में सफल दिखाई देते हैं और अपनी सरसता एवं वर्ण मैत्री के कारण आधुनिक युग में भी भाषा के सुष्ठु एवं प्रांजल रूप को उपस्थित करते हैं। वैसे ब्रजभाषा में प्रौढ़ता एवम् मार्मिकता लाने का श्रेय जगन्नाथदास "रत्नाकर" को है, परन्तु भाषा की सरसता एवम् वर्णन-कुशलता हरिऔधजी में भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। आपका नायिका-वर्णन तथा प्रकृति-चित्रण वर्णन कुशलता का परिचायक है इसके साथ ही भावों को मजुल साँचे में ढालने के लिए आपने कवित्त, सवैया, दोहा तथा बरवै छंदों को अपनाया है। अन्य छंदों में सवैया तथा बरवै अत्यन्त सरस और चित्ताकर्षक हैं। बरवै छंद वैसे कम लिखे हैं, परन्तु जितने भी लिखे हैं उनमें सरसता तथा मनोमोहकता विद्यमान है। प्रवत्स्यत-पतिका नायिका का वर्णन करते हुए कवि ने कितना सुन्दर वर्णन बरवै छंद में प्रस्तुत किया है उसे सर्वथा एक बरवै छंद के लिए ही उपयुक्त है।

'प्रीतम जात विदेसवां निपट अनेस।
सिसकति खरी गुजरिया बगरे केस ॥"

इसी प्रकार उत्कंठिता नायिका का चित्रण भी अत्यन्त सजीवता के साथ बरवै छंद में विद्यमान है:—

"आवति खिन अंगनैया खिन चलि जाति।
उठि उठि गिनति तरैया कटति न रीति ॥

यद्यपि इन बरवै छंदों में जो भाव उपस्थित किये हैं वे कोई नवीन नहीं है। रहीम तुलसी आदि कवियों ने पहले ही अत्यन्त सुन्दरता के साथ ऐसे कितने ही बरवै छंद लिखे हैं जिनमें सरसता, भावप्रवणता तथा मार्मिकता भरी हुई है। वही दशा आपके कवित्त सवैया तथा दोहे आदि की भी है। सभी परम्परागत भावों को प्रगट करते हुए रसाभिव्यक्ति के लिए लिखे गये हैं। आपकी ब्रज भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आपने मधुर, लोक-प्रचलित शब्दों को लेकर ही रस, भावादि का चित्रण किया है। कुछ गरद, गुलाब, गरूर आदि उर्दू फारसी तथा नैकटाई, कॉलर, सूट आदि अंग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग किया है; जो आपकी स्वाभाविक वर्णन शैली का द्योतक है। इस प्रकार 'रसकलस' की भाषा में सरसता, भावानुकूलता, मधुरता तथा ध्वन्यात्मकता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। यहाँ कवि कुशल-चितेरे की भाँति नाना-प्रकार के अनुरंजित चित्र प्रस्तुत करता हुआ ब्रजभाषा की सुमंजु झाँकी उपस्थित करता है।

(६) 'रसकलस का स्थान':—'रस कलस' का निर्माण रसों के नूतन विवेचन के लिए हुआ है। कवि ने स्थायी भाव, अनुभाव, विभाव तथा नायक नायिका-भेद आदि का वर्णन करके अन्त में रस का निरूपण किया है। सारा ग्रंथ रस के अंगों एवं उपांगों का ही विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। परन्तु भूमिका में कवि ने जैसा नूतन एवं मार्मिक विचार-धारा का प्रवाह उपस्थित किया है, वैसा ग्रंथ के अन्दर दिखाई नहीं देता। भूमिका में तो कवि ने रस की समस्त प्रचलित विचार-धारा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अपने स्वतंत्र मत का भी प्रतिपादन किया है। भूमिका

तो वास्तव में आपका अत्यन्त गहन एवं मार्मिक अध्ययन प्रस्तुत करती है। उसमें रसों के उपयोग, सदुपयोग तथा दुरुपयोग आदि पर विचार प्रकट करते हुए आपने अनेक ग्रंथों एवं विद्वानों के मत भी उद्धृत किये हैं जो अपनी गहन अध्ययन शीलता के परिचायक हैं। शृंगार रस की अश्लीलता एवं श्लीलता संबंधी विचार तो अत्यंत मार्मिक एवं काव्योपयोगी हैं। आप लिखते हैं :—"एक वह समय था, जिसने ब्रजभाषा की इस प्रकार की कविताओं को जन्म दिया, आज वह समय उपस्थित है, जब ऐसी कविताओं की कुत्सा की जा रही है, साथ ही ब्रजभाषा को भी बुरा भला कहा जा रहा है, और शृंगार-रस का नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोड़ी जा रही है। किन्तु यह भ्रान्ति है। × × × शृंगार-रस की ही पवित्र प्रेम सम्बन्धिनी इतनी अधिक और अपूर्व कवितायें उस समय हुई हैं, जिनके सामने थोड़ी सी अमर्यादित कवितायें नगण्य और तुच्छ हैं, फिर क्या ब्रजभाषा की कुत्सा करना उचित है?"[1] इतना ही नहीं शृंगार रस के मर्यादित स्वरूप की चर्चा करते हुए उसे रसराज सिद्ध किया है और द्विवेदीकालीन नैतिकता के समय भी शृंगारिक कविताओं का समर्थन करते हुए उनमें शृंगार-रस की मर्यादा स्थापित की है। इस तरह इस भूमिका द्वारा आप एक ओर ब्रजभाषा के प्रति उत्पन्न घृणा की भावना का परिहार करते हैं और दूसरी ओर शृंगार-रस की मर्यादित रचनाओं के लिए भी कवियों को उत्साहित करते हैं। इतना ही नहीं, रसों की विविधता से पाठकों को परिचित कराते हुए आपने वात्सल्य रस का भी समर्थन किया है परन्तु ये सभी बातें बड़ी निपुणता के साथ भूमिका में ही मिलती हैं, ग्रंथ के अन्दर सभी विचारों का पूरा-पूरा समावेश नहीं मिलता।

आपने संस्कृत-साहित्य और उसमें वर्णित नायिका-भेद का विवेचन करते हुए भूमिका में अग्निपुराण, नाट्यशास्त्र तथा साहित्य दर्पण में जो नायिका भेद मिलता है उसका सूक्ष्म-विवेचन प्रस्तुत किया है। साथही अंग्रेजी तथा फारसी साहित्य से उदाहरण देकर नायिकाओं के स्वरूप की

(१) 'रसकलस' की भूमिका पृ०

पुष्टि दूसरे साहित्य से भी की है। इतना ही नहीं नायिका भेद की व्यापकता दिखाते हुए उसे सार्वभौम सिद्ध किया है। आप लिखते हैं:— "नायिका-भेद के मूल में जो सत्य है, वास्तविक बात यह है कि वह सार्व भौव एवं सार्वकालिक हैं। उसके भीतर वे स्वाभाविक मानव भाव सदा मौजूद रहते हैं, जो व्यापक और सर्व देशी हैं, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति विश्व भर में अज्ञात रूप से यथाकाल और यथावसर होती रहती है।"[1] इसी आधार पर आपने कुछ नयी नायिकायों का निर्माण करके उनमें सार्वभौव एवं सार्वदेशी भावनाओं का समावेश किया है। प्रत्येक देश आज राष्ट्र-प्रेम एवं समाज-सेवा की भावना से ओतप्रोत है और सभी जगह विश्व-बंधुत्व की भावना प्रवल रूप में दिखाई देती है। यही कारण है कि अधिकांश नायक एवं नायिकायें इन उक्त भावनाओं से युक्त होकर ही काव्यों में चित्रित की जाती हैं। जब लक्ष्य ग्रंथों में यह भावना विद्यमान है, फिर लक्षणग्रंथों में भी उसका विवेचन होना आवश्यक है। अतः हरिऔधजी ने अपने 'रसकलस' में नवीन नायक एवं नायिकाओं को स्थान देकर अपने ग्रन्थ को समयानुकूल वनाने की चेष्ठा की है। शुक्ल जी के अनुसार भले ही इन नायिकाओं का रूप-चित्रण रसानुकूल न हो, परन्तु विश्वव्यापी भावना का उद्‌घाटन इसमें अवश्य मिलता है। इतना ही नहीं यह वर्गीकरण एवं चित्रण पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। देश में जिन विचारधाराओं ने आज स्थान ग्रहण कर लिया है, उनका स्वरूप एक लक्षणग्रन्थ में वड़ी तत्परता एवं कुशलता के साथ 'रसकलस' में मिलता है।

इस प्रकार रस की नवीन-विवेचना भले ही चित्ताकर्षक न हो, परन्तु वर्णन-प्रणाली अत्यंत सजीव एवं मनोमोहक है। कवि ने अपने हृदय की सरसता का पुट देकर जहाँ-तहाँ व्याप्त नैतिक भावना को भी रसात्मक बना दिया है। वैसे उपदेशात्मक-प्रणाली का प्रधान्य इस रस-कलस में नहीं दिखाई देता है। कवि के हृदय में नैतिकता का प्रभाव क्षीण प्राय सा दिखाई देता। यहां केवल नायिकाओं के चित्रण एवं शृ गार-रस की

(१) रसकलस भूमिका पृ० १२५।

अश्लीलता के निवारण में ही उसकी थोड़ी-बहुत झलक विद्यमान है। अतः अन्य रीति ग्रंथो के रहते हुए भी हरिऔधजी का यह रस-विवेचन अपनी पूर्ववर्णित नवीनताओं के कारण एक उच्चकोटि का माना जाता है। पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने इन्हीं कतिपय विशेषताओं के कारण लिखा है:— "सारांश यह है कि भाषा, भाव कलाकौशल आदि सभी दृष्टियों से उपाध्यायजी का यह ग्रंथ-रत्न वस्तुतः रंग ढंग का अप्रतिम और परम प्रशंसनीय ठहरता है। सम्भव है कि किसी को इसके मयंक-अंक में कहीं कुछ कालिमा भी दिखलाई पड़े, किन्तु वह इसकी कमनीय-कौमुदी-कान्ति के समक्ष निष्पक्ष रुप से देखने पर क्या होगी? कुछ नहीं, केवल दृष्टि भ्रान्ति। हाँ, जलौका-प्रकृत्ति वाले भले ही व्यर्थ के लिए छिद्रान्वेषण कर सकते हैं और नीरस-जन स्वार्थ आदि किसी विशेष कारण से निन्दा तक कर सकते हैं, इसके लिए स्वयम् उपाध्यायजी ही ने कह दिया है—

'हरिऔध' कैसे 'रसकलस' रूचेगो ताहि,
जाको उर, रुचिर रसन तें न सोहेगो।"

उक्त कथन में प्रशंसा ही अधिक है वैसे कवि ने वर्गीकरण आदि में अधिक नवीनतायें उपस्थित नहीं की हैं, परन्तु उदाहरणों में जितनी सरलता और सजीवता उपस्थित की है, उसे देखकर उनके वर्णन-कौशल की प्रशंसा किये बिना कोई रह नहीं सकता। प्रकृति-चित्रण भी आपका अत्यंत मार्मिक है। प्रकति के उद्दीपन रुप के अतिरिक्त रौद्र-रस के अंतर्गत 'पविप्रहार' का जो प्रकृति-वर्णन मिलता है उसमें आलम्बन रूप के साथ-साथ प्रकृति के रूप की झाँकी अत्यंत सजीवता के साथ प्रस्तुत की गई है। यही दशा भयानक-रस का वर्णन करते हुए 'प्रलयकाल' नामक कविताओं में दिखाई देती है। वहाँ भी कवि ने धरातल के 'धाँय धाँय' मसान सम' प्रज्वलित करते हुए सूर्य-चन्द्र आदि की भयंकरता का चित्रण किया है। इस प्रकार प्रकृति के मनोरम एव भयंकर दोनों रुपों को सफलता के साथ चित्रित करने में कवि यहां भी सिद्ध हस्त दिखाई देता है। अतः ब्रजभाषा की कविता में प्रकृत-चित्रण के अभाव की पूर्ति करते हुए कवि ने 'रसकलस'

को भाषा, भाव, सौन्दर्य-चित्रण तथा अन्य आवश्यक उपादानों से सुसज्जित किया। इतना ही नहीं विवेचन की जिस गंभीरता एवं तुलनात्मक प्रणाली का अभाव ग्रंथ के अंदर दिखाई देता है, उसकी पूर्ति कवि ने ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका द्वारा की है। इस प्रकार रस का एक गंभीर अध्ययन प्रस्तुत करते हुए सहृदय पाठकों की सुविधा एवं आधुनिक कविताओं में वर्णित नयी भावनाओं की जानकारी के लिए 'रस कलस' का निर्माण किया है। कवि ने लक्षण एवं उदाहरण दोनों पक्षों का निर्वाह किया है, परन्तु ग्रन्थ में लक्षणों का विवेचन अधिक नहीं मिलता, जबकि उदाहरणों की तो भरमार है। दूसरे, रस के मनोवैज्ञानिक स्वरूप का तनिक भी दिग्दर्शन नहीं कराया गया। कवि सर्वत्र प्राचीन परिपाटी के आधार पर लक्षण लिखकर केवल उदाहरण देने में जुट गया है। कवि ने वैज्ञानिक प्रणाली का अनुसरण करके रस की जानकारी को सर्वजन-सुलभ बनाने का प्रयत्न नहीं किया। हाँ. इतना अवश्य है कि भूमिका में थोड़ा रस-प्रक्रिया को समझाने की चेष्टा की है और करुण-रस में भी कैसे आनंद का ही अनुभव होता है इस बात को सर्वसाधारण के लिये सरल भाषा में समझाया है; परन्तु रस-प्रक्रिया में भी जिन लोल्लट, शंकुक आदि चार आचार्यों के मत दिये हैं, उनका स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। फिर भी ग्रन्थ की अपेक्षा 'रसकलस' की भूमिका अत्यंत उच्चकोटि के पांडित्य को प्रकट करती है और हरिऔध जी की प्रतिभा के अतिरिक्त शास्त्रीय एवं लौकिक ज्ञान तथा विवेचना-शक्ति की परिचायिका है। हरिऔधजी के रस-संबंधी अक्षय ज्ञान की भंडार भूमिका में ही उपस्थित है, यदि वह ज्ञान कहीं ग्रंथ के अंदर रसों का वर्णन करते हुए उपस्थित होता तो आधुनिक युग का यह एक अनूठा रीत-ग्रंथ होता और रस-प्रणाली को समझने में फिर पाठकों को कोई असुविधा न होती। परन्तु खेद है कि भूमिका में जिस पांडित्य को हरिऔधजी ने प्रदर्शित किया है उसका बहुत थोड़ा भाग ही ग्रंथ के अंदर दिखाई देता है, शेष सारा ग्रंथ तो उनकी कवित्व-शक्ति से ही आक्रान्त है। यहाँ केवल उदाहरणों में अपनी कला-कुशलता दिखाने में हरिऔधजी व्यस्त रहे हैं। फिर भी 'रसकलस' आधुनिक युग का एक अनूठा ग्रंथ-रत्न है और रसों के विस्तृत अध्ययन के लिए पठनीय है।

७—उपन्यासकार "हरिऔध"

हिन्दी-साहित्य की समस्त विधाओं में उपन्यास का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उपन्यासों में जीवन की अनेकरूपता के चित्र विशदता के साथ आजकल अंकित होते हैं उतने किसी और विधा में नहीं होते। जीवन के प्रत्येक पहलू का सांगोपाँग वर्णन आधुनिक उपन्यास, साहित्य में ही मिलता है। उपन्यास ही आज हमारे साहित्यिक जीवन का प्रमुख अंग बनगया है। एक साधारण बुद्धि के मानव से लेकर असाधारण प्रतिभावान व्यक्ति तक के हृदय को उपन्यास जितना आह्लादकारी प्रतीत होता है उतना अन्य साहित्य का अंग नहीं। यही कारण है कि आधुनिक युग में प्रवन्ध काव्य का स्थान उपन्यास ने ले लिया है और जीवन की विशद व्याख्या करते हुए उपन्यास आज साहित्य की समस्त विधाओं में सर्वोपरि गिना जाने लगा है। बात भी ठीक है, साहित्य क्षेत्र में जितनी धूम उपन्यासों की देखी जाती है, उतनी साहित्य के किसी और अंग की सुनी भी नहीं जाती। यह दूसरी बात है कि रुचि वैचित्र्य के कारण कुछ लोग कवितायें अधिक पढ़ते हों अथवा कुछ का ध्यान कहानियों में लगता हो, परन्तु उपन्यास का भूत उनके सिर पर भी सवार रहता है और साहित्यकार तथा असाहित्यकार सभी रुचिकर उपन्यासों में तल्लीन देखे जाते हैं।

हिन्दी-साहित्य के इस विस्तृत प्रांगण में मौलिक उपन्यासकार सर्वप्रथम बाबू देवकीनंदन खत्री दिखाई देते हैं। उनके 'चन्द्रकान्ता' तथा 'चन्द्रकान्ता संतति' ने एक ओर कितने ही हिन्दी न जानने वालों को हिन्दी पढ़ने के लिए बाध्य किया, तो दूसरी ओर कितने ही हिन्दी के लेखक भी उत्पन्न किये। इनके उपरान्त उपन्यासों की सबसे अधिक रचना पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने की। देवकीनंदन खत्री ने तो तिलस्मी तथा ऐयारी के उपन्यासों से जनता को चमत्कृत किया था, परन्तु गोस्वामी जी ने इसके अलावा कुछ

सामाजिक उपन्यास भी लिखे जिनमें समाज की विलास वासना के कुछ सजीव चित्र अंकित करके सामाजिक जीवन को भी उपन्यासों का वर्ण्य विषय बनाया। गोस्वामी जी के उपरान्त हिन्दी-साहित्य में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय जी ने अपने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' तथा 'अधखिला फूल' द्वारा हिन्दी-साहित्य के भाषा-संबंधी प्रश्न को हल करने का प्रयत्न किया। इन दोनों उपन्यासों से पूर्व आप 'वेनिस का बाँका' तथा 'रिपवान विकल' नामक दो उपन्यासों का उर्दू भाषा से हिन्दी-रूपान्तर उपस्थित कर चुके थे। इन रूपान्तर का आग्रह स्व० बाबू श्याममनोहर दास डिप्टी इन्सपैक्टर आजमगढ़ ने किया था और उनके आग्रह पर हरिऔधजी ने दोनों उपन्यासों का शुद्ध हिन्दी में रूपान्तर किया। यहाँ आपकी भाषा संस्कृत के तत्सम शब्दों से भरी हुई है, परन्तु उक्त दोनों उपन्यासों—ठेठ हिन्दी का ठाठ तथा अधखिला फूल"—में आकर आप पूर्णतया ठेठ हिन्दी के समर्थक हो गये हैं।

ठेठ हिन्दी लिखने के लिए हरिऔध को खड्गविलास प्रेस के अध्यक्ष स्व० बाबू रामदीनसिंह ने विशेष आग्रह किया था। कारण यह था कि उन दिनों अंग्रेजी साहित्य के विद्वान डा० ग्रियर्सन महोदय की यह बड़ी अभिलाषा थी कि खड्गविलास प्रेस से हिन्दी की ठेठ भाषा में लिखी हुई कोई पुस्तक प्रकाशित हो। इसके लिए आपने महाराज कुमार बाबू रामदीन सिंह से आग्रह किया। ये उन दिनों हिन्दी साहित्य में अधिक रुचि रखते थे और सभी प्रकार की हिन्दी पुस्तकें प्रायः प्रकाशित किया करते थे। डा० ग्रियर्सन की अभिलाषा-पूर्ति करने के लिए आपने हरिऔधजी से आग्रह किया। हरिऔधजी उन दिनों बंगला के उपन्यासों को पढ़ कर अपने हृदय में कई बार यह संकल्प कर चुके थे कि अपने समाज की दशा का यथार्थ रूप बंगला की भाँति हिन्दी के उपन्यासों में भी चित्रित होना चाहिए। संयोग से बाबू रामदीन सिंह के आग्रह पर उनकी भी प्रसुप्त संकल्प-लता को जल मिल गया और उनके विचार उपन्यास के रूप में पल्लवित हो उठे। हरिऔध जी के समय में बंकिम चन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचंद्र रक्षित, चंडीचरण

सेन, शरत् बाबू, चारु चंद्र तथा रवीन्द्रनाथ आदि कितने ही बंगला भाषा के प्रख्यात उपन्यासकार ऐसे थे, जिनकी रचनायें पढ़ने का सौभाग्य आपको प्राप्त हुआ था। इन सभी उपन्यासकारों में बंकिम बाबू तथा शरत् बाबू के उपन्यासों ने हरिऔधजी को अत्याधिक प्रभावित किया। ये दोनों उपन्यासकार सामाजिक जीवन को बड़ी सफलता तथा यथार्थता के साथ अंकित करते थे। इनमें भी बंकिम बाबू ने तो हरिऔधजी के हृदय पर पूरा-पूरा अधिकार कर लिया था। उनके सामाजिक चित्रणों को देखकर ही हरिऔधजी को अपने उपन्यासों की प्रेरणा मिली और आपने ३० मार्च सन् १८६६ ई० को—

"ठेठ हिन्दी का ठाठ"

नामक उपन्यास लिखा। यह उपन्यास सामाजिक है और समाज की एक अत्यंत निकृष्ट रीति को पाठकों के सम्मुख प्रदर्शित करता हुआ तत्कालीन समाज की वास्तविकता का चित्र उपस्थित करता है। कथानक अत्यंत सरल और सुबोध है। देवबाला तथा देवनन्दन दो प्रेमी अपने बाल्यकाल से ही साथ साथ खेलते हुए एक दूसरे पर जीवन-अर्पण करने की अभिलाषा करते हैं। युवा होते ही दोनों की वह अभिलाषा निश्चय में परिणत होती है। परन्तु विधि का विधान इन दोनों के अनुकूल नहीं रहता, देवबाला के पिता देवनन्दन को ब्राह्मण होते हुए भी अपने से निम्न कोटि का जान कर एक दूसरे व्यक्ति रमानाथ के साथ देवबाला का विवाह तय कर देते हैं। देवनन्दन अत्यंत सुन्दर, उदार, भोला तथा अच्छे-अच्छे गुणों से युक्त है, जब कि रमानाथ अत्यंत कुरूप, गंवार और नंगा-लुच्चा है, परन्तु खानदान इसका उन्नत है। देवबाला की माँ ने अपने पति से बहुत अनुरोध किया कि देवबाला का विवाह देवनन्दन के साथ ही हो, अन्यथा रमानाथ के साथ विवाह होकर इसका जीवन अत्यंत दुःखद एवं भयावह हो जायगा, परन्तु पिता ने किसी की भी एक न सुनी और देवबाला का विवाह इच्छा के विपरीत रमानाथ के साथ हो गया। रमानाथ कुछ दिन तो देवबाला के साथ रहा, बाद में वह एक रखेली के साथ कलकत्ता भाग

गया। इधर देवबाला के सास-सुसर, माता-पिता आदि सभी काल-कवलित हो गये, ज़मीन जायदाद तथा गहने आदि भी बिक गये और बिचारी दाने-दाने को मुहताज होगई। दुर्भाग्य से उसकी गोद में एक पुत्र था। वह उसे लेकर कष्टों के अथाह सागर में डूबती-उतराती अपने टूटे-फूटे घर में रहने लगी। विवाह से पूर्व ही देवनन्दन देवबाला को बहिन कह कर अपने प्रेम को अक्षुण्य बनाये रखने की प्रतिज्ञा करली थी, इधर देवबाला से भी उसने अपना सच्चा धर्म का भाई मानकर प्रेम का रूप चिरस्थायी बना लिया था। दैवयोग से विपत्ति के समय ही देवनंदन देवबाला के समीप साधु का वेष धारण करके उपस्थित हुआ, उसकी सारी विपद् कथा सुनकर उसे पूर्ण रूप से सांत्वना दी और उसके पति को भी कुछ दिनों में खोजकर ले आया। लेकिन जिस समय उसका पति रमानाथ उसके पास लौटकर आया उस समय देवबाला मत्यु शैया पर पड़ी थी। पति को देखते ही उसकी आत्मा तृप्त हो गई और उसके प्राण पखेरू इस असार संसार को छोड़ कर उड़ गये।

इस प्रकार कथावस्तु अत्यन्त सरल और स्वाभाविक गति में 'तेरह ठाटों' में बटी हुई है। प्रत्येक ठाट लम्बा न होकर बहुत छोटा है और एक एक घटना को लेकर लिखा गया है। कथा वस्तु में सजीवता तो है क्योंकि समाज की एक परम्परा पालन की प्रवृति तथा मनमानी करने का चिह्न सफलता पूर्वक अंकित किया है। परन्तु उसमें औपन्यासिक कला का अभाव है। कहीं भी कथा में मोड़ दिखाई नहीं देता है। एक साधारण पाठक भी सारी कथा के बारे में दो-चार अध्याय पढ़कर ही जान सकता है। कोई अप्रत्याशित घटना प्रणाली यहाँ नहीं है। कथावस्तु में न विस्तार है, न विविधता है। और न जीवन की अनेक रुपता का चित्र ही इसमें अंकित किया गया है। सर्वत्र अत्यन्त सरलता के साथ कथा का प्रवाह बहता हुआ दृष्टि आता है। कथा की गति में त्वरा है। किन्तु पाठक को रमाने की शक्ति नहीं है। घटनाओं में आकर्षण है। परन्तु वैचित्र्य नहीं है। कथा विकास की केवल तीन स्थिति ही दृष्टि आती हैं। कथा में प्रारंभिक स्वरूप के उपरान्त एक

दम चर्मसीमा तथा चर्मसीमा के उपरान्त एक साथ अन्त ही दिखाई देता है। यदि प्रयत्न एवम् संघर्ष की स्थिति का चित्रण कुछ विस्तृत होता तो यह उपन्यास अपनी प्रारंभिक अवस्था में ही एक श्रेष्ठ उपन्यास ठहरता परन्तु हरिऔध जी का यह प्रथम प्रयास ही था।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इसमें कई विशेषतायें दिखाई देती हैं। लेखक ने सामाजिक जीवन से तीन ऐसे चरित्र छाँटकर यहाँ चित्रित किये हैं, जिनको देखकर तत्कालीन सामाजिक जीवन का भली प्रकार दर्शन हो जाता है। इनमें से पहला तो उस कुचलते हुए सुमन तुल्य देवबाला का चरित्र है, जिसमें साधना तपस्या माता पिता का आदर पति परायणता तथा जननी के समस्त उत्तरदायित्व को पालन करने की भावना विद्यमान है। देवबाला पहले एक सुरभित पुष्प वाटिका में खिले हुए पुष्प की भाँति चित्रित की गई है। जिसकी मादक सुरभि से संतप्त होकर स्वयं देवता स्वरूप देवनंदन उसे अपने मस्तक पर चढ़ाने के लिए उद्विग्न हो उठता है। यहाँ देवबाला में रूप-सौंदर्य के साथ साथ प्रेम की स्निग्धि धारा भी दिखाई देती है। जो उसके हृदयोदधि से उमड़ती हुई उसके वाक्यों द्वारा देव नन्दन के सम्मुख आ उपस्थित होती है :—

"क्या तुम हमारे जी की बात नहीं जानते ? जो नहीं जानते तो हमसे मिलने के लिए यहां कैसे आया करते हो?

दूसरे चित्र में देवबाला एक पवित्र प्रेम की पुनीत सलिला सुरसरी की भाँति हमारे सामने आती है जहाँ उसमें विकार स्वार्थ तथा मोह आदि की काई एवम् सेवार किंचित् मात्रा में भी नहीं दिखाई देती और प्रेम की पवित्र मूर्ति बनकर देव नन्दन से भाई बहिन का सा पवित्र संबंध स्थापित करती है साथ ही अपने पिता को मर्यादा को प्रेम की अबाध-धारा में बहने नहीं देती, अपितु उसकी उचित रक्षा करती हुई अपने प्रेम को भी चिरस्थायी बना लेती है। यहाँ से देवबाला में एक मानवी की अपेक्षा देवी के गुणों का प्रादुर्भाव होता है और अन्त तक देवी रूप में ही चित्रित की गई है। आपने हृदय की आग को इतनी सफलता के साथ नियंत्रण में लाने का श्रेय उसके पवित्र प्रेम

को ही है। देवनन्दन को वह बहुत चाहती थी उसके लिए वह अपना सर्वस्व न्यौछावर कर सकती थी। परन्तु हृदय पर पत्थर रखकर समाज की ऊँच नीच के दो पाटों में पिसती हुई वह फूल सी सुकुमारी अपने प्रेम को बलिदान कर देती है। और हृदय से जिसे प्रेम का देवता मान लिया था। उसे ही फिर अपना भाई बनाकर अन्त तक प्रेम की सच्ची उपासिका बनी रहती है।

तीसरे चित्र में वह सफल पत्नी एवम् सफल जननी के रूप में हमारे सामने आती है। भारतीय नारी के लिए पति ही सर्वस्व है। वही उसकी गति है और वही उसका स्वर्ग है। वही उसका ईश्वर है। और वही उसका जीवन का एक मात्र आधार है। पति परायण नारी का आदर्श जैसा भारत में मिलता है, वैसा अन्यत्र देखने को नहीं आता। पति द्वारा अनेक कष्ट पाकर भी भारतीय नारी अपने पति का परित्याग गर्हित समझती है। उसकी निंदा करना पाप समझती है। और निंदा करने वाले का सर्वनाश करने के लिए भी उतारु हो जाती है। देवबाला को उसके पति रामनाथ ने अनेक कष्ट दिए। यहाँ तक कि उसे असहाय छोड़कर विदेश भी चला गया, परन्तु पति के प्रति घृणा एवम् तिरस्कार की भावना लेशमात्र भी देवबाला के हृदय में दिखाई नहीं देती। वह दिन रात अपने पति की माला जपती हुई उनके दर्शनों के लिए व्याकुल रहती है। परन्तु उसका दुर्भाग्य की मरने के समय ही जैसे-तैसे उसे पति के दर्शन होते हैं। वह इसमें भी अपना सौभाग्य समझती है। और पति के दर्शन करके ही अत्यन्त संतुष्ट होकर प्राणों का परित्याग करती है। यही दशा उसमें जननी रूप में दिखाई देती है। माता के उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से समझ कर वह अपने नन्हे पुत्र का पालन करती है और अन्त तक उस पर कष्टों की मलिन छाया नहीं पड़ने देती।

इस प्रकार देवबाला के जीवन में हम भारतीय नारी का सच्चा आदर्श देखते हैं। वह समाज की मान मर्यादा को समझ कर अपने प्रिय से प्रिय वस्तु का परित्याग करके त्यागमय जीवन का आदर्श उपस्थित करती है।

दुष्ट दुराचारी लम्पट तथा अनपढ़ पति को पाकर भी उसकी निरंतर सेवा करके तथा उसमें अटूट श्रद्धा प्रदर्शित करके आदर्श-पति-परायण नारी की श्रेष्ठता प्राप्त कर लेती है। और पुत्र का अत्यन्त लगन और तत्परता के साथ लालन-पालन करके जननी का आदर्श भी उपस्थित करती है। इस तरह देवबाला में प्रेमिका, पत्नी, बहिन, जननी, समाज सेविका आदि कितने ही रूपों के आदर्श विद्यमान हैं। वह वास्तव में भारत की प्राचीन सभ्यता का मूर्तिमंत रूप है।

दूसरा चरित्र देवनन्दन का है। देवनन्दन एक उत्साही युवक है। उसमें मानवोचित प्रेम, उदारता, शौर्य पराक्रम आदि गुण विद्यमान हैं। वह पहले देवबाला के सफल प्रेमी के रूप में हमारे सामने आता है। उसमें प्रेम की निष्कपटता तथा उज्वलता पर्याप्त मात्रा में है और अन्त तक वह उसका निर्वाह भी करता है। वह एक सच्चा प्रेमी है। उसके प्रेम को भौतिक बाधाएँ रोक नहीं पातीं। हो सकता है, विवाह के उपरान्त प्रेम में सात्विकता न रहती; परन्तु विवाह न होने के कारण उसके हृदय में सात्विक प्रेम का संचार होता है। वह प्राणीमात्र से प्रेम करने लगता है। दुखियों के कष्ट निवारण करने एवम् दीनों की विपन्नावस्था में सहायता करने में ही वह आनन्द का अनुभव करता है। उसका जीवन लोक-सेवा एवम् लोकानुरंजन के निमित्त उत्सर्ग हो चुका है। यह पात्र हरिऔध जी की अपनी उदात्त भावना का प्रतीक है। देवबाला से विवाह न होने पर वह फिर विवाह ही नहीं करता और सन्यासी हो कर प्राणिमात्र के कष्टों को दूर करने के लिए घर द्वार छोड़ देता है और संसार में विचरण करके वह दीन-दुखियों के कष्ट दूर करता रहता है। अन्त में वह साधुवेश का भी परित्याग करके प्रत्यक्ष रूप में देश की बुरी रीतियों को दूर करने में दुखियों को सहारा देने तथा देश की उन्नति के कार्य करने में लीन हो जाता है। उसकी उदारता एवम् त्यागमय जीवन का प्रभाव रमानाथ पर भी पड़ता है। और रमानाथ जैसा लम्पट भी उसके साथ ही देश और समाज की भलाई करने के लिए इधर उधर घूमने लगता है। इस तरह देवनन्दन के रूप में लेखक

ने एक त्याग तपस्या से भरे हुए आदर्श युवक की झाँकी प्रस्तुत की है, जिसकी देश को आवश्यकता थी और जिसका अनुकरण करके तत्कालीन आन्दोलनों में भाग लेने वाले युवक सच्चे देश भक्त त्यागी और तपस्वी बन सकते थे।

तीसरा चरित्र रमानाथ का है, जो अपनी कुटिलता, दुश्चरित्रता तथा अहमन्यता के कारण उपयुक्त दोनों चरित्रों के लिए प्रतिद्वन्द्विता उपस्थिति करता है। वह प्रारम्भ में ही अनपढ़, काला-कलूटा तथा नंगा बतलाया गया है। उसमें सभी बुरी आदतें हैं। वह अपनी स्त्री को धोखा देकर पर-स्त्री गमन भी करता है और अपने ऐशोआराम से सारी सम्पत्ति को स्वाहा करके कलकत्ता भी भाग जाता है। उसमें गुणग्राहकाता नहीं। वह अत्यन्त गुण-सम्पन्न सुन्दरी देवबाला का आदर नहीं करता। वह रसिक और छलिया है। वह अपनी इन्हीं दुष्प्रवृत्तियों के कारण कलकत्ते में भी ठोकरें खाता फिरता है वहाँ वह चोर-डाकू तथा मार-काट करके रुपये झपटने वाला भी बन जाता है। अपनी पत्नी की उसे परवाह नहीं। वह संसार से भागे हुए एक असमर्थ एवम् कायर युवक के रूप में हरिऔधजी ने चित्रित किया है। उसे धोखा देने, कष्ट पहुँचाने, डाका डालने तथा किसी का वध करने में। तनिक भी संकोच नहीं होता। उसकी आत्मा इतनी पतित हो चुकी है कि देवनन्दन के समझाने पर भी वह आपकी पति-परायण सती-साध्वी पत्नी देवबाला को मुंह दिखाने में हिचकता है। उसमें इतनी हिम्मत नहीं कि वह अपनी सामर्थ्य द्वारा अपने परिवार की देखभाल करे। अन्त में उसके अन्दर कुछ परिवर्तन आता है और यह परिवर्तन देवनंदन एवम् देवबाला के सात्विक विचारों से उत्पन्न होता है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप वह भी अन्त में प्राणियों के हित के लिए अपना जीवन-दान कर देता है; परन्तु उसका यह हित-चिंतन अत्यन्त देरी से जाग्रत होता है और देवबाला जैसी स्वर्गीय विभा क्षीण होकर लुप्त हो जाती है। फिर भी अन्त में सुधार दिखाकर लेखक ने उसके चरित्र को भी सुन्दर बनाने की चेष्टा की है; परन्तु उपन्यास के अन्दर यह विरोधी भावनाओं के प्रतीक के रूप में ही चित्रित किया गया है।

इसके अतिरिक्त उन्यास में कोथपकथन अत्यन्त छोटे और सुबोध हे तथा बहुत ही कम मात्रा में मिलते हैं। इन कथोप्कथनों में कोई सौंदर्य नहीं, त्वारा नहीं, गति नहीं, और न कथानक को विकसित करने की क्षमता है। सर्वत्र शिथिल और निर्जीव से दिखाई देते हैं। केवल प्रयोग के लिए ही आगये हैं। लेखक का ध्यान केवल विश्लेपणात्मक प्रणाली की ओर ही अधिक है। उसने चरित्र-चित्रण के लिए अभिनयात्यक प्रणाली का अधिक प्रयोग नहीं किया। इसी कारण न कथोपकथन सजीव हो पाये हैं और न उपन्यास के अन्दर कलात्मकता आई है।

प्रकृति-चित्रण के प्रति लेखक का ध्यान अत्यन्त उत्कटता के साथ आकर्षित हुआ। प्रकृति के लिए हरिऔधजी के हृदय में बड़ा मोह था। प्रियप्रवास में जो प्रकृति-चित्रण मिलता है उसकी पृष्ठ भूमि इन दोनों उपन्यास में विद्यमान है उदाहरण के लिए 'ठेठ हिन्दी का ठाट' उपन्यास से हम प्रकृति-चित्रण की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं, जिनमें प्रकृति के सौम्य एवम् भव्य रूप के साथ-साथ कितनी विविधता वास्तविकता एवं सूक्ष्म निरीक्षणता विद्यमान है:—

"देवबाला पोखरे की छटा देखने लगी। उसने देखा उसमें बहुत ही सुथरा नीले कांच ऐसा जल भरा है, धीमी बयार लगने से छोटी छोटी लहरें उठती हैं, फूले हुए कौंल अपने हरे-हरे पत्तों में धीरे-धीरे हिलते हैं। नीले आकाश और आसपास के हरे फूले फले पेड़ों की परछाईं पड़ने से वह और सुहावना और अनूठा हो रहा है। सूरज की किरणें उस पर पड़ती हैं; चमकती हैं, उसके जल के नीले रंग को उजला बनाती हैं और टुकड़े २ हो जाती हैं। आकाश का चमकता हुआ सूरज उसमें उतरा है, हिलता है, डोलता है थरथर काँपता है और फिर पूरी चमक-दमक के साथ चमकने लगता है। मछलियाँ ऊपर आती हैं, डूब जाती हैं, नीचे चली जाती हैं फिर उतराती हैं, खेलती हैं, उछलती हैं, कूदती हैं। चिड़ियाँ ताक लगाये घूमती हैं, पंख चटोर कर अचानक आ पड़ती है, डूब जाती हैं, दो एक को पकड़ती हैं और फिर उड़ जाती हैं।"

इस वर्णन में कितनी विविधता भरी हुई है मानो कवि किसी सरोवर पर बैठा हुआ उसके चित्र को अंकित कर रहा है और उसकी प्रत्येक बात को अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ देखता हुआ अपने वर्णन में यथार्थता उपस्थित कर रहा है। ऐसे ही कुछ रात्रि, भादों तथा सावन के चित्रण भी मिलते हैं। इस तरह लेखक ने अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही प्रकृति के प्रति अटूट अनुराग की झाँकी इस उपन्यास में उपस्थित की है।

देशकाल का चित्रण भी कोई विरोधी नहीं दिखाई देता। सर्वत्र देश काल का उचित समर्थन करते हुए तत्कालीन समाज एवं देश की वास्तविकता को अंकित किया है। गंगा के घाट एवं ग्रामीण जीवन के जो चित्र लेखक ने प्रस्तुत किये हैं उनमें कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं दिखाई देती। पूर्व के गाँवों में प्रायः आम, जामुन, महुआ और कटहल के पेड़ ताल के किनारे होते हैं और ताल के समीप ही देवी का थान होता है। साथ ही जिस पेड़ के नीचे देवी का थान होता है उसकी सबसे ऊँची टहनी पर झंडी लगाई जाती हैं, जो देवी के मन्दिर की सूचना दूर से ही दे देती हैं। इसी तरह कलकत्ते में मारवाड़ियों का रहना एवम् धनाढ्य होने के कारण उनको मारना-पीटना प्रायः आजकल भी चलता है।

रचना-शैली में उपन्यास-कला का तो अभाव है। परन्तु भाषा ठेठ हिन्दी प्रयुक्त हुई है भाषा के बारे में अंत में विचार करेंगे। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि लेखक ने तद्भव शब्द प्रधान, सरल एवं सुबोध बोल-चाल की भाषा में यह उपन्यास लिखा है। डा० ग्रियर्सन के कारण ही हरिऔधजी ने ठेठ हिन्दी लिखने का प्रयत्न किया और उसमें वे पूर्ण सफल भी रहे। हरिऔधजी की लेखनी में यह तो कमाल था कि वे सरल से सरल तथा क्लिष्ट से क्लिष्ट हिन्दी सुगमता के साथ लिख सकते थे। सारांश यह है कि यह उपन्यास केवल भाषा की दृष्टि से ही लिखा गया है और भाषा का सफल प्रयोग करके लेखक ने अपना नाम अमर कर लिया है। डा० ग्रियर्सन इस उपयान्स को पढ़कर इतने प्रसन्न हुए थे कि इसे इंडियन सिविल-सर्विस की परीक्षा के लिए पाठ्यक्रम में रख दिया गया और एक दूसरा ऐसा ही

विस्तृत उपन्यास लिखने के लिए हरिऔधजी से आग्रह किया। हरिऔधजी ने डा० ग्रियर्सन की उत्कट अभिलाषा देखकर इससे कुछ विस्तृत और ऐसी ही ठेठ हिन्दी में—

"अधखिला-फूल"

नामक दूसरा उपन्यास लिखा। यह उपन्यास भी (सामाजिक है, परन्तु इसमें कथा का प्रवाह सरल और सुबोध न होकर कुछ वक्र भी है और जासूसी उपन्यासों की सी घटनायें भी दिखाई गई हैं। कथा वस्तु तो छोटी ही है। देवनगर में हरमोहन पांडे नामक एक अत्यन्त आलसी एवं भाग्य-वादी पुरुष रहते थे। अपने आलस्य एवं नौकर-चाकरों पर अधिक विश्वास रखने के कारण कुछ ही वर्षों में लाखों की सम्पत्ति गँवाकर वे बंसनगर में आकर रहने लगे। उनकी पत्नी का नाम पारवती था और उनके एक पुत्र तथा एक पुत्री थी। पुत्री का नाम देवहूती तथा पुत्र का नाम देवकिसोर था। देवहूती ही इस उपन्यास की नायिका है। देवहूती का विवाह बाल्या-वस्था में ही हो गया था। परन्तु विवाह के उपरान्त जैसे ही वह अपने घर आई, तो घर पर अधिक बीमार पड़ गई। साथ ही यह भी सुना गया क वह चल बसी। इस सूचना को पाते ही उसके पति देवस्वरूप वैराग्य धारण करके लोक-सेवा एवं समाजोन्नति के कार्यों में लीन होगये। साधु का वेष बनाये वे इधर-उधर दीन अनाथों के कष्ट दूर करने में ही घूमते रहते थे। इधर बंसनगर में कामिनी मोहन नामक एक अत्यंत धनाढ्य जमीदार रहते थे। इनके पास अपार सम्पत्ति एवं कितने ही गांव में जमींदरी थी। सम्पत्ति ने इन्हें अंधा बना दिया था इसी कारण ये सुदूर रहने वाली किसी सुन्दरी रमणी के बारे में सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए नौकर-चाकरों द्वारा भरसक प्रयत्न किया करते थे। जिस दिन से देवहुति इनके गांव में आकर रहने लगी इनकी आँख देवहूति पर भी पड़ी और उसे प्राप्त करने के लिये ये अनेक छल-कपट करने लगे। एक बार तो कामिनी मोहन के चंगुल में फँसकर भी देवहूती अपना झूठा प्रेम दिखाकर निकल गई। फिर दूसरी बार कामिनी मोहन ने उसे ऐसा फंसाया कि देवहूती ने अपने सतीत्व को

रक्षा के लिए विष खाने की धमकी दी। इससे कामिनी मोहन घबड़ा गया और शान्ति के साथ उसे अपने काबू में लाने की चेष्टा करने लगा। इस समय देवहूती एक घने जंगल के अंदर भीलों से कड़े पहरे में एक भव्य भवन में रहती थी। देवस्वरूप नामक साधु ने देवहूती की अनजाने ही एक बार पहले भी रक्षा की थी। अबकी बार उसे जैसे ही पता चला कि कामिनी मोहन फिर उस सती साध्वी स्त्री को घने जंगल में लिवा लाया है और बलपूर्वक उसके सतीत्व को नष्ट करने की चेष्टा कर रहा है तो वह देवहूती की रक्षा के लिए सुरंग के मार्ग से उपस्थित होगया। इधर कामिनी-मोहन अपने दुराचार एवं पापों के कारण एक दिन घोड़े से ऐसा गिरा कि सदा के लिए टंडा होगया। परन्तु मरते समय वह अपनी समस्त सम्पत्ति का आधा भाग देवहूती के नाम और आधे भाग को अपनी विवाहिता पत्नी फूल-कुँवर के नाम कर गया था। कामिनी मोहन के कोई भी संतान न थी। अंत में देवहूती का उद्धार करके साधु वेषधारी देवस्वरूप ने उसे हरमोहन पांडे (देवहूती के पिता) के पास पहुँचा दिया। उधर देवहूती की मां पारवती ने साधु-वेषधारी देवस्वरूप को पहचान लिया और अधिक पूँछताछ करने पर देवस्वरूप—देवहूती का भागा हुआ पति ही निकला। अंत में दोनों मिल गये और देवस्वरूप ने कामिनी मोहन की सम्पत्ति का तनिक भी उपयोग न करके उसमें से धर्मशाला, पाठशाला, अनाथालय, मंदिर, विधवाश्रम आदि बनवाकर लोकोपकार के कार्यों में ही सब धन लगा दिया। इस प्रकार अंत में साधुवेष का परित्याग करके देवस्वरूप भी आनंद पूर्वक देवहूती के साथ अपना सादा जीवन व्यतीत करने लगे और देश और समाज की भलाई में आजीवन रत रहे। इस प्रकार उपन्यास के नायक देवस्वरूप तथा नायिका देवहूती है और उनके सामाजिक जीवन को ही सत्ताईस पंखड़ियों अथवा अध्यायों में विभक्त करके अंकित किया गया है।

उपन्यास की कथावस्तु ग्रामीण जीवन के उस पहलू को उपस्थित करती है जहाँ लोग भूत-प्रेतों एवं काली-दुर्गा में विश्वास करके ओझा या

सयाने लोगों के चंगुल में बुरी तरह फँस जाते हैं और छोटी-छोटी घटनाओं को भी दैवी प्रकोप जानकर उन ओझा एवं सयानों की बात मानते हुए अपार-धन-राशि व्यर्थ ही व्यय किया करते हैं। साथ ही ओझा आदि नीच प्रकृति के लोगों का घरों में प्रवश होते ही स्त्रियों की मान-मर्यादा भी खतरे में पड़ जाती है, क्योंकि कामी लोग ऐसे ही पुरुषों से अपना मतलब गाँठकर अच्छे-अच्छे घरों की बहू-बेटियों के सतीत्व को नष्ट किया करते हैं। इसके साथ ही गाँवों के ज़मीदारों की विलास भावना का भी स्पष्ट चित्र अंकित किया है। ये लोग बिना परिश्रम किये हुए ही जो अपार-धन-सम्पत्ति के मालिक बन जाते हैं, फिर इन्हें विषयों में लीन रहने के सिवाय और कोई कार्य नहीं रहता। ये लोग निरंतर दूसरों की बहू-बेटियों को तकते रहते हैं और अपनी विलास-वासना को तृप्त करके एक ओर तो पापाचार की अभिवृद्धि करते हैं, तथा दूसरी ओर अपने से दुर्बल व्यक्तियों का सर्वस्व अपहरण करके उन्हें दर-दर भीखने माँगने के लिए बाध्य कर देते हैं। इस प्रकार 'अधखिला-फूल' नामक उपन्यास में सामाजिक जीवन की झाँकी अच्छी तरह मिलती है।

कथावस्तु में मोड़ अच्छे दिखाये गये हैं। देवहूती ने सतीत्व-रक्षा के लिए जो प्रयत्न किये हैं, वे भी लेखक ने अत्यत स्वाभाविक रूप में चित्रित किए हैं। उपन्यास की कथावस्तु का विकास भी पूरा-पूरा दिखाई देता है। परन्तु प्रथम दो-तीन अध्याय तो कथा के प्रारंभ करने में व्यर्थ ही खर्च कर दिये हैं। उपयान्स के प्रथम अध्याय में केवल लड़के तथा माँ के वार्तालाप द्वारा लेखक ने समाज के तारागण संबंधी विश्वास को चित्रित किया है जो अनर्गल प्रलाप सा जान पड़ता है। घटनायें सभी आकर्षक हैं और पाठक को आगे पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। बीच-बीच में देवहूती के सरयू स्नान तथा घने-वन वाली घटनायें जासूसी कार्यवाहियां दिखाई गई हैं, जिनको लेखक ने स्वाभाविक बनाने की कोशिश की है, परन्तु वैसे भी घटनायें अस्वाभाविक हैं और आज का पाठक उन पर विश्वास नहीं कर सकता। हाँ, चन्द्रकान्ता-युग के पाठकों को तो ऐसी ही बातें बड़ी रोचक दिखाई देती थीं और उनमें विश्वास भी शीघ्र हो सकता था।

देवहूती इस उपन्यास की नायिका है वह सती-साध्वी, पति-परायण एवं भारतीय आदर्शों को मानने वाली भोली लड़की है। उसे विधाता ने अपार रूप-सौन्दर्य प्रदान किया है और यही रूप-सौन्दर्य उसके जीवन में अनेक आपत्तियाँ खड़ी कर देता है। वह इतनी भोली है कि बासमती के जाल डालने को नहीं समझ पाती। बसमती कामिनी-मोहन की ओर से देवहूती को फाँसने के लिए अनेक षड्यंत्र रचती है और उनमें से एक यह भी था कि वह देवी के लिए नित्य अड़हुल के फूल तोड़ने कामिनीमोहन की वाटिका में जाये और वहाँ किसी प्रकार मोहन के चंगुल में फंसे। बिचारी भोली देवहूती नित्य बगीची में जाने लगी और धीरे-धीरे बासमती के बिछाये हुए जाल में उलझने लगी। परन्तु देवहूती जितनी भोली और सरल एवम् अबोध युवती है, उतनी ही वह धोखा देने में भी कुशल है कामिनीमोहन के चंगुल में एक बार बुरी तरह फंसकर भी वह उसे झूठा प्रेम दिखाकर निकल जाती है। परन्तु उसका हृदय भी तो एक स्त्री का ही हृदय है। वह पत्थर तो नहीं। धीरे-धीरे उसमें कामिनीमोहन के प्रति आकर्षण होने लगता है और वह कुछ अनमनी सी होकर एकान्त में पड़ी रहती है। परन्तु उसकी मां जैसा ही उसे भ्रमर का उदाहरण देकर कामी पुरुषों के छल-कपट का ज्ञान कराती है वैसे ही उसके हृदय से यह प्रेम का मिथ्या-आवरण हट जाता है और वह पुनः अपने पति के एकमात्र प्रेम का ही पुजारिन बनकर कठिन से कठिन आपत्ति को सहन करने के लिए उद्यत हो जाती है। इतना ही नहीं विषम परिस्थितियों में भी एक सबला वीरांगना की भाँति कामी कामिनीकौशल को फटकार देती है और अपने सतीत्व की रक्षा के लिए जीवन की बाजी लगाकर वीर पत्नी का आदर्श उपस्थिति करती है। इस प्रकार देवहूती में हम सुन्दरी युवती की सरलता, भोला-पन, सहृदयता एवं स्वाभाविकता के दर्शन तो करते ही हैं, परन्तु इसके साथ-साथ वह पति-परायण, सती-साध्वी, विषय परिस्थितियों में भी भयभीत न होने वाली एक वीर महिला के अदर्श रूप की झाँकी भी पाते हैं।

देवस्वरूप इस उपन्यास का नायक है। हरिऔधजी के हार्दिक भावों का

समुच्चय ही उसे कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं; क्योंकि देवस्वरूप ही हरिऔध-की भावनाओं का प्रतीक है, वही उनके विचारों को जन-जन तक पहुँचाता है और वही हरिऔधजी की विशेष कृपा का भाजन बना है। देवस्वरूप लोक सेवा एवं लोक-हित के रंग में रंगा हुआ है। यह रंग उसके ऊपर उसकी अत्यन्त सुन्दरी पत्नी की मृत्यु ने चढ़ा दिया है। उसे यह पता न था कि अभी तक उसकी पत्नी जीवित है और जिसकी सुरक्षा में वह तत्पर है यह उसी की पत्नी है। वह तो भ्रान्त धारणा का शिकार बनकर घर बार छोड़ कर साधु हो गया था। वह क्या जानता था कि सेवा करने पर उसे ऐसी मेवा प्राप्त होगी कि जिसके लिए वह आजन्म आभारी रहेगा। देवस्वरूप में एक धीरोदात्त नायक के गुण विद्यमान हैं। वह गुणी, विद्वान, उदार चेता, परोपकारी, मिष्ठ भाषी, लोक हितैषी, नीति-कुशल एवं सर्वभूति हिताय अनेक कष्ट सहन करने वाला वीर पुरुष है उसके हृदय में पत्नी के पति के प्रति अटूट प्रेम था; परन्तु पत्नी की मृत्यु के मिथ्या समाचार ने उसके हृदय की भावना को दूसरी ओर केन्द्रित कर दिया और वह प्रेम धारा अनेक स्रोतों में विभक्त होकर जन-जन का कल्याण करने लगी। इतना ही नहीं उसने देवस्वरूप के हृदय को इतना उदार चेता एवं अन्तःकरण को इतना विशाल बना दिया कि कामिनीमोहन जैसे अपार सम्पति के स्वामी की सारी जायदाद अपने अधिकार में आजाने पर भी उसमें से एक पैसा भी देवस्वरूप ने नहीं लिया और उसका सारा धन लोक-कल्याण के कार्यों में लगा दिया। सती-साध्वी स्त्रियों के लिए वह ईश्वर का अवतार है। क्योंकि देवहूती जैसी अनाथ युवती की रक्षा का कोई उपाय न था, परन्तु देवस्वरूप ईश्वर की भाँति एक घने जंगल में स्थित एकान्त भवन में भी पहुँच गया और उसकी रक्षा की। इतना ही नहीं उस विषयी नारकी-जीव कामिनीमोहन को भी अंत में सीधे मार्ग पर लाने का श्रेय देवस्वरूप को है। देवस्वरूप की प्रेरणा से ही उस दुराचारी लंपट व्यक्ति ने अपना सारा धन परोपकार के निमित्त दान कर दिया। देवस्वरूप का व्यक्तित्व महान है और वह सभी पात्रों को संचालित करता हुआ अपने जीवन को

उदात्त क्रियाओं द्वारा सर्वोपरि सिद्ध होता है। अतः उसमें उदारता, निष्कपटता, वीरता, कुशलता आदि अनेक भव्य भावनायें विद्यमान हैं और लोक-सेवा तथा मानवता के सच्चे पुजारी होने के नाते एक आदर्श युवक के दर्शन होते हैं।

कामिनीमोहन अत्यन्त क्रूर, दुराचारी, पापी तथा मदान्ध जमींदार है। उसमें तत्कालीन विलासी जमीदारों के स्वरूप का दर्शन होता है। वह दूसरों की बहू बेटियों के सतीत्व को नष्ट करके उनके जीवन को भ्रष्ट करता रहता है। उसे पर-पीड़न तथा लोक-सेवा आदि के कार्य नहीं सुहाते। वह एक मात्र अपने स्वार्थ-साधन में ही लाखों रुपये का व्यय कर सकता है तथा अपनी विलासवासना की पूर्ति के लिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ध्यान नहीं रखता। उसके कोई भी संतान नहीं और न संतान के प्रति उसे मोह ही है। वह तो एक मात्र सुन्दरियों का पुजारी है और उनको प्राप्त करने के लिये लाखों रुपये अनेक स्त्री-पुरुषों को इनाम के रूप में देता है। अभी तक किसी सती स्त्री से उसे पाला नहीं पड़ा था। देवहूती पर हाथ डालते ही उसका सतीत्व उसे नाश को ओर ले जाता है और एक दिन उसके सतीत्व के प्रताप से ही वह घोड़े से गिरकर काल-कवलित हो जाता है परन्तु मरते समय वह अपनी पूंजी इधर-उधर नष्ट नहीं होने देता। अपनी पत्नी फूलकुंवर तथा देवहूती के नाम आधी-आधी सम्पत्ति बांटा जाता है तथा अच्छे-अच्छे कार्यों में लगाने के लिए लिख जाता है अन्त में उसके पाप ही उसे शिक्षा देते हैं कि अनाथ अवलाओं के सताने के कारण ही असमय म ही उसकी मृत्यु हो रही है तथा अब उसे अपनी साम्पति शुभकार्यों में लगानी चाहिए। अंत कुछ अच्छा दिखाकर लेखक ने कामिनीमोहन के चरित्र को उन्नत बना दिया है। वैसे वह सदैव विलासिता के पंक में फँसा हुआ एक धनिक एवम् मदान्ध जमींदार है।

'ठेठ हिन्दी के ठाट' की अपेक्षा 'अधखिला फूल' में प्रकृति-चित्रण अधिक सजीव और चित्ताकर्षक है। यहाँ लेखक ने प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म कार्य-व्यापार को दिखाते हुए उपन्यास में वातावरण निर्माण करने के लिए

प्रकृति का अच्छा प्रयोग किया है। प्रकृति में सजीव चेतना शक्ति का आभास पाकर लेखक यहाँ गद्-गद् हो गया है और प्रकृति-चित्रण अधिक कारीगरी और कुशलता के साथ सम्पन्न किया है। प्रकृति-चित्रण में मानवीय भावों की झाँकी दिखाते कहीं-कहीं तो लेखक प्रकृति के भव्य-चित्र को अंकित करने में अत्यधिक सफल सिद्ध हुआ है उदाहरण के लिए ग्रीष्म ऋतु का चित्रण देखिए :—

"चारों ओर आग बरस रही है—लू और लपट के मारे मुंह निकालना दूभर है—सूरज बीच आकाश में खड़ा जलते अंगारे उगल रहा है और चिलचिलाती धूप की चपेटों से पेड़ तक का पत्ता पानी होता है। छर्रों की भाँत धूल के छोटे छोटे कन सब ओर छूट रहे हैं, धरती तत्ते तवे सी जल रही है—घर आवां हो रहे हैं और सब ओर एक ऐसा सन्नाटा छाया हुआ है—जिसमे जान पड़ता है—जेठ की दोपहर जग के सब जीवों को जलाकर उनके साथ आप भी धू-धू जल रही है। बवंडर उठते हैं—हा हा हा हा करती पछुवां बयार बड़े धूम ने बह रही है।" यह चित्र पत्र मिलते ही देवहूती के हृदय की भयंकरता और विषम-वेदना का द्योतक है। ऐसे ही बसंत, शरद, वर्षा तथा सूर्य, चन्द्र, रात्रि, दिन, संध्या आदि के कितने ही चित्र मिलते है जिनमें बारीकी के साथ साथ भाव-प्रवणता सूक्ष्मता तथा कलात्मकता विद्यमान है और जो हरिऔधजी के कला-कौशल की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

हरिऔधजी के उपन्यासों की भाषा

हरिऔधजी ने अपने दोनों उपन्यासों को ठेठ हिन्दी में लिखा है। हरिऔधजी ने ठेठ हिन्दी की परिभाषा का विवेचन करते हुए 'ठेठ हिन्दी का ठाट' नामक उपन्यास के 'उपोद्घात' में लिखा है :—

"जैसे शिक्षित लोग आपस में बोलते चालते है भाषा वैसी ही हो, गंवारी न होने पावे, उसमें दूसरी भाषा अरबी, फारसी, तुर्की अंग्रेज़ी, इत्यादि का कोई शब्द शुद्ध रूप या अपभ्रंश रूप में मे न हो भाषा अपभ्रंश संस्कृत शब्दों से प्रयुक्त हो और यदि कोई संस्कृत शब्द उसमें आवे भी तो

वही, जो अत्यंत प्रचलित हो, और जिसको एक साधारण जन भी बोलता हो "जहाँ तक मैं समझता हूँ ठेठ हिन्दी की परिभाषा भी यही हो सकती है।" (१)

उक्त परिभाषा की पुष्टि के लिए मुंशी इंशाअल्ला खाँ तथा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के मत उद्धृत किये हैं। साथ ही यह भी बतलाया है कि अभी तक 'ठेठ हिन्दी' में केवल एक ही ग्रंथ मिलता और वह है लखनऊ के कवि "इन्शा अल्लाह खाँ" की बनाई 'कहानी ठेठ हिन्दी'। इसके उपरान्त हरिऔधजी के 'ठेठ हिन्दी का ठाट' तथा 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास ही आते हैं। इन दोनों उपन्यासों की भूमिका जिस भाषा में लिखी गई है, उसको देखने से पता चलता है कि उपन्यास और उपन्यास की भूमिका में ज़मीन आसमान का अन्तर है इतना ही नहीं पहले तो भूमिका में ही दो प्रकार की हिन्दी मिलती है। अधखिला फूल' की भूमिका तो संस्कृत गर्भित क्लिष्ट, समासान्त पदावली तथा संस्कृत के तत्सम शब्द प्रधान हिन्दी भी लिखी गई है और उपन्यास के अन्दर तद्भव शब्द प्रधान सरल बोल चाल की ठेठ हिन्दी मिलती है इस प्रकार हिन्दी के तीन रूपों के दर्शन एक उपन्यास के अन्दर ही हो जाते हैं। नीचे तीनों रूपों के क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं :—

(१) 'बालार्क अरुणरागरंजित प्रफुल्ल पाटल प्रसून, परिमल विकीर्ण-कारी मंदवाही प्रभात समीरण, अनसीकुसुमदलोपमेय कान्ति नव जल धर पटल, पीयूषप्रवर्षणकारी सुपूर्ण शुभ्र शारदीय शशांक, रविकिरणोद्भासित वीचि विक्षेपणशीला तरंगिणी, श्यामल तृणावरण परिशोभित उत्तुंग शैल शिखर श्रेणी, नवकिशलयककदम्ब समलंकृत वसंतिक विविध विटपावली, कोकिलकुल कलंकीकृत कंठ समुत्कीर्ण कल निनाद, अत्यंत मनोमुग्धकार और हृदयतलस्पर्शी हैं।"

(२) "मनुष्य स्वाभावतः सुविधा को प्यार करता है और यथा सामर्थ्य उसी ओर प्रवृत्त होने की चेष्टा करता है। तदनुकूल 'ठेठ हिन्दी का ठाट'

(१) ठेठ हिन्दी का ठाट—उपोद्घात पृष्ठ ६।

लिखने के पश्चात् उसी भाषा में कोई दूसरा ग्रंथ लिखने का मेरा विचार न था। किन्तु माननीय महात्मा डाक्टर जी० ए० ग्रियर्सन साहब की असाधारण गुणग्राहकता और अभूतपूर्व उत्साह प्रदान से, मैं 'अधखिला फूल' नामक यह दूसरा ग्रंथ भी ठेठ हिन्दी में लिखने को बाध्य हुआ।"

(३) "चांद कैसा सुन्दर है, उसकी छटा कैसी निराली है उसकी शीतल किरनें कैसी प्यारी लगती है! जब नीले आकाश में चारों ओर जोति फैला कर वह छबी के साथ रस की बरसा सी करने लगता है, उस घड़ी उसको देखकर कौन पागल नहीं होता?"

उपयुक्त तीनों रूपों में से प्रथम दो रूपों को हरिऔध ने आगे चलकर 'प्रियप्रवास' की रचना में अपनाया है। वैसे दूसरा रूप तो आपकी सर्वत्र समीक्षाओं में विद्यमान है तथा तीसरा रूप 'चौपदों और दोनों उपन्यासों में अपनाया गया है। लेखक ने जिस समय 'ठेठ हिन्दी का ठाट' उपन्यास लिखा उस समय कितने ही भाषा सम्बन्धी सुझाव इनके सामने आये थे संक्षेप में वे इस प्रकार हैं:—

"(१) हिन्दी भाषा की सर्व स्वीकृत लेख प्रणाली और नियम में व्याघात होगा, और स्वेच्छाचार को प्रश्रय मिलेगा।

(२) लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों की स्थापित परम्परा और शैली का उलंघन होगा।

(३) अप्रचलित और नवीन शब्दों का प्रयोग होगा।

(४) भाषा को ग्रामीण होने का लांछन लगेगा।"

इन चारों सुधारों पर अत्यंत विद्वत्ता पूर्ण अपनी सम्मति प्रकट करते हुए हरिऔधजी ने चारों का खंडन किया है और बतलाया है कि तत्कालीन अधिकांश लेखक इनके जैसे ठेठ हिन्दी के शब्दों का व्यवहार रात दिन गद्य-पद्य में किया करते हैं, परन्तु फिर भी न किसी लेख प्रणाली के नियम में व्याघात हुआ है, न परम्परा का उलंघन हुआ है, न वे अप्रचलित एवं नवीन शब्द ही हैं तथा न उनसे भाषा ग्रामीण ही बनी है। इतना होते हुए भी हरिऔधजी ने इस भाषा का प्रयोग सर्वत्र नहीं किया।

उनकी 'ठेठ हिन्दी' में जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हिंदी के तद्भव रूपों की प्रधानता मिलती है। अर्थात् इसतिरी, सरग, सबद, इन्दर, सराप, कौल, गैद, अनरथ, परमेसर, कारन, बग्खा, जोति, दिशामें, जतन, गुन आदि शब्द ही सर्वाधिक प्रयुक्त होते हैं। वैसे कुछ हिंदी के ऐसे तत्सम शब्द भी मिलते हैं, जिनका प्रयोग जनता में अधिक पाया जाता है जिन्हें शुद्ध रुप में ही प्रयोग करना लेखक आवश्यक समझता है। इन शब्दों में सुख, दुख, नाक, कान, प्यार, देवता, पंडित, पत्थर, अधीर, रंग ढंग, मंदिर, मंडप आदि हैं। साधारणतया हरिऔधजी ने ठेठ हिंदी के अंदर बोलचाल को प्रधानता दी है। सर्वसाधारण जिन शब्दों का जैसा उच्चरण अच्छी तरह कर सकते हैं उनका प्रयोग आपने वैसा ही किया है। इसी विचार को आपने भूमिका में इस तरह स्पष्ट किया है :—"मैं भी उसी रूप में शब्द के व्यवहार का पक्षपाती हूँ कि जिस रुप में वह सर्वसाधारण द्वारा बोला जाता है, यदि सर्वसाधारण द्वारा वह उस रूप में नहीं बोला जाता है कि जिस रूप में वह लिखा गया है तो अवश्य त्याज्य है।"

इसी विचार के आधार पर आपने अधिक से अधिक बोल-चाल के शब्द ही दोनों उपन्यासों में अपनाये हैं। हरिऔधजी की यह विचारधारा यद्यपि अधिक समय तक नहीं रही। परन्तु फिर भी आप लोक-प्रचलित बोल-चाल की भाषा पर अधिक जोर देते रहे, और फिर भी यदि सर्वसाधारण अंग्रेजी, फारसी, अरबी आदि विदेशी भाषाओं के शब्द भी व्यवहार में लाते हैं, तो ठेठ हिन्दी लिखने वाले के लिए उन सभी शब्दों का व्यवहार में लाना आप अत्यंत आवश्यक समझते हैं :—

"ब्रजभाषा क्या समय तो हमको यह बतलाता है कि अंग्रेजी, फारसी, अरबी, तुर्की, इत्यादि के वे सब शब्द भी कि जिनका प्रचलन दिन-दिन देश में होता जाता है, और जिनको प्रत्येक प्रांत में सर्वसाधारण भली भाँति समझते हैं, यदि हिंदी भाषा में आवश्यकतानुसार गृहीत होते रहें, तो भी क्षति नहीं।"

इस प्रकार आपने लोक-प्रचलित सभी प्रकार के शब्दों को अपने दोनों उपन्यासों में स्थान दिया है। आपकी ग्राम्य-रचना अत्यंत सजीव एवं आकर्षक है। चित्रोपमता तो आपकी भाषा में सर्वत्र विद्यमान है। आपने अपने पात्रों के रेखांकित चित्रों के अतिरिक्त ऋतुओं एवं भावनाओं के भी बड़े सफल चित्र अंकित किए हैं तथा भाषा में सजीवता उत्पन्न करके उपन्यासों को जनता के साधारण से साधारण व्यक्ति के समझने के योग्य बनाया है। आपके उपन्यास जन-साहित्य के अन्तर्गत ही आते हैं; परन्तु उपन्यासों के क्षेत्र में हरिऔधजी और आगे नहीं बढ़े। हो सकता है, आपकी नैतिक विचार-धारा ने उपन्यासों की सृष्टी रोक दी। क्योंकि मानव-जीवन का विश्लेषण करके उसके सभी चित्र अंकित करने में आगे आपकी रुचि नहीं रही और भाषा संबंधी विचारों में भी आगे परिवर्तन आगया। फिर भी दोनों उपन्यासों में आपकी लोक-प्रचलित भाषा बड़ी सजीव एवं मार्मिक है।

उपन्यासों का उद्देश्य

काव्य की भाँति उपन्यास का उद्देश्य भी जीवन की व्याख्या करना बतलाया गया है। उपन्यास में जीवन की सम एवं विषम सभी परिस्थितियों के चित्र अंकित करके लेखक मानव-जीवन की अनेक रूपता पाठकों के सामने उपस्थित करता है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि हरिऔधजी ने जीवन की अनेक-रूपता के चित्र अपने उपन्यासों में अंकित नहीं किये, परन्तु जिन पहलुओं से जीवन को देखने की चेष्टा की है वह प्रशंसनीय है। आपने विशेषतया समाज की बुराइयों को अंकित करते हुए दोनों उपन्यासों में आधुनिक जीवन की निम्नलिखित बातें दिखलाने की चेष्टा की है:—

(१) सामाजिक बंधनो के कारण लड़कियों को इच्छित वर की प्राप्ति नहीं होती।

(२) विवाह के बारे में लड़कियाँ पूर्ण परतंत्र हैं।

(३) सामाजिक ऊँच-नीच की भावना अत्यधिक व्याप्त है।

(४) माँ-बाप अच्छे घर एवं खानदान के पीछे बहुधा वर के गुण-दोष नहीं देखते और निठल्लू, निकम्मे, अपढ़ लड़कों के साथ अपनी लड़कियाँ व्याह देते हैं।

(५) समाज में पर-स्त्री गमन एवं परिवार के बोझ को सहन न कर सकने के कारण युवकों के भागने की प्रवृति भरी हुई है।

(६) लोग आडम्बर पूर्ण जीवन अधिक व्यतीत करते हैं और आज कल के साधु सन्यासी धूर्त्त और कपटा-चरण अधिक करते हैं।

(७) समाज सुधार के लिए देवनन्दन तथा देवस्वरूप जैसे लोकोपकारी परहित कामी दीन-दुखियों के रक्षक तथा निस्वार्थ सेवकों की आवश्यकता है।

(८) जमीदारों में विलास-वासना अधिक व्याप्त है, वे दूसरों की सुन्दर बहन बेटियों को सदैव तकते रहते हैं तथा उनको प्राप्त करने के लिए हर प्रकार हथकंडे काम में लाते हैं।

(९) वासमती जैसी कुटनी स्त्रियाँ प्रायः भले घर की बहू-बेटियाँ को बहका कर चकलों अड्डों तथा अन्य गोपनीय स्थानों पर ले जाती हैं। और उन्हें दुष्कर्म प्रवृत्त करती हैं।

(१०) पुराने रूढ़िवादी विचार समाज में भरे हुए हैं।

(११) पति से विलग रहकर सती साध्वी स्त्री के हृदय में भी किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति आकर्षण हो सकता है। परन्तु उसके लिए उपदेश ग्रहण करना आवश्यक है।

(१२) भले आदमी का अन्त भला तथा बुरे आदमी का अन्त बुरा होता है।

उपर्युक्त इन कतिपय विशेषताओं के साथ साथ हरिऔध जी का मुख्य उद्देश्य भले ही 'टेठ हिन्दी' में जनता की बुराईयों का चित्रण करके उन्हें सन्मार्ग पर ले जाना रहा हो परन्तु आपने देवनन्दन, देव स्वरूप, तथा देव-

वाला और देहूवती से चरित्रों द्वारा समाज को सदाचार, लोक सेवा, सादा जीवन तथा लोक कल्याण के लिए सर्वस्व अर्पण करने की भावना को जन जन में भरने का प्रयत्न किया है। तथा यह बतलाया है कि सच्चे स्वाभिमानी और निष्कपट आचरण करने वाले भव्य चरित्र सम्पन्न व्यक्ति ही समाज में सदैव आदर के पात्र होते हैं और पापाचरण में प्रवृत रहने से सदैव दुर्गति होती है।

सारांश यह है कि भाषा, भाव, गठन, शैली आदि की दृष्टि से हरिऔध जी के दोनों उपन्यास तत्कालीन परिस्थतियों के सर्वथा अनुकूल हैं। और युग की नैतिक भावनाओं का प्रचार करके समाजो-स्थान में प्रवृत्त दिखाई देते हैं। इस युग में ऐसे ही उपन्यासों की सर्वत्र आवश्यकता थी जो समाज-सेवा, देश-प्रेम, दीन-दुखियों को सहायता तथा सामाजिक कुरीतियों के विनाश की भावनाओं का संचार करके सच्ची मानवता का चित्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर सकें। उस समय सामाजिक विचारों को बहुत कम उपन्यासों में स्थान दिया जाता था। अधिकांश उपन्यास तो ऐय्यारी एवम् तिलस्म से भरे हुए थे। तथा घटना वैचित्र्य को दिखाकर पाठकों को अपनी ओर आकर्षित किया करते थे। किशोरीलाल गोस्वामी ने अवश्य कुछ सामाजिक कुरीतियों का चित्रण करना आरंभ किया था। परन्तु उसके अधिकांश उपन्यासों में 'उच्च वासनायें व्यक्त करने वाले दृश्यों की अपेक्षा निम्नकोटि की वासनायें प्रकाशित करने वाले दृश्य अधिक भी हैं और चटकीले भी।'[1] इनका प्रभाव नवयुवकों पर बड़ा बुरा पड़ सकता था। ऐसे समय में सदाचार पूर्ण उच्च विचारों से युक्त हिन्दी के उपन्यासों की आवश्यकता थी इस आवश्यकता को हरिऔध जी ने पहचाना और अपने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' तथा 'अध खिला फूल' नामक दो ऐसे उपन्यास लिखे, जिनमें वासनाओं का परिष्कार करके सदाचार तथा लोक सेवा आदि पर अधिक जोर दिया। और जो उपन्यास कला की दृष्टी के भले ही उच्चकोटि के नहीं परन्तु आपने उच्च विचारों एवम् यथार्थ चित्रणों के कारण तत्कालीन

(१) हिन्दी साहित्य का इतिहस—पृ० ५०० ।

उपन्यासों में उच्च स्थान ग्रहण किए हुए हैं। इतना ही नहीं जिनमें से 'ठेठ हिन्दी के ठाट' की प्रशंसा को तो अंग्रेजी विद्वान डा० ग्रियर्सन ने भी इन शब्दों में की है :—

"ठेठ हिन्दी का ठाठ" के सफलता और उत्तमता से प्रकाशित होने के लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। यह एक प्रशंसनीय पुस्तक है × × मुझे आशा है कि इसकी बिक्री बहुत होगी, जिसके के यह योग्य है। आप कृपा करके पं० अयोध्यासिंह से कहिए कि मुझे इस बात का बहुत हर्ष है, कि उन्होंने सफलता के साथ यह सिद्ध कर दिया है कि बिना अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग किए ललित और ओजस्विनी हिन्दी लिखना सुगम है।" इस प्रशंसा के साथ ही डा० ग्रियर्सन ने इसे तत्कालीन इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में भी स्वीकृत कराया। दूसरा 'अध खिला फूल' भी ऐसा उपन्यास है। जो ठेठ हिन्दी में लिखा गया तथा जो तत्कालीन विद्वानों की प्रशंसा का पात्र बना। इस तरह भाषा वैचित्र्य में तो ये दोनों उपन्यास अद्वितीय हैं ही, परन्तु नवयुवकों के चरित्र को उन्नत बनाने तथा समाज सेवा एवम् देश प्रेम की भावना जाग्रत करने के कारण ये दोनों उपन्यास आज भी प्रशंसा के पात्र हैं क्योंकि इन दोनों उपन्यासों ने सामाजिक उपन्यासों के क्षेत्र में अग्रदूत का कार्य किया है और दोनों ही प्रकृति चित्रण, चरित्र चित्रण तथा ठेठ हिन्दी की गठन प्रणाली के कारण अनुपम एवम् अद्वितीय हैं।

८—आलोचक एवं इतिहासकार "हरिऔध"

सत्साहित्य की सुरक्षा एवं लोक-रुचि पर उचित नियंत्रण करने के लिए आलोचक की अत्यंत आवश्यकता होती है। आलोचक ही सच्चा मार्ग-दर्शक माना गया है। आलोचकों के विना सत् असत् का ज्ञान नहीं होता और सत् असत् के ज्ञान विना न मानव अपने जीवन में उन्नति कर पाता है और न कोई साहित्य उन्नति के शिखर पर पहुँचता है। सम्भवतः आलोचक का इतना महत्व होने के कारण ही कबीरदास उसे सदैव अपने निकट रखना आवश्यक समझते थे और प्रत्येक महात्मा अपने आलोचक को सदैव अच्छी दृष्टि से ही देखता आया है।

आलोचक के गुणों का निर्देश करते हुए बा. श्याम सुन्दरदास ने उसे विद्वान्, बुद्धिमान्, गुणग्राही, निष्पक्ष तथा नीर-क्षीर विवेक बतलाया है।[1] साथ ही साहित्य का संबंध जीवन की व्याख्या, नीति, समाज आदि अनेक बातों से होने के कारण उसके गुण-दोषों का विवेचन करना आलोचक का मुख्य कर्त्तव्य बतलाया है।[2] आलोचक को ही हम एक ऐसा न्यायधीश मान सकते हैं जो साहित्य-क्षेत्र में अव्यवस्था का निराकरण करके अपनी आलोचना द्वारा सुव्यवस्था स्थापित करता है और अनर्गल तथा अश्लील साहित्य का तिरस्कार करता हुआ सत्साहित्य के प्रति सर्वसाधारण की रुचि जाग्रत करता है। इस प्रकार एक आलोचक का साहित्य के क्षेत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। साहित्य को जीवन की व्याख्या माना गया है और उस व्याख्या को सम्यक् व्याख्या करके उसकी बारीकियों, विशेषताओं बुराइयों तथा महत्वपूर्ण बातों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करके ही एक आलोचक का प्रमुख कर्त्तव्य है। जो इस कर्त्तव्य का सुचारु रूप से पालन

---

(१) साहित्यालोचन पृ० ३२७।

(२ वही पृ० ३२६

नहीं कर सकता वह आलोचक कहलाने का अधिकारी नहीं और न उसके द्वारा फिर साहित्य का भला ही हो पाता है।

हिन्दी साहित्य के अंतर्गत आलोचकों की संख्या पर्याप्त है। परन्तु सभी आलोचकों को आज वह स्थान प्रप्त नहीं, जो कि पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, पं रामचन्द्रशुक्ल, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० नंददुलारे बाजपेयी प्रभृति विद्वानों को प्राप्त है। कारण यही है कि सभी विद्वान आलोचक के कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन नहीं करते और न सभी लोग सूक्ष्म दृष्टि से नीर-क्षीर विवेक द्वारा गुण-दोषों का सम्यक् विवेचन ही ही करते हैं। आजकल आलोचना के क्षेत्र में बड़ी धाँधली मची हुई है। इस गड्डुलिका प्रवाह में अल्प विद्या-बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति भी एक सफल आलोचक बनने की कामना किया करता है और आलोचक के कर्त्तव्य को न समझकर साहित्य-क्षेत्र में आलोचक बन जाता है। आलोचक के लिए जिस पांडित्य एवं विद्वत्ता की आवश्यकता होती है तथा जिस निष्कपटता के बिना उसके कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं होती, उनका उसमें सर्वथा अभाव पाया जाता है।

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय जैसे सफल कवि एवम् लेखक हैं, वैसे ही उच्चकोटि के आलोचक भी हैं। सच पूछो तो आपकी प्रतिभा एवम् विद्वत्ता का पूर्ण विकास आपकी आलोचनात्मक विवेचना में ही दिखाई देता है। उन विवेचनाओं में विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता तथा पांडित्य का तो किंचित मात्रा में भी अभाव नहीं लेकिन इनसे भी अधिक निष्कपटता तो सर्वत्र विद्यमान है। यह निष्कपटता ही एक सफल आलोचक की कसौटी है। बिना निष्कपट हुए एक आलोचक कदापि आलोचक नहीं बन सकता और न वह सफल निर्णायक का स्थान ग्रहण कर सकता है। उपाध्याय जी की विवेचना में सबसे बड़ी विशेषता ही यह है कि वह उचित एवम् उपयुक्त होती है तथा आलोच्य विषय के अन्तस्थल तक पहुँच कर उसके मर्म को स्पर्श करती हुई पाठकों के सम्मुख दूध का दूध एवम् पानी का पानी छाँट कर रख देती है। इन विवेचनाओं में एक कुशल व्याख्याता एवं आलोचक के साथ साथ इतिहासकार

का रूप भी झाँकता हुआ दिखाई देता है। उपाध्याय जी केवल विवेचना ही नहीं करते अपितु तुलनात्मक प्रणाली का अनुसरण करते हुए इतिहास से समसामायिक उदाहरणों को प्रस्तुत करने एवं कथन की पुष्टि के लिए विद्वानों की राय देने में कभी भूल नहीं करते। यही कारण है, कि पटना विश्वविद्यालय के लिए हिन्दी साहित्य पर आपने जो व्याख्यान माला तैयार की थी उसमें आप एक सुयोग्य भाषा वेत्ता कुशल आलोचक एवं सफल इतिहासकार के रूप में विद्यमान हैं। आज उन व्याख्यानों को हिन्दी भाषा और साहित्य का विकाश के नाम से हम एक संगृहीत रूप में देखते हैं। आगे चलकर इसकी विशेषताओं को विस्तृत रूप में देखने की चेष्टा करेंगे।

उक्त वाक्यों के अतिरिक्त आपने अपने ग्रंथों की जो भूमिकाएँ लिखी हैं। वे भी एक कुशल आलोचक के स्वरूप को स्पष्ट प्रकट करती हैं। लगभग सभी ग्रन्थों के प्रारंभ में आपके बड़ी विद्वतापूर्ण भूमिकाऐं लिखो हैं। यद्यपि ये भूमिकाऐं ग्रंथों को समझाने के लिए ही लिखी गई हैं। परन्तु कुछ भूमिकायें ग्रंथों के विषय के अतिरिक्त उससे संबंध रखने वाले अन्य वाद विवादों पर हरिऔध जी की संमति प्रकट करती हैं। जिनमें मौलिक विवेचना से साथ-साथ हरिऔध जी की गहन अध्ययन शीलता तथा विषय की पूर्ण जानकारी विद्यमान है। इन भूमिकाओं में ही हम आपकी आलोचना पद्यति के सफल स्वरूप को देख सकते है। तथा भूमिकाओं में ही हरिऔध जी एक कुशल आलोचक के रूप में विद्यमान है। इनमें से रस कलस की भूमिका बोलचाल की भूमिका तथा कबीर वचनावली की भूमिका ही अधिक विस्तृत एवं प्रसिद्ध है। जिनमें हरिऔध जी की विद्वत्ता एवं विवेचना पद्धति की कुशलता अधिक विद्यमान है। इस प्रकार हरिऔध जी के आलोचक एवं इतिहासकार रूप को देखने के लिए हमारे पास प्रमुखतया हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास तथा उक्त तीन भूमिकायें उपस्थित हैं। अब क्रमशः एक को लेकर पृथक पृथक रूप में हरिऔध जी के विवेचनात्मक साहित्य को देखने की चेष्ठा करेंगे।

(१) "हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास"

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। यह ग्रंथ हरिऔध जी के पटना विश्व विद्यालय से लिए तैयार किये हुए व्याख्यानों का संग्रह है। इसे लेखक ने तीन खण्डों में विभक्त किया है और प्रत्येक खण्ड प्रकरणों में बटा हुआ है। जैसे प्रथम खण्ड में सात प्रकरण हैं, द्वितीय खण्ड में चार प्रकरण हैं तथा तीसरे खंड में छः प्रकरण हैं। ये तीनों खंड क्रमशः भाषा विज्ञान के आधार पर भारतीय आर्य भाषाओं में हिन्दी का स्थान हिन्दी, के पद्य साहित्य का इतिहास तथा हिन्दी के गद्य साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार हिन्दी के आविर्भाव काल से लेकर आधुनिक प्रगति काल तक के समस्त इतिहास को हरिऔध ने तीन खंड तथा सत्तरह प्रकरणों में बाँटकर उपस्थित किया है। आपका यह वर्गीकरण भाषा के स्वरूप पर आधारित है। वैसे आपने अधिकांश इतिहासकारों के मान्य सिद्धांतों को अपनाकर ही आपने इतिहास का वर्गीकरण किया है। परन्तु कहीं कहीं कुछ अन्तर भी हो गया है। जिसे साहित्य के इतिहास की विवेचना के समय बतलायेंगे।

हरिऔध जी के इस ग्रंथ का प्रथम खंड भाषा विज्ञान संबंधी विषयों की विवेचना से परिपूर्ण है। लेखक ने भाषा की परिभाषा हिन्दी के उद्गम और विकाश तथा अन्य आर्य भाषाओं से हिन्दी का संबंध और विषयों का विद्वता पूर्ण विवेचन किया है। भाषा की परिभाषा के लिए विभिन्न विद्वानों के मतों को उद्धृत करते हुए अत्यन्त सरल एवं सुबोध शैली के उदाहरण दे कर समन्वयवादी प्रवृति दिखलाई है और भाषा की परिभाषा संबंधी जटिलता को सुगमता से सुलभा दिया है। विद्वान लेखक ने मानव की बुद्धि और प्रतिभा को ईश्वर प्रदत्त कह कर तथा मानव के द्वारा ही धीरे धीरे भाषा का विकास बतलाकर भाषा को ईश्वर निर्मित्त तथा मानव निर्मित मानने वालों के बीच में पड़ी हुई जटिलता को सुगम बनाया है। इसी प्रकार आगामी प्रकरणों में लेखक ने प्राकृत और वैदिक संस्कृत वाले विवाद को बड़े पांडित्यपूर्ण ढंग से सुलझाया है। प्राकृतों में पाली के समर्थक उसे संसार की सर्व प्रथम भाषा मानते हैं। और उसी से अन्य भाषाओं की

उत्पत्ति बतलाते हैं। परन्तु विद्वान लेखक ने अपनी प्रतिभा द्वारा अनेक ग्रंथों से उदाहरण देते हुए वैदिक संस्कृत की महत्ता सिद्ध की है। तथा उसी को सभी भाषाओं की जननी बतलाया है। इसके साथ ही देश और विदेशी विद्वानों के कथनों से प्रमाण देकर अपनी बात की पुष्ठी भी की है :—

"केवल कुछ शब्दों के मिल जाने से ही किसी भाषा का आधार कोई भाषा नही मानी जा सकती, उन दोनों की प्रकृति और प्रयोगों को भी मिलाना चाहिए। वैदिक संस्कृत और मागधी अथवा पाली की प्रवृत्ति भी मिलती है; उनका व्याकरण सम्बन्धी प्रयोग भी अधिकांश मिलता है। × × × ऐसी अवस्था में यदि प्राकृत भाषा अर्थात् पाली और मागधी आदि वैदिक भाषा मूलक नहीं हैं, तो क्या देश भाषा मूलक ? वास्तव में मागधी अथवा अर्द्ध मागधी किम्वा पाली की जननी वैदिक संस्कृत है। × × × × एक बात और है वह यह कि इण्डो योरोपियन भाषा की छानबीन के समय भारतीय भाषाओं में से संस्कृत ही अन्य भाषाओं की तुलना मूलक आलोचना के लिये ली गई है, पाली, अथवा मागधी किम्वा अन्य कोई प्राकृत नहीं, इससे भी संस्कृत की मूल-भाषा-मूलकता सिद्ध है।" (पृ० २८-२९)

इतना ही नहीं कहीं-कहीं लेखक ने अन्य भाषा वैज्ञानिकों से अपना मत भेद भी दिखलाया है। जैसे सभी भाषा वैज्ञानिक पहाड़ी भाषाओं को तीन भागों में विभक्त करके उन्हें (१) पूर्वीय पहाड़ी (२) मध्यपहाड़ी तथा (३) पश्चिमीय पहाड़ी वर्ग में रखते हैं, परन्तु हरिऔधजी का कथन है:— "योरोपियन लोग नैपाली भाषा को पूर्वीय पहाड़ी भाषा कहते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं। नैपाल की भाषा का नाम 'नेवारी' है। पूर्वीय पहाड़ी के और भाषाओं का नाम पार्वतीय, पहाड़ी भाषा खस्कुरा है।" अतः नेपाली भाषा को पूर्वीय वर्ग में नहीं रखना चाहिए। आपका भाषा-ज्ञान अत्यन्त विस्तृत है। आपने भारत की अनेक भाषाओं के स्थान तथा उनके बोलने वालों की संख्या आदि का भी निर्देश किया है, जो अन्य भाषा विज्ञानों में नहीं मिलता। इतना ही नहीं हिंदी भाषा की विभक्तियाँ, सर्वनाम तथा

उनकी क्रियाओं का इतिहास प्रस्तुत करते हुए कितने ही अंग्रेजी एवम् भारतीय विद्वानों के मत उद्धृत किये हैं, जो आपकी विद्वता के साथ-साथ प्रखर पांडित्य के परिचायक हैं।

उर्दू के बारे में कितनी ही विद्वानों की राय यह है कि वह एक विदेशी भाषा है तथा उसका संबंध हिन्दी से तनिक भी नहीं दिखाई देता; परन्तु हरिऔधजी ने अपने विद्वत्तापूर्ण कथन द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि उर्दू हिन्दी की ही एक अन्यतम भाषा है तथा "उर्दू की रीढ़ हिन्दी भाषा के सर्वनाम, विभक्तियाँ, प्रत्यय और क्रियायें ही हैं, उसकी शब्द योजना भी अधिकतर हिन्दी भाषा के समान ही होती है, ऐसी अवस्था में वह अन्य भाषा नहीं कही जा सकती।" इतना ही नहीं मोमिन, जौक, मीरहसन, आदि की कविताओं के उदाहरण देकर डाक्टर राजेन्द्रलाल मिश्र का मत उद्धृत किया है कि "उर्दू का व्याकरण ठीक हिन्दी के व्याकरण से मिलता है, उर्दू हिन्दी से भिन्न नहीं है।"

इस प्रकार प्रथम खण्ड में भाषा-विज्ञान के आधार पर हिन्दी भाषा के उद्गम की इस प्रकार सारगर्भित भाषा में व्याख्या की है तथा उसे सफलता पूर्वक साहित्यिक गंभीरता के साथ समझाने की चेष्टा भी की है, जिसमें मत-विरोध एवं मतैक्य के साथ-साथ स्वतंत्र मत की छटा भी विद्यमान है और जो हरिऔधजी के भाषा-विज्ञान संबंधी अनुपम ज्ञान का भंडार है। इसे देखकर आपके बहुभाषाविद् होने का प्रमाण स्पष्ट रूप में मिल जाता है। इतना ही नहीं विभिन्न विद्वानों के मतों को उद्धृत करने के कारण आपकी भाषा विज्ञान सम्बन्धी अद्भुत जानकारी का परिचय भी पाठक को सहज में हो जाता है। इस प्रकार वैज्ञानिक आधार पर हिन्दी भाषा के उद्गम को समझाकर आप द्वितीय खण्ड में प्रविष्ट होते हैं।

द्वितीय खण्ड के अंतर्गत हरिऔधजी ने हिन्दी-साहित्य के पद्य भाग का पूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम 'साहित्य' की व्याख्या करते हुए आप साहित्य की परिभाषायें 'श्राद्ध विवेक', 'शब्दशक्ति-प्रकाशिका', 'शब्द-कल्पद्रुम', इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, आदि कितने ही ग्रंथों के मत उद्धृत

करते हैं तदुपरान्त अत्यन्त भावुकतापूर्ण भाषा में साहित्य की विशेषतायें बतलाते हुए लिखते हैं:—

"वह सजीवता जो निर्जीवता संजीवनी है, वह साधना जो समस्त सिद्धि का साधन है, वह चातुरी जो चतुर्वर्ग—जननी है, एवं वह चारु-चरितावली जो जाति चेतना और चेतावनी की परिचायिका है, जिस साहित्य की सहचरी होती है वास्तव में वह साहित्य ही साहित्य कहलाने का अधिकारी है।"

इस तरह साहित्य की एक भाव-प्रवण परिभाषा करते हुए उसकी अंगों एवं उपांगों की विशेषतायें बतलाई हैं तथा साहित्य का देश और समाज के व्यापक संबंध स्थापित किया है। हिन्दी साहित्य का आरम्भ आपने ईसा की अष्टम शताब्दी से माना है, जबकि शुक्लजी ने ११ वीं शताब्दी से हिन्दी-साहित्य का इतिहास प्रारम्भ किया है। परन्तु हरिऔधजी का ८ वीं शताब्दी से हिन्दी का अविर्भाव मानने का कारण यह है कि पुष्प नामक हिन्दी का कोई कवि ८ वीं शताब्दी में हो गया है, परन्तु उसका कोई काव्य आजतक नहीं मिला हरिऔधजी तो हिन्दी का प्रारम्भ छठी या सातवीं शताब्दी में ही मानने को तैयार हैं। उनका कथन है—"इतिहास बतलाता है कि उसमें आठवीं ईसवीं शताब्दी में साहित्य रचना होने लगी थी। इस सूत्र से यदि उसका अविभार्व-काल छटी या सातवीं शताब्दी मान लिया जाय तो मैं समझता हूँ असंगत न होगा।" इस प्रकार आपने आरम्भिक काल को आठवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक मना है और उस काल में वीर-गाथा-कारों की प्रधानता बतलाई है। परन्तु आपने आठवीं शताब्दी के किसी भी ऐसे ग्रंथकार का नाम नहीं दिया जिसकी रचना का उद्धरण दिया जा सके। केवल सुने-सुनाये आधार पर आपने भी आठवीं शताब्दी के एक पुष्प कवि कृत किसी अलंकार ग्रंथ का उल्लेख किया है, जिसका कोई भी रूप आजतक नहीं मिलता। इन्होंने हिन्दी-साहित्य का पहला उल्लेख योग्य ग्रंथ खुमानरासौ बतलाया है जो नवीं शताब्दी में लिखा गया। अतः आपका ८वीं शताब्दी से हिन्दी-साहित्य के इतिहास को प्रारंभ करना उपयुक्त नहीं ठहरता।

हरिऔध जी ने पृथ्वीराज रासौ की प्राचीनता पर अधिक जोर दिया है, तथा अन्य विद्वानों से सहमत होकर उसमें प्रक्षिप्त अंशों को भी स्वीकार किया है। पृथ्वीराज रासौ की आलोचना में हम हरिऔधजी को नीर-क्षीर-विवेकी के रूप में देखते हैं। आपने रासौ की प्राचीनता को अक्षुण्या बनाये रखने के लिए उसकी भाषा के नवीन एवं प्राचीन रूपों की तुलनात्मक परीक्षा की है तथा प्राचीन रूपों के सहारे उसे बारहवीं शताब्दी का सिद्ध किया है। इसके उपरान्त १४ वीं शताब्दी से हिन्दी के माध्यमिक काल का आरम्भ माना है तथा डिंगल एवं पिंगल दोनों भाषाओं के सम्मिलित कवियों को काल क्रमानुसार उद्धृत किया है। राजस्थानी भी हिन्दी की ही एक विभाषा मानकर हरिऔधजी ने हिन्दी के इतिहास में वह एक अत्यंत प्रशंस्नीय कार्य किया है। खुसरो को हिन्दी-साहित्य में इस काल का प्रमुख कवि माना है। इसके अतिरिक्त शुक्लजी आदि कितने ही विद्वानों से मत-भेद दिखाते हुए विद्यापति को आपने भक्ति-कवि सिद्ध किया है तथा उनकी पदावली में वर्णित राधाकृष्ण की शृंगार–विषयक कविताओं को माधुर्य्य-भाव से पूर्ण भक्ति संबंधी कवितायें बतलाया है। साथही कबीर को सामयिकता का अवतार एवम् नवीन-धर्म-प्रवर्त्तन के इच्छुक कहकर' उनकी रचनाओं को पूर्ववर्ती सिद्ध और महात्माओं के भावों एवं विचारों से ओतप्रोत' सिद्ध किया है, आपकी विवेचना शक्ति यहाँ पर अत्यंत प्रखर एवं तत्वान्वेषण में तीव्र दिखाई देती है। आपने अपने ऐतिहासिक अध्ययन में वर्ण्य-विषय तथा सभी कवियों की भाषा पर अत्यंत गंभीरतापूर्वक विचार किया है। यह अध्ययन एक ओर आपकी सूक्ष्मदृष्टि का परिचायक है, तो दूसरी ओर आपकी विवेचन कुशलता को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। नीचे सूफी कवियों की भाषा संबंधी विवेचना देखिए, जिसमें हरिऔधजी की विवेचन–कुशलता कितनी स्पष्ट और मार्मिक है :—

"परवर्ती कवियों की भाषा मुहम्मद जायसी की भाषा से कुछ प्रांजल अवश्य है और उनकी रचनाओं में संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी अधिक देखा जाता है। परन्तु जो प्रवाह जायसी की रचना में मिलता है इन लोगों

की रचना में नहीं। यह मैं कहूँगा की परवर्ती कवियों की रचनाओं में गँवारी शब्दों की न्यूनता है किन्तु उनका कुछ झुकाव व्रजभाषा की प्रणाली और खड़ी बोली के वाक्य-विन्यास और शब्दों की ओर अधिक पाया जाता है। उनकी रचनाओं को पढ़कर यह ज्ञात होता है कि वह उद्योग करके अपनी भाषा को अवधी बनाना चाहते हैं।

हरिऔधजी ने अन्य बातों के अतिरिक्त भाषा पर ही अधिक ज़ोर दिया है और सारे इतिहास में भाषा की विभिन्नताओं, उसकी विचित्रताओं और उसकी रचना-चातुरी का उल्लेख आपने सबसे अधिक किया है, उदाहरण के लिए प्राकृत तथा संस्कृत, अपभ्रंश तथा प्राचीन हिन्दी, व्रज-भाषा तथा अवधि और व्रजभाषा तथा खड़ी बोली की तुलनात्मक व्यख्या देखी जासकती हैं। इन व्यख्याओं में लेखक ने बड़ा परिश्रम किया है और इन भाषाओं की वास्तविकता का स्वरूप अच्छी प्रकार बतलाया है। आपने भाषा एवं इतिहास के विकास को बा० श्यामसुन्दरदास के समान न तो प्रवृत्तियों एवं परम्पराओं के आधार पर दिखाया है और न शुक्लजी के समान वर्ण्य-विषय के आधार पर विभक्त करके प्रदर्शित किया है; परन्तु काल-क्रम से जो कवि जब आता है उसका उसी, क्रम से वर्णन किया है। इसी कारण आपकी विवेचना में कुछ अस्त-व्यस्ता सी दिखाई देती है और सूफीकवि के साथ ज्ञानमार्गी और ज्ञानमार्गी के साथ कृष्णभक्त तथा सूफी कवि के साथ रामभक्त कवि आगये हैं। इतिहास के वर्णन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव है। आपने तो भाषा के आधार पर अधिक वर्णन किया है। दूसरी कमी यह दिखाई देती है कि किसी भी कवि का समय बतलाने की चेष्टा नहीं की है। केवल काल-क्रम के अनुसार युग का विभाजन करके उनके अंतर्गत ही कवियों का वर्णन कर दिया है। सबसे अधिक प्रयत्न आपने कवियों का आलोचनात्मक विवरण देने का किया है, परन्तु भावों की अपेक्षा भाषा का सफल विवेचन किया है।

तीसरे खण्ड में गद्य का क्रमिक विकास दिखाते हुए गद्य का प्रारंभ रावल समरसिंह और महाराज पृथ्वीराज के दान-पत्रों में दिखाया है। इसके

साथ ही गुरू गोरखनाथ को हिन्दी-गद्य-साहित्य का सर्वप्रथम लेखक सिद्ध किया है। समस्त गद्य-साहित्य को ५ कालों में विभक्त किया है—आदिकाल, विकासकाल, विस्तार काल, प्रचार काल और वर्तमान-काल। आदिकाल के प्रमुख गद्य लेखक गुरु गोरखनाथ हैं जिनका समय सन् १३५० ई० के लगभग है। अतः आदि काल १२वीं शताब्दी से माना है। दूसरे विकास काल में ब्रजभाषा का गद्य मिलता है और इस काल के गद्य लेखक गो० विट्ठलनाथ, गो० गोकुलनाथ, गंगभट, नाभादास, महात्मा-तुलसीदास, महाकविदेव, बनारसीदास, जटमल, सुरतिमिश्र, भिखारीदास, किशोरीदास आदि के नाम दिये हैं। तीसरे विस्तार काल का प्रारंभ १६वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है तथा इस काल के जानकीदास, सरदार कवि, मुंशी-सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल, सदलमिश्र तथा अन्य इसाई विद्वानों को गद्य-लेखक बतलाया है। चौथे उन्नतिकाल में राजाशिवप्रसाद, राजालक्ष्मणसिंह, दयानंदसरस्वती, भारतेन्दु-हरिश्चन्द्र तथा उनके अन्य साथियों की गिनती की है। पाँचवे प्रचार-काल का प्रारम्भ पं० भीमसेन शर्मा से किया है। इस काल में समाचार-पत्रों एवं मासिक पत्र-पत्रिकाओं ने भाषा के विकास में अधिक कार्य किया। अतः इसका नाम प्रचार-काल रखा है। इस काल के पं० ज्वालाप्रसाद, पं० अम्बिकादत्त व्यास, श्री राधाचरण गोस्वामी, बा० तोताराम तथा हरिऔधजी आदि कितने ही गद्य-लेखक हुए जिन्होंने हिन्दी-गद्य के भंडार को विविध-गद्य शैलियों से परिपूर्ण किया। तदुपरान्त छठा वर्तमान काल आता है, जिसमें हिन्दी-गद्य की बहुमुखी प्रगति देखी जाती है, और विभिन्न क्षेत्रों में गद्यका स्वरूप देखा जाता है। इस काल में आकर हिन्दी-गद्य के अंतर्गत-साहित्य का तो निर्माण हुआ ही, इसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी हिन्दी-गद्य का प्रयोग हुआ और कहानी, नाटक, उपन्यास, जीवनी के अतिरिक्त इतिहास, धर्म-ग्रंथ, विज्ञान, दर्शन, हास्य-रस, भ्रमण-वृत्तान्त, अर्थशास्त्र, समालोचना, आदि पर अनेक अनूठे ग्रंथ हिन्दी-गद्य में लिखे गये तथा बाल-साहित्य भी पर्याप्त मात्रा में लिखा गया और कितनी ही साहित्यिक संस्थाओं और प्रेसों की भी स्थापना हुई, जो हिन्दी की उन्नति के

लिए आजतक प्रयत्नशील हैं। इतना ही नहीं कितना ही पत्र-पत्रिकायें भी हिन्दी में निकलने लगीं जो लगातार हिन्दी-सासित्य की सेवा कर रही हैं।

इस प्रकार 'हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास' के अन्तरगत ७३१ पृष्ठों में भाषा के क्रमिक विकास का इतिहास प्रस्तुत करते हुए उसके साहित्य एवं अन्य विविध क्षेत्रों की प्रगति का समूचा चित्र उपस्थित किया है। आपका ध्यान विशेष रूप से भाषा की ओर ही रहा है और हिन्दी भाषा की विविध शैलियों की चर्चा करते हुए उसके आधुनिक रूप का सम्यक विवेचन किया है। बीच बीच में विवादास्पद विषयों को भी अत्यन्त सरलता के साथ सुबोध बनाया है। उदाहरण के लिए आधुनिक साहित्य क्षेत्र में प्रचलित छायावाद एवं रहस्यमय की विचार धारा पर दिया गया आपका मत उल्लेखनीय है। आपने सभी कवियों की व्याख्या निष्कपटता के साथ की है। आलोचनाओं में गुण और दोष दोनों को सम्यक रूप में दिखाया गया है और आपकी विवेचना पद्धति को देखकर कोई भी विद्वान आपको कुशल व्याख्याता एवं सफल आलोचक कह सकता है। हाँ! इतना अवश्य है, कि आपको सफल इतिहासकार कहने में कुछ संकोच होता है। वैसे अन्वेषण शक्ति आपकी इतनी प्रखर है कि आपने साधारण से साधारण कवि को भी अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखकर उसकी आलोचना की है। साथ ही आप के इस ग्रंथ में कुछ मौलिक विशेषतायें भी हैं। जैसे आपने आर्यों का आदिम स्थान भारतवर्ष ही सिद्ध किया है। तथा वेद आर्यों दीवर्टिक होम एण्ड दि आर्यन क्रेडल इन दि सप्तसिंध, क्रूज़र जैकोलिअट, मिस्टर म्यूर डा० अविनाश चन्द्र दास आदि ग्रंथों और विद्वानों के मत उद्धृत करके अपने मत की पुष्ठि की है। दूसरे भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी विवादास्पद विषय को पूर्णतया बुद्धिसंगत बनाया है। इसके साथ ही हिन्दी भाषा एवं साहित्य के क्रमिक विकास को प्रस्तुत करते हुए उसकी आधुनिकतम प्रगति को भी स्पष्ट रूप में प्रदर्शित किया है। सारा ग्रंथ ही हरिऔध जी के प्रकांड पांडित्य एवं प्रखर प्रतिभा का परिचायक है और हिन्दी भाषा की विविध बोलियों एवं विभाषाओं की विशेषताओं का सांगोपांग वर्णन प्रस्तुत करता

है। वैसे मुख्यतया हिन्दी के साहित्यिक रूप पर ही हरिऔध जी का ध्यान केन्द्रित रहा है। परन्तु प्रारंभ में आपने हिन्दी की विविध बोलियाँ एवं उर्दू से उसके घनिष्ट संबंध की सम्यक व्याख्या की है। भाषण-माला होने के कारण लेखक ने इसे अधिक वैज्ञानिक बनाने की चेष्टा नहीं की। फिर भी समस्त ग्रंथ हरिऔध जी की सफल आलोचना स्पष्ट विवेचना तथा ऐतिहासिक व्याख्या को उपस्थित करता है।

समस्त ग्रंथ की भाषा अत्यन्त सजीव एवं ओजपूर्ण है। वह गंभीरता तथा भावुकता से भी अत्यधिक सजाई गई है। जिसके कारण यह ग्रंथ कहीं कहीं एक सफल गद्य काव्य का स्वरूप धारण कर गया है। उदाहरण के लिए साहित्य की विवेचना वाला प्रकरण देखा जा सकता है। जहाँ पर लेखक के हृदयस्थ भाव विचारों को दबाकर प्रबल हो गये हैं। और लेखक आलोचक की अपेक्षा एक सफल गद्य काव्य निर्माता बन गया है। हरिऔध जी मुख्य रूपेण तो कवि ही हैं। अतः ग्रंथ में कवित्व का आ जाना स्वाभाविक है। परन्तु फिर भी विवेचना के अनुसार गंभीर एवं सरल भाषा का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। विवेचना शैली अत्यन्त सजीव और मार्मिक है तथा व्याख्याओं के अन्दर अत्यन्त स्पष्टता मिलती है। विषयों को विभिन्न शीर्षकों में बाँटकर आपने और भी स्पष्टता उत्पन्न करदी है। इस प्रकार भाषा और विषय संबंधी इन कतिपय विशेषताओं के कारण हरिऔध जी का यह हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास नामक ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी है। और साहित्यिक भाषा के अध्येताओं के लिए एक सफल मार्ग दर्शक है।

(२) 'रस कलस' की भूमिका

हरिऔध जी के विवेचनात्मक साहित्य में आलोचना की प्रौढ़ता एवं प्रांजलता की दृष्टि से 'रस कलस' की भूमिका का द्वितीय स्थान है। आपने जितना गवेषणात्मक अध्ययन 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास नामक ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। उतना ही 'रस कलस' की भूमिका में भी विद्यमान है। आपकी रस संबंधी खोज एवं मौलिक विचारों का संग्रह ही 'रस कलस' की भूमिका है। इस भूमिका के बारे में हम 'रीति ग्रंथकार'

रिऔध' शीर्षक के अन्तरगत संक्षेप में पहले ही विचार कर चुके हैं। यहाँ नः विचार करने का तात्पर्य यह है। कि हरिऔध जी ने इस भूमिका में वेपणात्मक शैली के अन्तर्गत जो आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। ह उनके पांडित्य का कैसा परिचय देता है तथा उसके उपस्थित करने में रिऔध जी के आलोचक स्वरूप का निर्वाह कहाँ तक हुआ है। इसके साथ ी रस विवेचना में वे कहाँ तक सफल रहे हैं? इन सभी बातों को विस्तार के साथ देखेंगे।

इस भूमिका को आपने रस शब्द की व्याख्या से प्रारंभ करके अन्त में ात्सल्य रस की रसवत्ता सिद्ध करके समाप्त किया है। लगभग २३० पृष्ठों ं सारी भूमिका लिखी गई है। जो एक स्वतंत्र पुस्तक की सामग्री से सुसज्जित है। 'रस' शब्दों को व्याख्या करके आपने रस के साधन रस की उत्पत्ति रसास्वादन के प्रकार एवं इसके इतिहास को उपस्थित किया है। इस साधन शब्दों में आपने ध्वन्यात्मक एवं वर्णात्मक शब्दों को विशेष महत्व दिया है तथा तन्मयावस्था की सुन्दरता के साथ विवेचन करके सर्व-साधारण को रस कैसे प्राप्त होता है। इस पर अपनी स्वतंत्र राय दी है। इसके साथ ही नाटक को सबसे अधिक रसात्मक बतलाया है क्योंकि उसमें 'कंठस्वर' मधुर-ध्वनि और वचन रचना के अतिरिक्त वेश-विन्यास भावभंगी कथनशैली इत्यादि का प्रभाव भी हृदय पर पड़ता है। इसी कारण सर्वप्रथम नाटकों के विवेचन में ही रस का नाम मिलता है। तदुपरान्त रसोत्पत्ति के बारे में भरतमुनि के प्रसिद्ध वाक्य——"विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः"—को उद्धृत करते हुए विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारि भाव को नाट्यशास्त्रानुसार समझाया है तथा रामलीला मंडली के उदाहरण रसोत्पत्ति के स्वरूप को स्पष्ट किया है। इसके बाद रस का इतिहास बतलाने के लिए भरतमूनि भट्टलोल्लट शंकुक भट्टनायक काव्यप्रकरणय मम्मट तथा अन्य विद्वानों के मतों को उद्धृत करते हुए बतलाया है कि रस सिद्धांत का निरूपण संस्कृत को छोड़कर किसी भी साहित्य में नहीं मिलता। अंग्रेज़ी अरबी, फारसी और उर्दू में भाव के ही पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। रस

के नहीं।" यहाँ तक हरिऔध जी ने रस का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उसमें संस्कृत ग्रंथों का सहारा ही सबसे अधिक लिया है। परन्तु इसकी सम्यक् व्याख्या नहीं मिलती और न आपने भरतमुनि के रस सूत्र को ही अधिक स्पष्ट किया है। केवल रसास्वादन को अच्छी प्रकार सरल उदाहरण देकर समझा दिया है।

इसके अनन्तर आप सभी रसों की आनन्द-स्वरूपता पर अत्यन्त मार्मिक दृष्टि से विवेचन करते हैं। यहाँ सबसे अधिक विशेषता यह है कि आपने करुण रस के अन्दर होते हुए मनुष्यों के हृदय में भी आनन्द के संचार को रामलीला का उदाहरण देकर बड़ी अच्छी तरह समझाया है। इतना ही नहीं मौलवी अहमद अली का उदाहरण देकर आप लिखते हैं——" वे सहृदय और सुकवि थे। इस (हरिश्चन्द्र) नाटक के करुणस्थलों पर प्रायः उनकी आँखें भर आतीं पर वे खुलकर न रोना चाहते। परिणाम यह होता कि विशेष स्थलों पर चित्त उनको चैन नहीं लेने देता। जब वे खुलकर रो लेते तभी उनको सुख मिलता। सबल प्रवाह को रोक दो, देखो जल कैसे चक्कर में पड़ जाता है। उसको आगे बढ़ने दो उस समय वह अपनी स्वाभाविक गति से मंद-मंद सानन्द बहता दिखलाई पड़ेगा। यह है हरिऔध जी की विवेचन पटुता। आप सरल सा उदाहरण देकर करुण रस की भी आनन्दावस्था को कितनी स्वाभाविकता के हाथ समझाते हैं। ऐसे ही और-और उदाहरण देकर आपने भयानक और वीभत्स रस में भी आनन्द की स्थिति को स्पष्ट किया है। साथ ही रसास्वादन को ब्रह्मानंद के समान सिद्ध करने के लिए अग्निपुराण, काव्यप्रकाश, साहित्य-दर्पण, आदि से उदाहरण दिए हैं। और अन्त में जहाँ शिव,सत्य है, सौंदर्य है, वहाँ ईश्वर की आनन्दमयी सत्ता मौजूद है। कहकर इसको ब्रह्मास्वाद बतलाया है। तथा ब्रह्मास्वाद को ही रस की अन्तिम परिणति बतलाया है।

रस के आस्वाद की व्याख्या करके आपने रसों की संख्या का विवेचन किया है। तथा किस प्रकार पहले चार रसों से आठ रस हुए और पुनः इनकी संख्या नौ निश्चित हुई इस पर सभी साहित्य शास्त्रियों के मत उद्धृत

किए हैं तथा परस्पर विरोधी रसों के स्वरूप को बतलाते हुए रस विरोध के परिहार एवं रस दोषों का उल्लेख किया है। इस विवेचना के आधार रस गंगाधर साहित्य दर्पण तथा काव्य प्रकाश हैं। इसके उपरान्त रसाभास का स्वरूप समझाकर रस सम्बन्धी आवश्यक बातों को समाप्त किया है। इस व्याख्या में कोई विशेष नवीनता नहीं है। केवल उदाहरण देकर किसी बात को स्पष्ट करने में हरिऔध जी ने अपनी प्रतिभा एवं रस-मर्मज्ञता का परिचय दिया है।

इसके अनन्तर हरिऔधजी की शृंगार विषयक विवेचना प्रारंभ होती है जो लगभग ११७ पृष्ठों में है और जिनमें हरिऔधजी ने अपनी स्वतंत्र सम्मति द्वारा शृंगार रस की रसराजता अक्षुण्ण रखते हुए उसके अश्लीलत्व को दूर करने का आग्रह हिन्दी के सभी कवियों से किया है। इन पृष्ठों में शृंगार रस की परिभाषा बतलाकर उसकी व्यापकता एवम् प्रधानता पर स्पष्ट रूप से विचार किया है और सभी रसों की अपेक्षा शृंगार रस को ही महत्व प्रदान किया है। शृंगार रस के बारे में आपका विचार है कि "सांसारिक जीवन में शृंगार सर्वस्व है। सांसारिकता का आधार गार्हस्थ्य जीवन है गार्हस्थ्य पुत्र कल त्रावलम्बित है, पुत्र-कलत्र मूर्तिमन्त शृंगार है, अतएव सांसारिकता का संबल शृंगार है।" तथा आगे चलकर तो यहाँ तक कहा है कि "संस्कृत साहित्य ही नहीं, संसार के साहित्य को भी हाथ में उठाकर यदि आप देखेंगे तो उसमें भी शृंगार रस इसी पद पर आरूढ़ मिलेगा। "ऐसी अवस्था में यदि हिन्दी साहित्य में शृंगार रस कुछ अधिक मात्रा में है तो आश्चर्य क्या।" इस प्रकार शृंगार-रस की महत्ता का प्रतिपादन करके आगे हिन्दी-साहित्य में वर्णित शृंगार की अश्लीलता पर दृष्टि डालते हैं। परन्तु उसके लिए कवियों को दोषी न ठहरा कर तत्कालीन सामाजिक वातावरण को दोष देते हैं। इसके साथ ही नायिका-भेद का इतिहास प्रस्तुत करते हुए अग्निपुराण, साहित्य दर्पण तथा गीत गोविंद में वर्णित नायिका भेद एवम् नायिकाओं के वर्णन का उल्लेख करते हैं। सबसे बड़ी विशेषता आपकी यह है कि इन नायिका-भेद के स्वरूप को आप

अँग्रेजी, फारसी, आदि विदेशी-भाषा की कविताओं से उद्धरण देकर विश्व-व्यापी सिद्ध करते हैं तथा नायिका-भेद के मूल में जो सत्य है उसे वास्तविक सार्वभौम तथा सार्वकालिक बतलाते हैं। इतना अवश्य है कि हमारे यहाँ के काव्य-शास्त्रियों ने उसका विधिवत् वर्गीकरण करके उसे वैज्ञानिक रूप दे दिया है, जबकि अन्य देशों के विद्वान आजतक ऐसा नहीं कर सके हैं।

बीच में आप कुछ साहित्य एवम् कला के बारे में भी विचार करते हैं और विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई काव्य की परिभाषाओं को उद्धृत करते हुए साहित्य एवम् कला के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। इस विवेचन में आपकी गहन अध्ययनशीलता विद्यमान है। कला के इस प्रकार सम्यक् विवेचना द्वारा आप पुनः हिन्दी साहित्य नायिका भेद को बावन तोले पाव रत्ती ठीक बतलाते हैं और नायिका-भेद की समस्त कविताओं को कला की कसौटी पर खरी सिद्ध करते हैं। परन्तु आगे चलकर बतलाते हैं कि "मर्यादा और शिष्टता सभ्यता की सहचारी है, उनकी रक्षा से ही मानवता की शोभा होती है।" अतः मानवता एवम् सभ्यता की रक्षा के लिए मर्यादित वर्णन ही सर्वथा उपयुक्त होता है। स्वकीया में सच्ची लगन, पति-प्रेम तथा उदात्त भावनायें होती हैं और परकीया में प्रेमजन्य व्याकुलता अधिक होती है। अतः दोनों के स्वरूप-चित्रण में यदि निष्कपटता है, उसमें कहीं भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं तो है तो वे चित्रण सदैव सर्वमान्य होंगे। परन्तु रीतिकाल के कुछ कवियों ने शृंगार रस का अमर्यादित वर्णन करके श्रीकृष्ण और राधा के चरित्र को भी साधारण स्त्री-पुरुष की भाँति अंकित किया। इस प्रकार पवित्र शृंगार रस का दुरुपयोग करके ब्रजभाषा को कलंकित बनाया और सबसे अधिक खेद की बात यह है कि "ऐसी धृष्टता उन्हीं कवियों के हाथ से अधिकतर हुई जिन्होंने नायिका-भेद के ग्रंथ लिखे। उन्हीं लोगों के कारण ही आजकल नायिका-भेद की रचनाओं की इतनी कुत्साह हो रही है।" इस प्रकार रीतिकालीन नायिका-भेद की भर्त्सना करते हुए, शृंगार-रस की वास्तविकता को समझाते हैं और रीतिकालीन कतिपय कविताओं के कारण शृंगार रस से नाकभौं सिकोड़ने वाले

लोगों को शृंगार रस का स्वरूप समझाते हैं और उन्हें सच्चे शृंगार-रस की कविता पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

तदनन्तर आपने वात्सल्य रस की बड़ी मार्मिक व्याख्या करके उसकी रसवत्ता सिद्ध की है। यद्यपि आपने उसे १० वाँ रस मान लिया है, परन्तु अपने ग्रंथ में उसे स्थान नहीं दिया। यहाँ भूमिका में अनान्य विद्वानों के मत उद्धृत करते हुए तथा सरस कवियों की मधुर वात्सल्य रस पूर्ण कविताओं से उदाहरण देकर वात्सल्य रस का हृदय पर व्यापक अधिकार दिखलाया है और वात्सल्य रस की ही कविता का प्रधान्य हिन्दी-साहित्य में दिखलाया है। परन्तु वात्सल्य को केवल भाव ही मानने के लिए खेद प्रगट किया है तथा इसकी उन्नति के लिये अभिलाषा प्रकट की है:—"आज कल बाल-साहित्य के प्रचार के साथ वात्सल्य रस की विभिन्न प्रकार की सरस रचनाओं का भी प्राचुर्य्य है। ज्ञात होता है, कुछ दिनों में शृंगार, हास्य वीर आदि कतिपय बड़े-बड़े रसों को छोड़कर इस विषय में भी वात्सल्य रस अन्य साधारण रसों से आगे बढ़ जायगा।"

इस प्रकार 'रसकलस' की भूमिकामें अत्यन्त गवेषणात्मक शैली के अन्तर्गत रस-संबंधी विचारों को प्रकट किया है। यहाँ हरिऔधजी की रस-मर्मज्ञता के साथ-साथ गहन अध्ययन शीलता तथा विषय की पूर्ण जानकारी स्पष्ट प्रतीत होती है। भाषा-शैली इतनी सजीव, सुबोध एवम् प्रभावोत्पादक है कि साधारण पाठक भी रस के मर्म को समझ सकता है तथा उनके शृंगार-संबंधी नवीन विचारों से संतुष्ट होकर शृंगारी कविताओं में भी आनन्द ले सकता है। इस भूमिका में आपकी आलोचनात्मक व्याख्या के प्रकांड पांडित्य की झलक विद्यमान है तथा इसके आधार पर भी आप एक सफल आलोचक एवम् कुशल व्याख्याता सिद्ध होते हैं। आपके तर्क एवम् प्रमाण इतने उपयुक्त हैं कि उन्हें देखकर आपकी विवेचन-कुशला बुद्धि की सराहना किये बिना नहीं रहा जाता। यही कारण है कि पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने आपकी भूमिका पढ़कर लिखा है:—"यह पूर्वार्द्ध (रसकलस की भूमिका) भी अपनी विशिष्ट महत्ता और सत्ता रखता है। और अनि-

वार्य रूप से अवलोकनीय, विचारणीय, और ग्रहणीय, या अनुसरणीय है। इसमें व्रजभाषा तथा इसके काव्य पर प्रायः जो अनर्गल आक्षेप किए जाते हैं और जिन्हें प्रमाणिक, तर्क प्रमाण शून्य, ईर्षा-द्वेष-जन्य तथा निराधार या निरर्थक समझकर व्रजभाषा-प्रेमी विद्वान् उपेक्षा के ही साथ देखते सुनते आये हैं, उनके उत्तर बड़ी सतर्कता योग्यता, और गंभीरता से दिये गये हैं और व्रजभाषा की महान् महत्ता-सत्ता का पांडित्यपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। बड़ी ही न्याय-प्रियता, निष्पक्षता तथा युक्ति के साथ उसके पक्ष का विपक्ष-कृत वितंडावाद के समक्ष समर्थन भी किया गया है। इससे खड़ी बोली के विद्वान् विधायक आचार्य उपाध्यायजी का व्रजभाषा में विशद एवम् मार्मिक अध्ययन, तथा ज्ञानानुभव स्पष्टतया प्रकट होता है। इसी प्रकार इसी भूमिका में आपने शृंगार-रस पर किये जाने वाले कड़े कटाक्षों की भी निस्सारता और निर्मूलता दिखलाई है और उसे सतर्क रस-राज सिद्ध किया है। ऐसा करके उपाध्यायजी ने भूले हुए नवयुवकों की आँखें खोल दी हैं और उन्हें व्रजभाषा तथा उसके शृंगारात्मक काव्य-कौशल का सच्चा मर्म समझा दिया है, अब कोई समझे या न समझे, माने चाहे न माने।"

(३) कबीर वचनावली की भूमिका

आपने विवेचनात्मक साहित्य में 'कबीर वचनावली' का 'मुखबंध' तृतीय स्थान का अधिकारी है। यह 'मुखबंध' भूमिका का ही दूसरा नाम है। यहाँ हम हरिऔधजी को विशुद्ध अलोचक के रूप में देखते हैं। हरिऔधजी ने स्वयं अपने 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' नामक ग्रंथ में आलोचक के कर्त्तव्यों का निर्देश करते हुए लिखा है:—"समालोचक योग्य मालाकार समान है, जो वाटिका के कुसुमित पल्लवित पौधों, लतावेलियों, यहाँ तक कि रविश पर की हरी-भरी घासों को की काट–छांटकर ठीक करता रहता है, और उनको यथा रीति पनपने का अवसर देता है। समालोचक का काम बड़े उत्तरदायित्व का है। उसको सत्य प्रिय होना चाहिए, उसका सिद्धान्त 'शत्रोरपि गुणावाच्या दोषा वाच्य गुरोरपि' होता है। × × × समालोचक की तुला ऐसी होनी चाहिए जो ठीक-ठीक तौले। तुला के पलड़े को

अपनी इच्छानुसार नीचा-ऊंचा न बनावे।[१]" इन कतिपय विशेषताओं के आधार पर हम कबीर वचनावली की भूमिका में हरिऔधजी के विवेचन को देखते हैं तो वे एक सफल मालाकार की ही भाँति वहाँ दिखाई देते हैं। उनकी व्याख्या-पद्धति एवं विवेचना शैली इतनी गंभीर एवं मार्मिक है कि विषय का पूर्ण प्रतिपादन तथा एक कवि का पूरा जीवन-वृत्त आप लगभग १०६ पृष्ठों में बड़ी सफलता के साथ उपस्थित कर देते हैं। सारी भूमिका कबीरदासजी की विवेचना से ही परिपूर्ण है तथा हरिऔधजी की प्रभावोत्पादक-शैली से सुसज्जित है। आपने यहाँ कबीरदासजी के जीवन-परिचय से लेकर उनके शील और आचार, धर्मप्रचार, विरोधी-दल तथा अंतिमकार्य का बड़ा ही सराहनीय विवेचन किया है। इसके साथ ही 'ग्रंथावली' में संगृहीत पद एवं साखियों के आधार पर लगभग ८० पृष्ठों में कबीरदासजी के विचारों की मार्मिक समालोचना की है, जो आपके आलोचक रूप की स्पष्ट परिचायिका है तथा जिसमें कबीर दासजी के पंथ एवम् धार्मिक विचारों का स्पष्टीकरण भी बड़ी गंभीरता के साथ किया गया है।

कबीरदासजी के जन्म एवं जन्म स्थान के बारे में वेस्कर साहब, बा० मन्मथनाथदत्त तथा अन्य किवदंतियों के आधार पर प्रचलित मतों का उल्लेख करते हुए अपना मत निश्चित किया है कि ये काशी में नीमा और नीरू के घर ही उत्पन्न हुए थे, तथा विधवा-ब्राह्मणी संबंधी जन्म-कथा को केवल मनगढ़ंत एवं कबीर को गौरव-प्रदान करने वाली बतलाया है। इसके उपरान्त तर्क-पूर्ण विवेचन के साथ कबीर को शेखतकी आदि का शिष्य न बताकर स्वामी रामानंद का ही शिष्य बतलाया है, किन्तु चरणों से स्पर्श होने पर मंत्र-ग्रहण करनेवाली वार्त्ता को अनर्गल सिद्ध किया है। आगे कबीरदास का विवाह लोई से सिद्ध करके कमाल तथा कमाली को कबीर का पुत्र एवं पुत्री, बतलाया है पुनः कबीर के सदाचरण का उल्लेख करके आपने उनकी समाज-सेवा तथा धर्म प्रचार संबंधी बातों को बड़ी सतर्कता के साथ समझाया है तथा विरोधी-दल का भी उल्लेख किया है। जीवनी के

(१) हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास पृ०—७२०।

अंत में कबीर की मृत्यु संबंधी घटना का उल्लेख करके तथा शव के स्थान पर फूलों के ढेर वाली बात को सत्य कहकर गुरु नानक के बारे में भी यही बतलाया है कि "गुरु नानक के शव के विषय में भी ठीक ऐसी ही घटना हुई।" यहाँ हो सकता है कि लेखक ने कबीर तथा गुरुनानक को एक कोटि में रखकर उनकी महत्ता सिद्ध की हो, परन्तु इतना अवश्य है कि ये घटनाएँ लोक-प्रसिद्ध हैं। अतः इनके बारे में आशंका प्रकट करना लेखक ने भी उचित नहीं समझा।

तदुपरान्त 'ग्रंथावली' पर प्रकट किए हुए विचारों का उल्लेख मिलता है। आपने प्रो० बी० बी० राय, अक्षयकुमारदत्त तथा श्री वेस्कट साहब के मतानुसार कबीर के समय में ही कबीर ग्रंथों का निर्माण होना असिद्ध बतलाया है तथा कबीर के मरने के उपरान्त ही उनके ग्रंथों का संग्रह होना सिद्ध किया है। कबीर के २१ ग्रन्थों की चर्चा करते हुए आपने केवल दो ग्रन्थों को मौलिक बतलाया है और उन्हीं के आधार पर अपना यह 'कबीर वचनावली' नामक संग्रह संग्रहीत किया है। ये दो ग्रन्थ हैं—एक बीजक और दूसरा चौरासी अंग की साखी! कबीर के अधिकांश ग्रंथों की कविता को साधारण बतलाया है; परन्तु कहीं-कहीं पूर्वी भाषा में लिखे हुए सरस पद्यों का भी उल्लेख किया है, जिनमें छंदों-भंग अधिक मात्रा में है, तथा कहीं-कहीं अश्लीलता भी अत्यधिक विद्यमान है। कबीर की समस्त कविता की भाषा असंयत बतलाई है तथा इनके ग्रंथों का आदर कविता की दृष्टि से नहीं अपितु विचारों की दृष्टि से बतलाया है। इसके उपरान्त कबीर पंथी १२ सज्जनों का परिचय देते हुए उनके द्वारा विस्तारित कबीर पंथी शाखाओं का उल्लेख किया है तथा सन् १९०१ ई० में कबीर पंथियों की जनसंख्या ८,४३,१७१ बतलाई है। अधिकांश नीच वर्ण के लोगों को ही कबीर का पंथ स्वीकार करते हुए सिद्ध किया है तथा हिन्दू सम्प्रदायों से उनका वैमनस्य एवम् द्वेष बतलाया है, हरिऔधजी ने लिखा है कि कबीरदासजी ने जो हिन्दू वेद शास्त्रों एवम् अन्य ग्रंथों का खंडन किया है वह किसी दो कबीर पंथियों के मत से उनके शिष्यों की करतूत है। आपने

कितने ही पद उद्धृत करके शिष्यों द्वारा किये हुए नाम परिवर्त्तन को दिखलाया है तथा वेस्कट साहब से सहमत होकर कबीर की शिक्षाओं को अधिकतर हिन्दू आकार में ढला हुआ सिद्ध किया है। उनके धार्मिक विचारों का उल्लेख करते हुए हरिऔधजी ने कबीर को "एकेश्वरवाद, साम्यवाद, भक्तिवाद, जन्मान्तरवाद, अहिंसावाद और संसार की असारता का प्रतिपादक, एवं मायावाद, अवतारवाद, देववाद, हिंसावाद, मूर्तिपूजा, कर्मकांड, व्रत-उपवास, तीर्थयात्रा और वर्णाश्रम धर्म का विरोधी" बतलाया है। कबीर के एकेश्वरवाद की व्याख्या करते हुए "उनका ईश्वर, ब्रह्म, पारब्रह्म, निर्गुण, सगुण सब के परे" सत्यलोक का निवासी माना है।

कबीर की विचार-धारा पर हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई तीनों धर्मों का थोड़ा, बहुत प्रभाव सिद्ध किया है, परन्तु इनकी ईश्वर की कल्पना वैष्णव विचारधारा के सर्वथा अनुकूल है तथा कबीर के ईश्वर को वैष्णवधर्म के एकेश्वरवाद का रूपांतर मात्र ही बतलाया है। इतना ही नहीं कबीर की भक्ति-पद्धति पर रामानंद का प्रभाव सिद्ध करते हुए उसे वैष्णव धर्म के रंग से रंगी हुई बतलाया है। कबीर ने धार्मिक असहिष्णुता एवं सामाजिक अनाचार तथा अत्याचार को दूर करने के लिए जो सराहनीय कार्य किया, उसकी बड़ी प्रशंसा की है और उनकी कटूक्तियों को शर्करा मिली कडुवी औषधि कहा है। उनके विचारों में क्रान्तिकारी भावना का समावेश बतलाकर हरिऔधजी ने लिखा है कि कबीर ने एक नवीन धर्म स्थापन की लालसा से ही ऐसा किया था"। परन्तु कबीर के अन्तस्थल की भावना ऐसी नहीं दिखाई देती। वे तो समाज में सुव्यवस्था स्थापित करना चाहते थे और इसी के लिए उन्होंने उपदेश दिये तथा समाज को सच्चे मार्ग पर चलने के लिए बाध्य किया।

अंत में उनके क्रान्तिकारी विचारों का उल्लेख करते हुए कबीर को वैष्णव धर्म एवं वेदान्त दर्शन का ऋणी बतलाया है और उनकी बातों को शान्त चित्त होकर मनन करने के लिए पाठकों से आग्रह किया है। हरिऔधजी की यह आलोचना यद्यपि एक कवि-विशेष के जीवन एवं काव्य से

संबंध रखती है, परन्तु विद्वान लेखक ने अन्य आवश्यक उद्धरण देकर समस्त हिन्दू धर्म एवं वैष्णव-आचार-विचारों का भी अच्छा दिग्दर्शन कराया है। साथ ही मूर्तिपूजा आदि पर शास्त्रानुमोदित विचार शृंखला उद्धृत करके अपने हार्दिक विचारों को भी व्यक्त किया है।

इस प्रकार 'कबीर बचनावली' की भूमिका में कबीर का गंभीरतापूर्ण विवेचन करके लेखक ने अपनी विद्वत्ता एवं कार्य-कुशलता का परिचय दिया है। भाषा इतनी सशक्त तथा प्रौढ़ है कि विचारों को प्रकट करने में तनिक भी असमर्थता दिखाई नहीं देती और सर्वत्र एक संतुलित विचार धारा का अविरल प्रवाह प्रवाहित हुआ दिखाई देता है। यहाँ पर हरिऔधजी की गवेषणात्मक-शैली के साथ भाव-प्रवण तर्कपूर्ण शैली के भी दर्शन होते हैं। विद्वान् लेखक ने आलोचक के कार्य का निर्वाह अच्छी तरह किया है, तथा वर्ण्य विषय के आधार पर अन्य-विद्वानों के मत उद्धृत करते हुए कबीर की विचार-धारा को स्पष्ट किया है। यहाँ कबीर के काव्य-पक्ष का विवेचन तनिक भी नहीं मिलता। वैसे कबीर में काव्य-पक्ष भी कहीं-कहीं अत्यंत सुन्दर है और उसका विवेचन भी होना चाहिए था, परन्तु काव्य की अपेक्षा विचारों का प्राधान्य होने के कारण सारी भूमिका में कबीर के विचारों की ही सम्यक् समीक्षा मिलती है। इस समीक्षा में हरिऔधजी की निष्कपटता, सत्यप्रियता, विवेचन-कुशलता तथा संतुलित व्याख्या-पद्धति के भली प्रकार दर्शन होते हैं।

(४) 'बोलचाल' की भूमिका

हरिऔधजी के सभी ग्रंथों की भूमिकाओं की अपेक्षा 'बोल चाल' ग्रंथ की भूमिका आकार में बड़ी है। यह भूमिका २४९ पृष्ठों में समाप्त हुई है और 'ठेठ हिन्दी' सम्बन्धी हरिऔधजी की विचारधारा से युक्त होकर चौपदों एवं मुहावरों के ऊपर एक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करती है। विद्वान लेखक ने इस भूमिका को दो भागों में विभक्त किया है; प्रथम भाग में बोलचाल की भाषा, ठेठ-हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी भाषा की उत्पत्ति संबंधी सम्यक् समीक्षा की गई है और उर्दू में प्रयुक्त होने वाले 'बहर' छंद का गंभीरता पूर्वक

विवेचन किया है। दूसरा भाग पूर्णतया मुहावरों के ऊपर ही लिखा गया है और मुहावरों के रूपों की सम्यक् समीक्षा करके उनकी साधुता-असाधुता पर विचार प्रकट किये हैं। यह सारी भूमिका भी एक स्वतंत्र ग्रन्थ की सामग्री से सुसज्जित है और लेखक ने अपनी प्रतिभा एवं विद्वता द्वारा विषय का बड़ी सफलता के साथ प्रतिपादन किया है।

प्रथम भाग में बोल-चाल की भाषा तथा ठेठ हिन्दी के स्वरूप को समझाते हुए आपने लिखा है कि "ठेठ हिन्दी" संस्कृत की पौत्री है. हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत पुत्री प्राकृत और प्राकृत की पुत्री ठेट हिन्दी है।" ठेठ हिन्दी में किसी अन्य व विदेशी भाषा के शब्दों का आना आप उचित नहीं समझते; उसे आप केवल संस्कृत के तद्भव-शब्दों से बनी हुई बोलचाल की भाषा बतलाते हैं। आगे ठेठ हिन्दी अथवा बोलचाल की भाषा के उदाहरण देते हुए ठेठ हिन्दी के लेखकों का सर्वथा अभाव बतलाया है तथा स्वयं भारतेन्दु बाबू जैसे 'ठेठ हिन्दी' के समर्थक को भी संस्कृत के तत्सम् शब्द प्रधान हिन्दी लिखने वाला सिद्ध किया है। हिन्दुस्तानी भाषा की उत्पत्ति के कारणों पर विचार प्रकट करते हुए आपने हिन्दुस्तानी को उर्दू-फ़ारसी के शब्दों से परिपूर्ण बोलचाल से दूर की भाषा कहा है। इसके अनंतर हिन्दी-भाषा को आपने चार भागों में विभक्त किया है—(१) ठेठ हिन्दी, (२) बोलचाल की भाषा, (३) सरल हिन्दी भाषा और (४) उच्च हिन्दी अथवा संस्कृत गर्भित हिन्दी। यहाँ ठेठ हिन्दी से तात्पर्य केवल तद्भव-शब्दों में लिखी हुई भाषा से है, बोलचल की भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द भी आसकते हैं; सरल हिन्दी में ठेठ हिन्दी तथा बोलचाल में शब्दों के अतिरिक्त कुछ अप्रचलित संस्कृत तत्सम शब्द भी रहते हैं और उच्च-हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की ही अधिकता रहती है। यह वर्गीकरण तत्कालीन प्रचलित भाषा को देखकर बा० हरिश्चन्द्र के 'हिन्दी भाषा' नामक पुस्तक के आधार पर किया है।

आगे चलकर आपने बोलचाल की भाषा में ही कविता करने के लिए आग्रह किया है और उस कविता की विशेषतायें बतलाते हुए उसमें मधुर

संबंध रखती है, परन्तु विद्वान लेखक ने अन्य आवश्यक उद्धरण देकर समस्त हिन्दू धर्म एवं वैष्णव-आचार-विचारों का भी अच्छा दिग्दर्शन कराया है। साथ ही मूर्तिपूजा आदि पर शास्त्रानुमोदित विचार शृंखला उद्धृत करके अपने हार्दिक विचारों को भी व्यक्त किया है।

इस प्रकार 'कबीर वचनावली' की भूमिका में कबीर का गंभीरतापूर्ण विवेचन करके लेखक ने अपनी विद्वत्ता एवं कार्य-कुशलता का परिचय दिया है। भाषा इतनी सशक्त तथा प्रौढ़ है कि विचारों को प्रकट करने में तनिक भी असमर्थता दिखाई नहीं देती और सर्वत्र एक संतुलित विचार धारा का अविरल प्रवाह प्रवाहित हुआ दिखाई देता है। यहाँ पर हरिऔधजी की गवेषणात्मक-शैली के साथ भाव-प्रवण तर्कपूर्ण शैली के भी दर्शन होते हैं। विद्वान् लेखक ने आलोचक के कार्य का निर्वाह अच्छी तरह किया है, तथा वर्ण्य विषय के आधार पर अन्य-विद्वानों के मत उद्धृत करते हुए कबीर की विचार-धारा को स्पष्ट किया है। यहाँ कबीर के काव्य-पक्ष का विवेचन तनिक भी नहीं मिलता। वैसे कबीर में काव्य-पक्ष भी कहीं-कहीं अत्यंत सुन्दर है और उसका विवेचन भी होना चाहिए था, परन्तु काव्य की अपेक्षा विचारों का प्राधान्य होने के कारण सारी भूमिका में कबीर के विचारों की ही सम्यक् समीक्षा मिलती है। इस समीक्षा में हरिऔधजी की निष्कपटता, सत्यप्रियता, विवेचन-कुशलता तथा संतुलित व्याख्या-पद्धति के भली प्रकार दर्शन होते हैं।

(४) 'बोलचाल' की भूमिका

हरिऔधजी के सभी ग्रंथों की भूमिकाओं की अपेक्षा 'बोल चाल' ग्रंथ की भूमिका आकार में बड़ी है। यह भूमिका २४६ पृष्ठों में समाप्त हुई है और 'ठेठ हिन्दी' सम्बन्धी हरिऔधजी की विचारधारा से युक्त होकर चौपदों एवं मुहावरों के ऊपर एक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करती है। विद्वान लेखक ने इस भूमिका को दो भागों में विभक्त किया है; प्रथम भाग में बोलचाल की भाषा, ठेठ-हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी भाषा की उत्पत्ति संबंधी सम्यक् समीक्षा की गई है और उर्दू में प्रयुक्त होने वाले 'बहर' छंद का गंभीरता पूर्वक

विवेचन किया है। दूसरा भाग पूर्णतया मुहावरों के ऊपर ही लिखा गया है और मुहावरों के रूपों की सम्यक् समीक्षा करके उनकी साधुता-असाधुता पर विचार प्रकट किये हैं। यह सारी भूमिका भी एक स्वतंत्र ग्रन्थ की सामग्री से सुसज्जित है और लेखक ने अपनी प्रतिभा एवं विद्वता द्वारा विषय का बड़ी सफलता के साथ प्रतिपादन किया है।

प्रथम भाग में बोल-चाल की भाषा तथा ठेठ हिन्दी के स्वरूप को समझाते हुए आपने लिखा है कि "ठेठ हिन्दी" संस्कृत की पौत्री है. हम यह कह सकते हैं कि संस्कृत पुत्री प्राकृत और प्राकृत की पुत्री ठेट हिन्दी है।" ठेठ हिन्दी में किसी अन्य व विदेशी भाषा के शब्दों का आना आप उचित नहीं समझते; उसे आप केवल संस्कृत के तद्भव-शब्दों से बनी हुई बोलचाल की भाषा बतलाते हैं। आगे ठेठ हिन्दो अथवा बोलचाल की भाषा के उदाहरण देते हुए ठेठ हिन्दी के लेखकों का सर्वथा अभाव बतलाया है तथा स्वयं भारतेन्दु बाबू जैसे 'ठेठ हिन्दी' के समर्थक को भी संस्कृत के तत्सम् शब्द प्रधान हिन्दी लिखने वाला सिद्ध किया है। हिन्दुस्तानी भाषा की उत्पत्ति के कारणों पर विचार प्रकट करते हुए आपने हिन्दुस्तानी को उर्दू-फ़ारसी के शब्दों से परिपूर्ण बोलचाल से दूर की भाषा कहा है। इसके अनंतर हिन्दी-भाषा को आपने चार भागों में विभक्त किया है—(१) ठेठ हिन्दी, (२) बोलचाल की भाषा, (३) सरल हिन्दी भाषा और (४) उच्च हिन्दी अथवा संस्कृत गर्भित हिन्दी। यहाँ ठेठ हिन्दी से तात्पर्य केवल तद्भव-शब्दों में लिखी हुई भाषा से है, बोलचल की भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द भी आसकते हैं; सरल हिन्दी में ठेठ हिन्दी तथा बोलचाल मे शब्दों के अतिरिक्त कुछ अप्रचलित संस्कृत तत्सम शब्द भी रहते हैं और उच्च-हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की ही अधिकता रहती है। यह वर्गीकरण तत्कालीन प्रचलित भाषा को देखकर बा० हरिश्चन्द्र के 'हिन्दी भाषा' नामक पुस्तक के आधार पर किया है।

आगे चलकर आपने बोलचाल की भाषा में ही कविता करने के लिए आग्रह किया है और उस कविता की विशेषतायें बतलाते हुए उसमें मधुर

कोमल कान्त पदावली के लिए अधिक जोर दिया है। आपका कविता सम्बन्धी विवेचन अत्यन्त गूढ़ एवं मार्मिक है। कितने ही विद्वानों के विचारों को उद्धृत करके आपने कविता के लिए कुछ बातें अत्यन्त आवश्यक बतलाई हैं जिनमें 'रसानुकूल और भाव के अनुसार शब्द-चित्रों तथा सरस एवं सुबोध शब्द-रचना और वाक्य विन्यास का होना अनिवार्य बतलाया है। प्रायः देखा यह जाता है कि कविता की भाषा बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न अवश्य होती है, परन्तु कहीं-कहीं तो यह भिन्नता अत्यधिक बढ़ जाती है। इसे हरिऔधजी उचित नहीं समझते। उनका मत तो यह है कि "कविता की भाषा जितनी ही बोलचाल के समीप होगी, उतनी ही सुन्दर और बोधगम्य होगी'। परन्तु आपका 'प्रियप्रवास' इसके अपवाद स्वरूप है। आप उर्दू की उसी कविता को अधिक पसंद करते हैं जो बोलचाल के अधिक निकट होती है। वैसे आपकी राय में अधिकांश उर्दू की कवितायें बोल-चाल के ही निकट हैं। कविता में मुहावरे जान डाल देते हैं। अतः मुहावरों के प्रयोग के कारण ही उर्दू की कविता अधिक सजीव होती है, जबकि हिन्दी में उतनी सजीवता नहीं दिखाई देती।

प्रयोग करने के लिए अाग्रह करते हुए आपने बतलाया है कि इन वहों को हिन्दी के मात्रिक छंदों के समान दीर्घ और ह्रस्व का ठीक-ठीक विचार करके प्रयोग करना चाहिए तथा शब्दों को अधिक विकृत न करके छन्दोगति का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। इतना विवेचन करने के उपरान्त आपकी भूमिका का दूसरा भाग प्रारम्भ होता है।

इस दूसरे भाग में 'मुहावरा' शब्द की व्युत्पत्ति, उसकी व्याख्या तथा उसका ठीक-ठीक अर्थ समझाते हुए आपने संस्कृत-साहित्य से कितने ही मुहावरों के उदाहरण उद्धृत किए हैं। मुहावरा सम्बन्धी विभिन्न विद्वानों की धारणा का भी उल्लेख आपने बड़ी गंभीरतापूर्वक किया है तथा मुहावरे से व्याप्त लाक्षणिकता एवम् व्यंग्य अर्थ की महत्ता का प्रतिपादन किया है। मुहावरे का अविर्भाव कैसे हुआ इस प्रश्न पर विचार करते हुए आपने अपना मत प्रकट किया है जो अत्यन्त मार्मिक एवम् उपयुक्त है। आप कहते हैं—"अनेक अवसर ऐसे उपस्थित होते हैं, जब मनुष्य अपने मन के भावों को कारण-विशेष से सकेत अथवा इंगित किम्वा व्यंग द्वारा प्रकट करना चाहता है। कभी कई एक ऐसे भावों को थोड़े शब्दो में विवृत करने का उद्योग करता है, जिनके अधिक लम्बे चौड़े वाक्यों का जाल छिन्न करना उसे अभीष्ट होता है। प्रायः हास परिहास, घृणा, आवेग, उत्साह आदि के अवसर पर उस प्रवृति के अनुकूल वाक्य-योजना होती देखी जाती है। सामायिक अवस्था और परिस्थिति का भी वाक्य-विन्यास पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है। और इसी प्रकार के साधनों से मुहावरों का अविर्भाव होता है।" आपने इस कथन की पुष्टि के लिए स्मिथ आदि विद्वानों के मत भी उद्धृत किऐ हैं।

आगे चलकर आपने मुहावरो के रूपान्तरों पर विचार प्रकट किये हैं। कितने ही संस्कृत के मुहावारे हिन्दी मे प्रचलित हो गये हैं। जैसे कर्णौ लगनि' का 'कान लगाना', 'घास मुष्टिमपि' का मुट्ठी भर घास, 'कर्णमुत्पाटयामि' का कान उखाड़ना तथा मुखेपु मुद्रा का मुँह पर मुहर लगाना रूपान्तर हो गया है। इसी प्रकार बहुत से अरबी-फारसी के भी मुहावरों का

भी हिन्दी रूपान्तर देखा जाता है। आगे चलकर आपने कहावत तथा मुहावरे का भेद स्पष्ट किया है और लिखा है:—"मुहावरों के वाक्य काल, पुरुष, वचन और व्याकरण के अन्य अपेक्षित नियमों के अनुसार यथा संभव बदलते रहते हैं, किन्तु कहावतों के वाक्यों में यह बात नहीं पाई जाती, वे एक प्रकार स्थिर होते हैं। मुहावरों का प्रयोग जैसे असंकोच भाव से साधारण वाक्यों में होता है, वैसे कहावतों का नहीं; उनके लिए विशेष वाक्य प्रयोजनीय होते हैं। लाक्षणिक अर्थ के विषय में दोनों में बहुत कुछ समानता है, किन्तु दोनों की परिवर्तन शीलता और स्थिरता में बड़ा अंतर है, और वे ही विशेष बातें एक को दूसरे से अलग करती हैं। × × × एक विशेष बात मुहावरों और कहावतों में अन्तर की यह पायी जाती है कि सम्पूर्ण कहावतों का अन्तर्भाव लोकोक्ति अलंकार में हो जाता है। × × × मुहावरों के लिए यह नियम नहीं है, वे लक्षणा और व्यंजना पर अवलम्बित रहते हैं; अतएव लगभग कुल अलंकार मुहावरों में आजाते हैं।" मुहावरों में प्रायः देखा जाता है कि शब्द परिवर्तन करते ही उनका लाक्षणिक एवं व्यंग्य अर्थ गायब हो जाता है। अतः अधिकांश कवियों में शब्द परिवर्तन नहीं मिलता। यदि एक 'जियकी जरनि' कहेगा तो दूसरा 'जीके जरन' कह देगा और कोई अन्तर नहीं मिलेगा। परन्तु फिर भी कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहां मुहावरों में शब्द परिवर्तन किये गये हैं और जो कवि की निरंकुशता प्रकट करते हैं।

दक हैं तथा लेखक के प्रकाण्ड पांडित्य एवम् भाषा की अनुपम जानकारी का द्योतक है। यहाँ लेखक ने स्पष्ट रूप में संस्कृत, फारसी, अँग्रेजी आदि भाषाओं के अखंड ज्ञान को अभिव्यक्त किया है और संतुलित विचारों की अनुपम धारा प्रवाहित की है। लेखक की पुष्ट आलोचना-पद्धति एवम् विवेचन कुशलता का स्पष्ट और प्रांजल रूप 'बोलचाल' की भूमिका में भी विद्यमान् है। यहाँ लेखक तुलनात्मक प्रणाली का प्रयोग करता हुआ अत्यंत प्रभावपूर्ण ढंग से अपने मत का प्रतिपादन करता है और पाठक को बरबस अपनी बात को मानने के लिए बाध्य कर देता है।

इस प्रकार उपर्युक्त चार स्थानों पर हम हरिऔध जी की विवेचनात्मक आलोचनाओं का प्रांजल एवम् प्रौढ़ स्वरूप देखते हैं। आपने अपनी इन आलोचनाओं में सचाई के साथ तर्कपूर्ण भाषा में विचारों को व्यक्त किया है और एक आलोचक के कर्त्तव्य को सफलता के साथ निबाहा है। प्रत्येक आलोचना पांडित्यपूर्ण है और हरिऔधजी की सफल आलोचना-पद्धति एवम् बृहद् ऐतिहासिक ज्ञान की परिचायक है। सचाई, न्याय-प्रियता, निष्कपटता, सुगमता, आदि गुण प्रत्येक आलोचना में विद्यमान हैं तथा लेखक की विद्वता एवम् पैनी सूझ प्रत्येक स्थल पर झाँकती हुई दृष्टि आती है। अतः हम निर्विवाद रूप से हरिऔधजी को एक सफल आलोचक एवम् कुशल इतिहासकार कह सकते हैं।

६—खड़ी बोली हिन्दी के विकास में हरिऔधजी का योग

भाषा भाव और विचारों की अभिव्यक्ति का साधन है। बिना भाषा के हम अपने हृदयस्थ भावों एवम् विचारों को दूसरों के सम्मुख प्रकट करने में असमर्थ रहते हैं। आदि-काल में जबतक भाषा का निर्माण नहीं हुआ था तबतक भले ही मनुष्य संकेतों या अन्य किसी पद्धति द्वारा अपने विचार प्रकट करता रहा हो, परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ जैसे ही भाषा का भी प्रादुर्भाव हुआ तब से मनुष्य बराबर किसी न किसी भाषा के माध्यम से अपने विचारों एवं भावों को प्रकट करता चला आरहा है और आज भाषा हमारे जीवन का एक प्रमुख अंग बन गई है।

भारतवर्ष में कितनी ही भाषायें प्रचलित हैं और उनमें से कितनी ही अत्यन्त सजीव एवं समृद्ध हैं। परन्तु यहाँ हम केवल खड़ी बोली हिन्दी के विकास को देखने की चेष्टा करेंगे और देखेंगे कि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने खड़ी बोली के विकास में कहां तक और कैसा सहयोग दिया है? 'खड़ी बोली' के बारे में कहा जाता है कि पहले यह मेरठ तथा उसके आस पास के गाँवों में बोली जाने वाली एक बोली विशेष थी; परन्तु मुसलमानों का सम्पर्क पाकर उनकी राजसत्ता के साथ-साथ भारतवर्ष में विकसित हो गई। पहले इसका प्रचार मेरठ तथा दिल्ली में हुआ और फिर जैसे-जैसे मुसलमान लोग भारत में आगे बढ़ते गये वैसे ही वैसे इसका भी विस्तार होता गया। अरब फारस तथा तुर्किस्तान से आने वाले मुसलमान सिपाहियों का पहले-पहल मेरठ तथा दिल्ली के लोगों से ही अधिक सम्पर्क स्थापित हुआ। अतः दोनों को जब परस्पर आदान-प्रदान में सुविधा दिखाई दी तो एक ऐसी भाषा का जन्म हुआ जो मुसलमान और यहाँ के लोगों के बीच बात-चीत करने का माध्यम बनी। पहले यह निरी बाजारू बोली थी; परन्तु धीरे-धीरे इसका विकास हुआ और आज वही खड़ी बोली विकसित होकर राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन है।

खड़ी बोली के साहित्य का स्वरूप सर्वप्रथम खुसरो की कविता में मिलता है। खुसरो ने १४ वीं शताब्दी में हिन्दी और अरबी-फारसी शब्दों का प्रचार बढ़ाने के लिए तथा हिन्दू-मुस्लिम जनता में परस्पर भाव-विनिमय में सहायता पहुँचाने के लिए 'खालिक बारी' नामक एक कोश पद्य में लिखा था और उसकी लाखों प्रतियाँ छपवा कर सारे भारत में बँटवाई थीं। खुसरो ने कितनी ही पहेलियाँ और मुकरियाँ भी लिखीं, जिनमें खड़ी बोली का प्राथमिक रूप सुरक्षित मिलता है:—

'खा गया, पी गया, दे गया बुत्ता
ए सखि साजन। ना सखी कुत्ता॥

खुसरो के उपरान्त हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में यद्यपि ब्रजभाषा तथा अवधी इन दो भाषाओं का प्राधान्य रहा है परन्तु खड़ी बोली को अपनाकर रचना करने वाले कवियों का भी अभाव नहीं दिखाई देता। नामदेव कबीर, नानक, दादू आदि संतों ने खड़ी बोली में ही कविता की है तथा रहीम, गंगभट तथा भूषण आदि ने भी खड़ीबोली को कितने ही स्थलों पर अपनाया है। जान पड़ता है कि इस समय मुसलमानों से संबंध रखने वाले कवियों में खड़ी बोली का अधिक प्रचार था तथा शेष कवि अधिकांश रूप में ब्रज तथा अवधी में रचना करते थे। इसी समय महन्त शीतल नाम के एक भक्त कवि हो गये हैं जिन्होंने 'इश्कचमन' नाम की एक पुस्तक चार भागों में लिखी है और खड़ी बोली का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है:—

"हम खूब तरह से जान गये
जैसा आनन्द का कन्द किया।
सब रूप सील गुन तेज पुंज
तेरे ही तन में बन्द किया।"

इनके अलावा शेख, सूदन, ग्वाल कवि नज़ीर रघुनाथ आदि ने भी खड़ी बोली में रचनायें की है। यहाँ तक खड़ी बोली के पद्य का तो प्रचार मिलता है, परन्तु अभी तक गद्य-साहित्य उतना नहीं लिखा गया था। १८ वीं शताब्दी में आकर गद्य का भी प्रादुर्भाव हुआ। वैसे गंगभट्ट ने 'चंद छंद

बन्नन की महिमा' में कुछ अव्यवस्थित खड़ी बोली के गद्य का स्वरूप प्रस्तुत किया था ; परन्तु वि॰ सं॰ १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी तथा सं॰ १८१८ में पं॰ दौलतराम ने क्रमशः 'भाषा योग वाशिष्ट' तथा पद्मपुराण का भाषानुवाद' लिखकर खड़ी बोली के गद्य का सुन्दर रूप उपस्थित किया। इनके उपरान्त मुँशीसदा सुखलाल, ईसाअल्लाखाँ, लल्लूलाल तथा सदल मिश्र का लिखा हुआ खड़ी बोली का गद्य मिलता है इनकी रचनाओं में किसी एक शैली का प्रयोग नहीं मिलता। मुंशीजी यदि संस्कृत के तत्सम शब्दों को प्रधानता देकर गद्य लिखते हैं, तो इंशाअल्लाखाँ मुहावरेदार बोलचाल की भाषा को अपना कर उर्दू व हिन्दी मिश्रित गद्य लिखते हैं। ऐसे ही लल्लूलाल की गद्य में यदि ब्रजभाषा के शब्दों एवम् क्रियाओं की प्रधानता है तो सदल मिश्र में ब्रजभाषा के साथ-साथ पूरबी शब्दों की छुटा भी विद्यमान है। इन लेखकों के अनन्तर कुछ ईसाइयों के बाइबिल के हिन्दी-अनुवाद मिलते हैं, जिनमें खड़ीबोली का शुद्ध रूप अपनाया गया है और संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। साथ ही राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का फारसी शब्द, प्रधान स्वामी दयानंद का संस्कृत के तत्सम शब्द प्रधान तथा राजालक्ष्मणसिंह का विशुद्ध तद्भव शब्द प्रधान खड़ी बोली का गद्य मिलता है।

इस प्रकार अभी तक बोली के रूप की कोई समुचित व्यवस्था नहीं हुई थी। बा॰ हरिश्चन्द्र ने 'हिन्दी भाषा' नामक ग्रंथ लिखकर प्रचलित खड़ी बोली के बारह रूपों की ओर ध्यान दिलाया और मध्यम मार्ग का अनुसरण करके खड़ी बोली के एक ऐसे रूप को बढ़ावा दिया, जिसमें आवश्यकतानुसार तत्सम तथा तद्भव दोनों रूप अपनाये जा सकते थे, और कहीं-कहीं देशज शब्दों को भी स्थान दिया गया था तथा जिसमें बोल-चाल में प्रयुक्त उर्दू फारसी के शब्द भी आ सकते थे। उस गद्य में प्राधान्य संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही था। अयोध्यासिंह उपाध्यायजी के समय तक इस प्रकार प्रमुख रूप से खड़ी बोली के पांच रूप प्रचलित थे :—

(१) संस्कृत के तत्सम-शब्द प्रधान रूप।

(२) संस्कृत के तद्भव और तत्सम शब्दों का मिश्रित रूप।
(३) सरल बोलचाल के शब्दों वाला रूप।
(४) केवल तद्भव शब्द प्रधान रूप।
(५) अंग्रेजी, फारसी शब्दों की प्रधानता वाला रूप।

हरिऔधजी ने इन भाषाओं को क्रमशः उच्च हिन्दी, शुद्ध हिन्दी, बोलचाल की हिन्दी, ठेठ हिन्दी तथा मिश्रित हिन्दी या हिन्दुस्तानी नाम दिये हैं और लगभग सभी रूपों में अपनी रचनायें प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार यदि हरिऔधजी की भाषा का स्वरूप देखें तो पता चलेगा कि आपने ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली के सभी रूपों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। पहले आप ब्रजभाषा में ही रचना किया करते थे ; परन्तु पीछे समय की मांग के अनुसार हिन्दी के सभी रूपों में रचनायें कीं। नीचे हम उनके सभी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

(१) संस्कृत के तत्सम शब्द प्रधान रूप को अपनाकर आपने 'प्रिय-प्रवास' काव्य की रचना की तथा कहीं-कहीं गद्य भी लिखा। जैसे 'अधखिला फूल' के समर्पण' में आपने उच्च हिन्दी के रूप को अपनाया है:—

"बालार्कअरुण राग रंजित प्रफुल्लि पाटल प्रसून, परिमलविकीर्णकारी मंदवाही प्रभात समीरण, अतसी कुसुम दलोपमेय कान्ति नव जलधर पटल, × × × कोकिल कुल कलंकीकृत कंठ समुत्कीर्ण कलनिनाद, अत्यन्त मनोमुग्धकर और हृदयतल स्पर्शी हैं।"

(२) संस्कृत के तद्भव एवम् तत्सम दोनों रूपों से मिश्रित शुद्ध हिन्दी का रूप आपकी सभी भूमिकाओं में विद्यमान् हैं यही रूप आपको अधिक प्रिय है और समस्त गद्य-साहित्य में अधिकांश इसी रूप का व्यवहार किया है:—

"इस दृश्य में भावुक भक्त जनों की रति स्थायी भाव है, क्योंकि रसत्व उसको ही प्राप्त है। भगवान् रामचन्द्र और श्रीमती जानकी आलम्बन-विभाव हैं, क्यों उनकी रति अर्थात् प्रेम के आधार वे ही हैं, और वे ही उसको विभावित करते हैं। तरंगायमान स्वर-लहरियों का प्रसार, भाव-मय

रामायण की चारु चौपाइयों का गान, युगल मूर्तियों का शृंगार आदि उद्दीपन विभाव हैं, क्योंकि वे ही रति के उद्दीप्त करने के कारण हैं।"

(३) सरल बोलचाल के शब्दों की प्रधानता वाले खड़ी बोली के रूप को आपने 'चुभते चौपदे' 'चोखे चौपदे' तथा 'बोलचाल' नामक ग्रंथ में अपनाया है और कहीं-कहीं गद्य भी लिखा है। उदाहरण के लिए 'बोलचाल' की भूमिका का प्रारम्भ अपने इसी रूप में किया है:—

"पाँच साल होते हैं; एक दिन अपने शान्तिनिकेतन में बैठा हुआ मैं कुछ सोच रहा था, अछूते फूल तोड़ना चाहता था, अच्छे बेल-बूटे तराशने में लगा था, किन्तु अपना सा मुंह लेकर रह जाता था, समुद्र में डुबकी बहुत लोग लगाते हैं, परन्तु मोती सबके हाथ नहीं लगता। हलवा खाने के लिए मुंह चाहिए, आकाश के तारे तोड़ना सुलभ नहीं परन्तु उमंगें छलांगें भर रही थीं।

(४) इसके उपरान्त आपका 'ठेठ हिन्दी' का रूप आता है जिसमें केवल तद्भव शब्दों की ही प्रधानता रहती है और जो जन-साधारण की बोली के अधिक निकट है। इस भाषा के अंदर आपने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' तथा 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास लिखे हैं और दोनों ही ठेठ हिन्दी के उत्तम उदाहरण हैं। नीचे 'अधखिला फूल' से एक उदाहरण देते हैं:—

"कहा जाता है कि कविवर बिहारीलाल के अधिकांश दोहे उर्दू अथवा रसी शेरों की बुलन्द परवाज़ियों को नीचा दिखाने के लिये ही लिखे ये हैं। यह सत्य भी हो सकता है, क्योंकि उनकी नाज़ुक खयाली, बन्दिश, हावरों की चुस्ती और कलाम की सफ़ाई बड़े बड़े उर्दू शोअरा के कान बड़े कर देती हैं।

जिस प्रकार गद्य के पाँच रूप हमने ऊपर दिखाये हैं, उसी प्रकार आपने पद्य-साहित्य में भी खड़ी बोली के विभिन्न रूप अपनाये हैं। मुख्यतया आपने तीन रूपों में खड़ी बोली का पद्य लिखा है :—

(१) संस्कृत की समास-पद्धति युक्त तत्सम शब्द प्रधान रूप में,

(२) तद्भव शब्द युक्त बोलचाल के रूप में, और

(३) विशुद्ध खड़ी बोली के साहित्यिक रूप में।

खड़ी बोली के प्रथम रूप को आपने 'प्रियप्रवास' में अपनाया है और जब इसकी पर्याप्त आलोचना हुई तब आपने सरल, सुबोध खड़ी बोली के लोक-प्रचलित रूप में कविता में लिखीं। संस्कृत की समास पद्धति युक्त रचना का उदाहरण 'प्रियप्रवास' का चतुर्थ सर्ग है। उसमें श्रीराधा का चित्रण आपने इसी क्लिष्टतम शैली में किया है :—

"रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली।
शोभा वारिधि की अमूल्य मणिसी लावण्य लीला मयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य्य सन्मूर्ति थीं॥

दूसरे, तद्भवशब्द प्रधान बोलचाल के मुहावरे युक्त खड़ी बोली के रूपकों को आपने 'चोखे-चौपदे', 'चुभते चौपदे' तथा 'बोलचाल' में अपनाया है। ये तीनों रचनायें उर्दू भाषा की नाज़ुक खयाली, बन्दिश तथा मुहावरों की चुस्ती हिन्दी भाषा में दिखाने के लिए लिखी गई हैं। यह हम पहले ही बता चुके हैं कि तीनों रचनाओं को प्रस्तुत करने का ध्येय हिन्दी में भी एकमात्र उर्दू की सी मस्ती, चुलबुलाहट, प्रभाव डालने की शक्ति तथा मुहावरेदानी उपस्थित करना था। यही कारण है कि खड़ी बोली हिन्दी को

अन्य भाषाओं के समान समादृत करने के लिये आपने बोलचाल की भाषा में मुहावरेदार रचनायें कीं। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है, जिससे आपके सरल बोलचाल की हिन्दी के स्वरूप का स्पष्टीकरण हो जायगा:—

जो कलेवा काल का है बन रहा।
वह बने खिलती कली का भौंर क्यों ?
मौर सिर पर रख बनी का बन बना।
बेहयाओं का बने सिर मौर क्यों ?

तीसरा, खड़ी बोली का सर्वजन गृहीत विशुद्ध साहित्यिक रूपों, जिसमें मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, पंत, निराला प्रभृति आधुनिक कवि अपनी कवितायें लिखते हैं। हरिऔधजी ने प्रथम तो 'प्रियप्रवास' में ही इसका प्रयोग किया है, परन्तु आपने दूसरे 'वैदेही वनवास' नामक महाकाव्य में तो पूर्णरूप से इसी साहित्यिक खड़ी बोली का प्रयोग किया है। आज भावाभिव्यक्ति में यही शुद्ध खड़ी बोली गद्य एवम् पद्य की समस्त विधाओं में प्रयुक्त होती है, और इसे सुमधुर एवं व्यंजना प्रधान बनाने में हरिऔधजी ने भी पर्याप्त परिश्रम किया है। 'प्रियप्रवास' में ही इस साहित्यिक खड़ी बोली का रूप अत्यंत मधुर एवं चित्ताकर्षक मिल जाता है। उदाहरण के लिए विरहविकल श्री राधा का पवन से संदेश-कथन देखिए, जिसमें हृदय की कोमल भावनाओं के साथ-साथ कितनी सरसता विद्यमान है:—

'जो चित्रों में विरह विधुरा-वाम का चित्र होवे।
तो तू जा के निकट उसको भाव से यों हिलाना।
प्यारे हो चकित जिससे चित्र की ओर देखें।
आशा है यों सुरति उनको हो सकेगी हमारी॥"

× × × × ×

बैठे नीचे जिस विटप के श्याम हों तू उसी का।
कोई पत्ता निकट उनके नेत्र के ले हिलाना"
यों प्यारे को विदित करना चातुरी से दिखाना।
मेरे चिन्ता-विजित-चित का क्लान्त हो कांप जाना॥"

इस प्रकार हरिऔधजी ने समय की प्रगति को पहचानकर सर्वप्रथम खड़ी बोली के महाकाव्य का निर्माण किया और खड़ी बोली के समस्त रूपों का प्रयोग करते हुए सिद्ध किया कि खड़ी बोली के अन्य रूपों की अपेक्षा उसका तत्सम शब्द प्रधान लोक प्रचलित रूप ही साहित्य के लिए ठीक है। 'बोल चाल' की भूमिका में आपने पहले यह स्वीकार किया था कि कविता की भाषा सदैव लोक-प्रचलित बोलचाल की ही भाषा होनी चाहिए, परन्तु आपके अन्तिम 'कविता-संग्रह' को पढ़ने पर पता चलता है कि आपने समय के अनुसार प्रगति की और अंत में खड़ी बोली के तत्सम शब्द प्रधान रूप को ही काव्य एवं समालोचनाओं के लिए उपयुक्त समझा। आपकी कविताओं का अन्तिम संग्रह 'मर्म-स्पर्श' के नाम से निकला है, जिसकी कविताओं के पढ़ने पर आपकी समयानुसार भाषा सम्बन्धी प्रगति का पूरा-पूरा परिचय मिलता है। अंतिम समय में छायावाद, रहस्यवाद का बड़ा जोर था। इसके प्रभाव से आप भी अछूते न रहे और आपने भी छायावाद शैली में कितनी ही कवितायें रचीं, जिनमें प्रगीत-मुक्तक शैली के साथ-साथ भावाभिव्यंजना में लाक्षणिकता एवम् प्रतीकात्मकता विद्यमान है। उदाहरण के लिये 'निर्मम संसार' कविता को देखिए जिसमें लाक्षणिकता एवम् प्रतीकात्मकता कितनी भरी हुई है :—

"वायु के लिए मिस भर-भर कर आह
ओसमिस बहा नयन-जलधार।
इधर रोती रहती है रात,
छिन गये मणि-मुक्ता के हार।
उधर रवि आ पसार कर कान्त,
उषा का करता है शृंगार।
प्रकृति है अतिशय करुणाहीन,
बड़ा निर्मम है यह संसार॥"

इतना ही नहीं चित्रोपमता तो अंत में इतनी अधिक मिलती है कि हरिऔधजी थोड़े से शब्दों में बड़े-बड़े चित्र अंकित कर देते हैं। इसी 'मर्म

आज सर्वत्र दिखाई देता है। आपकी ही प्रखर प्रतिभा का यह फल था कि उर्दू जैसी जन-जन में व्याप्त भाषा के सम्मुख कवि-सम्मेलनों अथवा मुशायरों में हिन्दी भी स्थान पा सकी और आपकी ही बुद्धि का यह वैभव था कि खड़ीबोली में महाकाव्य लिखने की परम्परा स्थापित हुई। आपने खड़ीबोली के क्षेत्र में निस्संदेह एक अग्रदूत की तरह कार्य किया है और उसके भंडार को हर प्रकार की सामग्री से परिपूर्ण किया है। आज खड़ी-बोली का साहित्य हरिऔधजी के कारण ही अपनी सम्पन्नता का डंका अन्य भाषाओं के सम्मुख बजा सकता है। मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध साहित्यिक काव्य विनोद श्रीराम लोचन प्रसाद पण्डेय ने अपने अगस्त सन् १६१५ के 'स्वदेश बाधक' के अंक में ठीक ही लिखा है कि "गद्य लिखने में—नयी शैली की हिन्दी लिखने में 'हरिऔध' जी ही हिन्दी संसार में अद्वितीय हैं। हिन्दी भाषा पर ऐसा अपूर्व अधिकार रखने वाले एक प्रसिद्ध विद्वान् ग्रन्थकार का महोच्च कवि की प्रतिभा-शक्ति से सम्पन्न होना हिन्दी-संसार के लिए गौरव का विषय है।" इतना ही नहीं इनकी प्रखर-प्रतिभा एवं प्रकांड पांडित्य को देखकर निरालाजी ने तो इन्हें सार्वभौम कवि बत-लाया है तथा सहृदयता और कवित्त्व के विचार से भी इन्हें अग्रगण्य माना है तथा पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने तो इनकी विद्वत्ता का पूर्ण रूप से लोहा मानकर स्पष्ट लिखा है कि "आप खड़ीबोली के सर्वोच्च प्रतिनिधि, कवि सम्राट्, मर्मज्ञ, टेठ हिन्दी के अनुकरणीय लेखक तथा बोलचाल की भाषा के विशेषज्ञ माने जाते हैं। आप सरल और क्लिष्ट दोनों प्रकार की साहित्यिक भाषा के सिद्ध-हस्त लेखक एवं कवि हैं। खड़ीबोली के विविध रूपों तथा उसकी शैलियों पर आपका पूरा अधिकार है; मुहावरों तथा लोकोक्तियों के प्रयोग में आप पूर्ण पटु पंडित हैं।" इस तरह भिन्न-भिन्न विद्वानों की राय से भी यही ज्ञात होता है कि हरिऔधजी ने खड़ीबोली को हर तरह से पल्लवित, पुष्पित एवं फलवान बनाकर उसके साहित्य को वट-वृक्ष की तरह अत्यंत व्यापक एवं शीतल छाया प्रदान करने वाला बाना बना दिया है।

इस आदर को प्राप्त करने का श्रेय यहाँ के त्याग तपोमय जीवन को है। यहाँ के कवि, यहाँ के दार्शनिक तथा यहाँ के राजनीतिज्ञों में त्याग एवम् तपस्या का ऐसा भव्य रूप देखने को मिलता है कि उसे देखकर आज भी विश्व के अन्य देशों के लोग दाँतों तले उँगली दवाते हैं और उनकी प्रशंसा करते हुए नहीं थकते। भारत की इसी अलौकिक एवम् तपोमणी भूमि को पं० अयोध्यासिंहजी ने अपनी जन्मभूमि बनाने का सौभाग्य प्राप्त किया, और बाल्यकाल से ही अपनी सरस वाग्धारा प्रवाहित करके इसे सरसता एवम् शीतलता प्रदान की। विदेशी शासन से संतप्त भारत भूमि को इसकी आवश्यकता भी थी और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही हरिऔधजी ने कवि उपदेशक, उपन्यासकार, आलोचक, अध्यापक आदि अनेक रूपों को ग्रहण करके देश और समाज की सेवा की तथा जन्मभूमि के गौरव को अत्यधिक बढ़ाया।

हरिऔधजी का जीवन अत्यंत त्याग एवम् तपस्या से परिपूर्ण था। वे जाति, समाज एवम् देश के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर चुके थे और देश की उन्नति के लिए साहित्य के माध्यम द्वारा निरन्तर अग्रसर रहते थे। आपके इसी त्याग-तपोमय रूप की झाँकी आपके लघु भ्राता श्री गुरु सेवक उपाध्याय ने इन शब्दों में है—"कोई रचना बिना तपस्या के नहीं हो सकती है। चौआलीस-पैंतालीस वर्ष की बात है, जब मैं आजमगढ़ के मिशन हाईस्कूल में पढ़ता था। रात के दो बजे होंगे, संयोग से मेरी आँखें खुल गईं क्या देखता हूँ कि एक तपस्वी ध्यान लगाये कुछ पढ़ रहे हैं फिर दूसरी रात में देखता हूँ कि बारह-एक बजे कुछ लिख रहे हैं। महीनों नहीं, बरसों उन्होंने नीरव रजनी में मनोयोग का साधन किया और सरस्वती देवी को अपनी अनवरत हार्दिक उपासना के फूल-पत्ती चढ़ाकर नहीं, "स्वकर्मणा तामभ्यच्चर्य" अपना बना लिया।"[1] ऐसी महान तपस्या का ही यह फल है कि वाग्देवता आपके हृदय में विराजमान रहती थी और आपको अलौकिक प्रतिभा प्रदान करके साहित्य की समृद्धि के लिए प्रेरणा दिया करती थी।

(१) हरिऔध अभिनंदन ग्रंथ पृ० ४२५।

हरिऔधजी का परिवार अत्यन्त सदाचार पूर्ण एवम् उन्नत विचारों का अनुयायी था। आपकी माता अत्यन्त उदार एवम् भक्त थीं। आपके पितृव्य पं० ब्रह्मसिंह अत्यन्त नीति कुशल एवम् धार्मिक थे। आपके पितृवर पं० भोलासिंह त्यागी, तपस्वी एवम् स्नेह पूर्ण थे। अतः परिवार के ऐसे भव्य आदर्शमय जीवन का आपके भावों एवम् विचारों पर अधिक प्रभाव पड़ा और आपकी रचनाओं में सर्वत्र नैतिकता, धार्मिकता, सदाचारशीलता, सेवा, परोपकार, उदारता आदि भावनाओं की ही प्रधानता हो गई। दूसरे, द्विवेदी, युग में नैतिकता की ही प्रधानता थी और स्त्री-सुधार, अछूत, विधवा-विवाह, चरित्र-सुधार आदि की ही चर्चा सर्वत्र सुनाई देती थी। अतः युग की प्रवृत्तियों के अनुकूल आपकी रचनाओं में भी ये सभी विषय अधिक दिखाई देते हैं। उस समय राजनीतिक वातावरण भी बड़ा अस्त व्यस्त था। महात्मा गांधी ने सत्य और अहिंसा तथा सदाचार पर अधिक जोर दिया। हरिऔधजी ने भी इन तीनों भावनाओं को अपना कर अपनी रचनायें प्रस्तुत कीं तथा एक युगद्रष्टा कवि की भाँति साहित्य के प्रत्येक अंग की पूर्ति की।

हरिऔध जी के समय तक खड़ी बोली में स्फुट कवितायें तो बहुत लिखी जा चुकी थीं, परन्तु किसी ने महाकाव्य लिखने का साहस नहीं किया था। प्रियप्रवास का निर्माण करके आपने एक ओर महाकाव्य के अभाव की पूर्ति की तथा दूसरी ओर अतुकान्त संस्कृत वृत्तों में भी सफलता के साथ सरस रचना करके दिखा दिया। ऐसी ही डा० ग्रियर्सन के कथनानुसार हरिऔध के समय तक 'ठेठ हिन्दी' में लिखे हुए गद्य का सर्वथा अभाव था, आपने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' तथा 'अधखिला फूल' नामक दो उपन्यास लिखकर एक ओर ठेठ हिन्दी के गद्यमान की पूर्ति की तथा दूसरी ओर चरित्र-प्रधान सामाजिक उपन्यासों के लिखने का भी श्रीगणेश किया। खड़ी बोली की खड़खड़ाहट के मारे व्रजभाषा की सरस रचनाओं में आनन्द लेनेवाले सहृदय खड़ी बोली की कविताओं को सुनना पसंद नहीं करते थे, हरिऔध ने सरल से सरल और मधुर से मधुर रचनायें प्रस्तुत करके उनकी रुचि

समान कोटि के हैं। तथा दोनों ही प्रथम श्रेणी के महाकवि हैं। परन्तु गुप्त जी का अधिकार पद्य पर ही है और पद्य में भी आपने केवल खड़ी बोली के साहित्यिक रूप को ही एक मात्र अपनाया है। हरिऔध जी की प्रतिभा का विकास गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से देखा जाता है। वे जितनी सफलता के साथ एक महाकाव्य लिख सकते हैं उतनी ही सफलता के साथ एक उपन्यास की भी रचना कर सकते हैं। ऐसी ही जितनी सफलता के साथ मुहावरेदार एवं बोलचाल की भाषा स्फुट काव्य की रचना कर सकते हैं। उतनी ही सफलता के साथ आप उच्चकोटि की आलोचना लिख सकते हैं। इस तरह हरिऔध जी केवल महाकाव्य ही नहीं कुशल उपन्यासकार सफल समालोचक तथा उच्चकोटि के इतिहासकार भी हैं। गुप्त जी ने केवल काव्य भाग को ही अलंकृत किया है और उसी में अपनी कला का चरम विकास दिखलाया है। परन्तु हरिऔध जी ने साहित्य के अनेक अंगों की पूर्ति करके साहित्य के भंडार को विभिन्न विधाओं से भरा है। बोलचाल की रचनाओं में तो आप बेजोड़ हैं। इसके साथ ही खड़ीबोली के एक तत्सम् प्रधान रूप को समृद्ध बनाने में ही गुप्त जी का कार्य स्तुत्य है परन्तु हरिऔध जी ने खड़ी बोली के सभी रूपों को परिष्कृत परिवर्द्धित एवं प्रशस्त किया है। अतः हरिऔध जी का स्थान गुप्त जी से भी अधिक महत्त्व-शाली दिखाई देता है।

गुप्त जी के अतिरिक्त आधुनिक युग के अन्य कवियों में प्रसाद जी से आपकी तुलना की जा सकती है परन्तु प्रसाद जी का आविर्भाव साहित्य क्षेत्र में हरिऔध जी से पीछे हुआ। वैसे प्रसाद जी ने गद्य और पद्य द्वारा हिन्दी साहित्य में नाटक उपन्यास कहानी काव्य महाकाव्य तथा समा-लोचनाएँ एवं निबन्ध लिखकर अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की है। और खड़ी बोली एवं ब्रजभाषा दोनों भाषाओं पर समान अधिकार करके अपनी सरस रचनाओं से पाठकों के हृदयों को रसाप्लावित किया है; परन्तु प्रसाद जी ने १६०६ ई० में सर्व प्रथम उर्वशी (चंपू) लिखकर साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किया तब तक हरिऔध जी अपनी कितनी ही सरस एवं मधुर रचनायें

वाजपेयी ने गुप्त जी की अपेक्षा आपको उच्च स्थान का अधिकारी घोषित किया है। श्री वाजपेयी जी लिखते हैं:—

"हरिश्चन्द्र के बाद हिन्दी के क्षेत्र में जिन दो पुरुषों ने पदार्पण किया है उनके शुभ नाम हैं पं॰ अयोध्यासिंह उपाध्याय और बा॰ मैथिलीशरणजी गुप्त। इन दोनों का कविता काल प्रायः एक ही है, दोनों ने हिन्दी की खड़ी बोली की कविता को अपनाया और सफलतापूर्वक काव्य ग्रन्थों की रचना की। दोनों ही देश भक्त तथा जाति भक्त आत्मायें हैं। पर इतनी समानता होते हुए भी कविता की दृष्टि से उपाध्यायजी का स्थान गुप्तजी से ऊँचा है। ऐसा मेरा विचार है। इतना ही नहीं, मैं तो उपाध्यायजी को वर्तमान युग का सर्वश्रेष्ठ कवि मानता हूँ और उनका स्थान कवित्व की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से भी उत्तम समझता हूँ। मैं उनकी तुलना बंगला के महाकवि मधुसूधन से करता हूँ और सब मिलाकर 'मेघनाद-वध' काव्य से 'प्रिय प्रवास' को कम नहीं मानता। बंगला वाले अपने मन में जो चाहे समझें, पर तुलनात्मक समालोचना की कसौटी में कसकर परखने से पता चलता है कि हमारी हिन्दी-वर्तमान शैली की हिन्दी—में भी कैसे काव्य-ग्रंथ हैं, जिनके मुक़ाबिले बँगला भाषा बड़ी मुश्किल से ठहर सकती है और कहीं-कहीं तो उसको मुँह की खाने तक की नौबत आजाती है। ऐसे काव्य ग्रंथों में प्रिय-प्रवास' का उच्च स्थान है, यह प्रत्येक हिन्दी प्रेमी जानता है।"[1]

इतना ही नहीं, पं॰ सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने तो आपको सार्वभौम कवि कहा है तथा आधुनिक कवियों में आपको अग्रगण्य बतलाया है:—

"खड़ी बोली के उस काल के कवियों में पं॰ अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध की काव्य-साधना विशेष महत्व की ठहराती है। सहृदयता और कवित्व के विचार से भी ये अग्रगण्य हैं। × × × इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये हिन्दी के सार्वभौम कवि हैं। खड़ी बोली, उर्दू के मुहावरे,

(१) महाकवि हरिऔध पृ॰ ६।

परिवर्द्धित और प्रशस्त करने वालों में हरिऔधजी का ही नाम प्रथम लिखा जायगा।"[१]

इसके अलावा श्री रामाश्रयराय एम० ए० की राय यह है कि—हरिऔधजी हिन्दी के सार्वभौम कवि हैं। सरल से सरलतम और क्लिष्ट से क्लिष्टतम काव्य की रचना कर लेना इनके बायें हाथ का खेल है। खड़ी बोली, उर्दू के मुहावरे, ब्रजभाषा इत्यादि सभी में कठिन, सरल सब प्रकार की कविता की रचनायें एक बहुत अच्छे उस्ताद की तरह कर सकते हैं। जिस प्रकार अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि वर्डस्वर्थ ने अंग्रेजी काव्य-जगत में परिवर्तन उपस्थित कर उथल-पुथल मचाने का प्रयत्न किया था इसी प्रकार वर्डस्वर्थ से भी बढ़कर हमारे "हरिऔध" जी ने खड़ी बोली के परिष्कृत रूप में अपने "प्रियप्रवास" नामक भिन्नतुकान्त महाकाव्य की रचना करके हिन्दी-साहित्य-संसार में असाधारण उथल-पुथल मचादी है।"[२]

साथ ही श्रीयुत डाक्टर अनन्तप्रसाद बनर्जी अध्यक्ष संस्कृत-हिन्दी-बँगला-मैथिली-विभाग पटना कालेज की सम्मति यह है कि:—

"हरिऔध ने हिन्दी-साहित्य की सेवा कवि और विश्लेषक एवम् आलोचक की हैसियत से की है। इन दो स्वरूपों में विश्लेषण-मय आलोचना का ढंग ऐसा सरस और सुन्दर है कि वह हिन्दी साहित्य में अपना स्थायी स्थान रख सकता है। काव्य पर उनके भाषाधिकार और अध्यवसाय की गहरी छाप विद्यमान है, पर काव्य-प्रतिभा से विशेष महत्त्वशाली उनकी विवेचना शक्ति है और मेरे विचार से इसमें एक आदर्श है जिसे हिन्दी-साहित्यिकों द्वारा पूरा समादर प्राप्त होना चाहिए।"[३]

इसके अतिरिक्त श्री पांडेय रामावतार शर्मा एम० ए० का मत है कि पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अबतक हिन्दी की जो सची सेवा

(१) हरिऔध अभिनंदन ग्रंथ पृ० ४६७।

(२) वही, पृ० ४४४।

(३) वही, पृ० ४५४।

अनुपम सेवा भावना का पता भली प्रकार चल सकता है। आपकी विद्वता पांडित्य, विवेचना शक्ति, एवं उर्वरकल्पना को देखकर आधुनिक साहित्य क्षेत्र में आपका श्रेष्ठ स्थान दिखाई देता है। आपने अपनी सरस रचनाओं से साहित्य उपवन की प्रत्येक क्यारी को सिंचित किया तथा उसे स्वतन्त्रता के साथ फूलने और फलने के लिये अवसर प्रदान किया। आपकी मौलिकता एवं प्रतिभा अत्यंत उच्चकोटि की है। आप सच्चे और सफल ग्रंथकार हैं। आपकी प्रशंसा देशी और विदेशी सभी विद्वानों ने की है अतः हिन्दी साहित्य में आपका एक विशिष्ठ स्थान है और हिन्दी प्रेमियों के लिए आप अत्यंत समादर के पात्र हैं। आपकी कीर्ति कौमुदी सदैव जगमगाती रहेगी, और आपकी रचनाओं से सरसता और सहृदयता के साथ साथ मानवता का भी सर्वत्र संचार होगा। आपकी इन्हीं विशेषताओं के कारण पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने आपकी ७० वीं वर्ष गाँठ पर लिखा था:—

"अयोध्या सिंह शर्म्माणमुपाध्याय कुलोवद्भम्।
साहित्यज्ञं कविश्रेष्ठं प्रणमामि पुनः पुनः॥"